आदिकाल के अज्ञात
हिन्दी रास काव्य

डॉ० हरीश

मं ग ल प्र का श न
गोविन्द राजियों का रास्ता
जयपुर १

प्रकाशक

मंगल प्रकाशन

गोविन्द राजियों का रास्ता,

जयपुर-१

मूल्य

१५-०० [पन्द्रह रुपए मात्र]

प्रथम संस्करण [पुन संस्कारित] १९७४

मुद्रक

मंगल प्रेस

नाहर गढ़ रोड, जयपुर-१

समर्पण

श्रद्धेय डॉ० माता प्रसाद गुप्त
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
[राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर]
को सादर

हरीश

अपनी बात

यह आदिकाल है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल, जिसे विद्वानों ने अनेक नामों से अभिहित किया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से मुझे इस काल पर शोध करने का अवसर मिला है और 'आदिकाल का हिन्दी जैन साहित्य' विषय पर एक शोधप्रबन्ध प्रस्तुत कर चुका हूँ। मुझे इस काल के साहित्य के सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं कहना है, समय आने पर उससे आदिकालीन साहित्य के अनुसंधित्सु स्नातकों को पर्याप्त संतोष होगा। यहाँ तो केवल अपनी इस प्रस्तुत कृति के सम्बन्ध में थोड़ा सा परिचय मात्र दे रहा हूँ।

आदिकाल की कृतियों में, यूँ तो अनेक प्रसिद्ध काव्य रूप हैं। काव्य रूपों से मेरा तात्पर्य साहित्य की उन प्रसिद्ध विधाओं से है, जिसमें अनेक प्रबन्ध काव्य लिखे गए हैं। ऐसे ही काव्यों में एक अति प्रसिद्ध काव्य रूप है "रास"। हिन्दी साहित्य के इस तथाकथित 'वीर गाथा काल में' इस साहित्य के इतिहासकारों ने अनेक रासों की ओर इंगित किया है। जिन पर कई बार चर्चाएं हुई हैं और उनमें विद्वानों ने कई निर्णय लिए हैं पर कुल मिला कर आद्यावधि यह निष्कर्ष निकला कि तथाकथित वीर गाथा काल में कोई भी ऐसी रचना नहीं है जिनके आधार पर इस काल का नामकरण 'वीर गाथा काल' किया जाय। खैर इस तरह यह चर्चा भी पुरानी हुई हम्मीर रासो, बीसल देव रासो, परमाल रासो तथा पृथ्वीराज रासो, प्रभृति, रास काव्यों की प्रामाणिकता भी संदिग्ध हो गई और अभी भी ये कृतियाँ शोध का विषय बनी हुई हैं। कालान्तर में सम्भव है इनके सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य स्थापित किये जायें। हमें उनकी प्रतीक्षा है। पर तब तक आदिकाल के सम्बन्ध में जो नया साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसमें उपलब्ध रास-काव्यों की क्या स्थिति है, विद्वानों का ध्यान अपने इस नये प्रयास की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ।

इन नये रास काव्यों का संक्षिप्त वर्णन विवरण इस छोटी सी कृति में प्रस्तुत कर रहा हूँ। ये उपलब्ध रास काव्य आदिकाल के हैं। इन रासों ने आदिकाल के साहित्य की प्राचीनतम निधि को सुरक्षित रखा है। इन रास कृतियों के लिये मुक्त-कण्ठ तथा पूर्ण दृढ़ता से इसलिये भी कहना चाहता हूँ कि इनकी प्रामाणिकता, रचना काल और रचनाकारों के सम्बन्ध में विवादास्पद स्थिति बिलकुल नहीं है ये प्रचलित लगभग सभी गत्यविरोधों से मुक्त हैं। इनकी प्रामाणिक मूल हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध है। गुजरात और राजस्थान के अनेक भंडारों में इन रास-कृतियों की प्रतियों का परीक्षण भली प्रकार से किया जाता है। साथ ही इनकी प्रवृत्तियां भी पूर्ण स्पष्ट है। उसकी स्थिति बहुत सुलझी हुई है। इनके लिये कहीं भी सन्देह का स्थान नहीं

दिखाई पड़ता। अतः इन्हें एक दम विश्वसनीय माना जा सकता है। वस्तुतः इन कृतियों के आधार पर इस बात का सम्यक् परीक्षण होना चाहिये।

प्रस्तुत कृति में आए लगभग सभी 'रास काव्य' मेरे विचार से हिन्दी साहित्य के पाठकों के लिये एकदम नवीन तथा अज्ञात से हैं। यह इसलिये भी सत्य है कि इन पर आज तक किसी शोध-स्नातक ने आँख नहीं उठाई। इन में से कई प्रकाशित भी हुए पर उन्हें साम्प्रदायिक समझा गया हो अथवा किसी विद्वान् ने भाषा के कारण इन्हें हिन्दी के क्षेत्र में दूर का समझ लिया हो क्योंकि ये सभी प्राचीन राजस्थानी अथवा जूनी गुजराती के हैं। जो हो ये रासकाव्य इसीलिये अप्रकाशित पड़े रहे। आज जबकि हिन्दी साहित्य अपने प्राचीन गौरव की सुरक्षा के लिए इन कृतियों की ओर देखने लगा है, आज जबकि उसका परिसर इतना विशाल हो रहा है आज जबकि वह उत्तर अपभ्रंश (Post Abhramsa) की लगभग सभी कृतियों को अपनी कह कर सन्तोष की सांस ले रहा है मुझे हिन्दी जगत के सामने इनकी एक ही कृति में एक साथ सामान्य परिचय दे कर रखते हुए पर्याप्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। अब उत्तर अपभ्रंश की कृतियां राजस्थानी अथवा प्राचीन गुजराती की ही नहीं हिन्दी में आदिकाल की मान ली गई है, श्री राहुल सांकृत्यायन, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० माता प्रसाद गुप्त तथा गुजरात के अनेक विद्वानों ने इस ओर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अतः ऐसी स्थिति में इन कृतियों का मूल्यांकन होना चाहिये।

एक प्रश्न और है उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक लग रहा है और वह यह इन कृतियों के अधिकांश लेखक कवि जैनी अथवा जैन धर्मावलम्बी हैं इसलिये इनमें साम्प्रदायिकता अथवा धार्मिकता या उपदेशात्मकता मात्र है। ऐसे सवाल कई बार उठाये गये हैं परन्तु इन सब बातों का निर्णय विद्वान् और सुधी पाठकों के लिये छोड़ रहा हूं 'बहु कि कीजो सारन्हि छोर मिचु बिलगाय' इस तरह के दोषारोपण तो साहित्य की अनेकों कृतियों पर किए जा सकते हैं। इसके सच्चे आलोचक तो वे हैं जो सुनी सुनाई बातों पर विश्वास न कर इनके रूपस्वरूप के अन्तराल में प्रविष्ट होकर इसका नीर क्षीर विवेक करेंगे। मेरे विचार से धर्म और उपदेश इनमें केवल मात्र प्रेरणा के रूप में हैं। वस्तुतः ये रचनाएं साहित्यिक महत्व लिए हैं अन्यथा इस महान्विचार की कोई स्थिति ही सामने नहीं आ पाती।

"आदिकाल के अज्ञात हिन्दी रास काव्य" में मैं कुछ ही प्रसिद्ध रास कृतियों का विवरण प्रस्तुत कर रहा हूं यों तो इन काव्यों पर और भी विस्तार से विचार *किया जा सकता है। अनेक रचनाएं इसलिये छोड़ भी दी गई हैं। सामान्यतः* इनसे एक सहज परिचय हिन्दी साहित्य के विद्वानों छात्रों, पाठकों तथा शोध प्रेमी मित्रों को हो इस दृष्टि उद्देश्य से इनको सामने ला रहा हूं। इनमें कई रास ऐतिहासिक कई पौराणिक कथाओं पर आधारित तथा कई कवियों के जीवन गत सत्यों पर। आलोचना के साथ ही इन कृतियों में से तीन रास काव्यों भरतेश्वर बाहुबली रास, पञ्च पाण्डव चरित रास तथा कुमार पाल रास का पाठ जैसा भी जिस रूप

में उपलब्ध हैं साथ मे दे रहा हू ताकि तत्कालीन अन्य लौकिक रचनाओं के साथ इनकी भी गणना हो सके। इन काव्यों की आलोचना का अधिकांश भाग मेरे शोध ग्रन्थ में संगृहीत है। केवल कुछ कृतियों का विवरण तथा रासों का पाठ इसमें और जोड़ कर प्रस्तुत कर रहा हू। इन कृतियों के ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक सभी पहलुओं पर मैंने यथा-सम्भव प्रकाश डालने का प्रयास किया है, फिर भी कई महत्वपूर्ण तथ्यों पर शायद चिन्तन नहीं हो सका हो, उनके लिये पाठकों के सुझावों का विनम्रता से सदैव स्वागत करूंगा।

रास काव्यों के ये पाठ मुझे प्रकाशित तथा कठिनाई से उपलब्ध होने वाली कृतियों से मिले हैं। सभी रचनाओं का पाठ इस छोटी सी कृति मे देना सम्भव भी नहीं था। यों इन पाठों मे पाठविज्ञान के जिज्ञासु स्नातकों के लिये पर्याप्त सामग्री है ऐसा मेरा विश्वास है। इनका पुनर्निर्माण भी एक बहुत बडी आवश्यकता है। आशा है, वे इस ओर प्रेरित हो कर ऐसी अनेकों अप्रसिद्ध, अज्ञात तथा भंडारों मे दबी पडी आदि कालीन कृतियों के पाठोद्धार कार्य को वैज्ञानिक रूप से सम्पादित कर प्रकाशित कराने में रुचि लेंगे।

इन कृतियों को पुस्तक रूप देने का सारा श्रेय भाई उमराव सिंह मगल को है जिन्होंने अथक परिश्रम से इसका प्रकाशन किया है इस के लिये उनका अनुग्रहीत हू। श्रद्धेय गुरुवर डॉ० माताप्रसाद गुप्त इसके मूल मे रहे हैं। विद्वद्वर श्री अगरचन्द नाहटा की कृपा से इन में से अनेक कृतियों तथा उनके पाठ उपलब्ध हुए हैं। 'भरतेश्वर बाहुबली रास' तथा 'कुमार पाल रास का पाठ उन्हीं के सौजन्य से उपलब्ध हुआ तथा श्री डा० भोगीलाल साडेसरा डायरेक्टर, ओरिएन्टिल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बडौदा मे 'पंच पाण्डव चरित्र रास' का पाठ प्रकाशित-करने की अनुमति दे कर उत्साह बढाया है, इस के लिये मैं इन दोनों विद्वानों का हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हू। रासो की आलोचना के लिये जिन राजस्थानी तथा गुजराती विद्वानों की कृतियों से जो सहायता मिली है उसके लिये उनका हार्दिक धन्यवाद करता हू। साथ ही साथ अपने स्नेही मित्र प्रो० हरिराम आचार्य श्री मगल तथा प्रो० एच एल भारद्वाज का आभारी हू जिन्होंने इस कृति के प्रूफ देखे हैं, प्रिय चन्द्र प्रकाश तिवारी, करुणा एम० ए०, प्रकाश वाजपेयी तथा शील सचेती सभी की आत्मीयता ने इस कार्य में प्रेरणा दी, और यह प्रयास सामने आ सका। यों तो सारा ही श्रेय 'मगल प्रकाशन' को है। यदि हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे ये रास काव्य कुछ श्री वृद्धि कर सके और सुधी पाठकों को परितोष दे सकें, तो प्रयास को प्रेरणा उपलब्ध होगी।

४ लक्ष्मी राम का बाग,
मोती डूगरी रोड, जयपुर

'हरीश

दिखाई पड़ता। अतः इन्हें एक दम विश्वसनीय माना जा सकता है। वस्तुतः इन कृतियों के आधार पर इस प्रश्न का सम्यक् परीक्षण होना चाहिये।

प्रस्तुत कृति में आए लगभग सभी 'रास काव्य' मेरे विचार में हिन्दी साहित्य के पाठकों के लिये एकदम नवीन तथा अज्ञात से हैं। यह इसलिये भी सत्य है कि इन पर आज तक किसी शोध-स्नातक ने आँख नहीं उठाई। इन में से कई प्रकाशित भी हुए पर उन्हें साम्प्रदायिक समझा गया हो अथवा किसी विद्वान् ने भाषा के कारण इन्हें हिन्दी के क्षेत्र में दूर का समझ लिया हो क्योंकि ये सभी प्राचीन राजस्थानी अथवा जूनी गुजराती के हैं। जो हो ये रासकाव्य इसलिये अपरिचित पड़े रहे। आज जबकि हिन्दी साहित्य अपने प्राचीन गौरव की सुरक्षा के लिए इन कृतियों की ओर देखने लगा है, आज जबकि उसका परिसर इतना विशाल हो रहा है, आज जबकि वह उत्तर अपभ्रंश (Post Abhramsa) की लगभग सभी कृतियों को अपनी कह कर सन्तोष की साँस ले रहा है मुझे हिन्दी जगत के सामने इनका एक ही कृति में एक साथ सामान्य परिचय दे कर रखते हुए पर्याप्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। अब उत्तर अपभ्रंश की कृतियाँ राजस्थानी अथवा प्राचीन गुजराती की ही नहीं हिन्दी के आदि काल की मान ली गई हैं श्री राहुल सांकृत्यायन, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० माता प्रसाद गुप्त तथा गुजरात के अनेक विद्वानों ने इस ओर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अतः ऐसी स्थिति में इन कृतियों का मूल्यांकन होना चाहिये।

एक प्रश्न और है उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक लग रहा है और वह यह इन कृतियों के अधिकांश लेखक कवि जैनी अथवा जैन धर्मावलम्बी हैं इसलिये इनमें साम्प्रदायिकता अथवा धार्मिकता या उपदेशात्मकता मात्र है। ऐसे सवाल कई बार उठाये गये हैं परन्तु इन सब बातों का निर्णय विद्वान् और सुधी पाठकों के लिए छोड़ रहा हूं क्योंकि कौंजी सीकरन्हि और सिन्धु बिलगाय इस तरह के आरोपण तो साहित्य की अनेक कृतियों पर किए जा सकते हैं। इनके सच्चे आलोचक तो वे हैं जो सुनी सुनाई बातों पर विश्वास न कर इनके स्वरूप के अन्तराल में प्रविष्ट होकर इसका सार क्षीर विवेक करेंगे। मेरे विचार से धर्म और उपदेश इनमें केवल मात्र प्रेरणा के रूप में हैं। वस्तुतः ये रचनाएँ साहित्यिक मङ्गल लिए हैं अन्यथा इस महान्तिकाल की भाई स्थिति ही सामने नहीं आ पाती।

'आदिकाल के अज्ञात हिन्दी रास काव्य' में मैं कुछ ही प्रसिद्ध रास कृतियों का विवेचन प्रस्तुत कर रहा हूं या तो इन काव्यों पर और भी विस्तार से विचार किया जा सकता है। अनेक रचनाएं इसलिए छोड़ भी दी गई हैं। सामान्यतः इनमें एक सहज परिचय हिन्दी साहित्य के विद्वानों द्वारा, पाठकों तथा शोध प्रेमी मित्रों को हो बस इसी उद्देश्य से इनको सामने ला रहा हूं। इनमें कई रास ऐतिहासिक कई पौराणिक कथाओं पर आधारित तथा कई कवियों के जीवन गत सत्यों पर। आलोचना के साथ ही इन कृतियों में से तीन रास काव्यों भरतेश्वर बाहुबली रास, पञ्च पाण्डव चरित रास तथा कुमार पाल रास का पाठ जैसा भी जिस रूप

में उपलब्ध हैं साथ मे दे रहा हू ताकि तत्कालीन अन्य लौकिक रचनाओं के साथ इनकी भी गणना हो सके। इन काव्यों की आलोचना का अधिकांश भाग मेरे शोध ग्रन्थ मे संगृहीत है। केवल कुछ कृतियों का विवरण तथा रासो का पाठ इसमे और जोड कर प्रस्तुत कर रहा हू। इन कृतियो के एतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक सभी पहलुओं पर मैंने यथा-सम्भव प्रकाश डालने का प्रयास किया है, फिर भी कई महत्वपूर्ण तथ्यों पर शायद चिन्तन नही हो सका हो, उनके लिये पाठकों के सुझावों का विनम्रता से सदैव स्वागत करूगा।

रास काव्यो के ये पाठ मुझे प्रकाशित तथा कठिनाई से उपलब्ध होने वाली कृतियो से मिले है। सभी रचनाओं का पाठ इस छोटी सी कृति मे देना सम्भव भी नही था। या इन पाठो मे पाठविज्ञान के जिज्ञासु स्नातकों के लिये पर्याप्त सामग्री है ऐसा मेरा विश्वास है। इनका पुनर्निर्माण भी एक बहुत बडी आवश्यकता है। आशा है, वे इस ओर प्रेरित हो कर ऐसी अनेकों अप्रसिद्ध, अज्ञात तथा भडारो मे दबी पडी आदि कालीन कृतियों के पाठोद्धार कार्य को वैज्ञानिक रूप से सम्पादित कर प्रकाशित कराने मे रुचि लेगें।

इन कृतियो को पुस्तक रूप देने का सारा श्रेय भाई उमराव सिंह मगल को है जिन्होने अथक परिश्रम से इसका प्रकाशन किया है इस के लिये उनका अनुग्रहीत हू। श्रद्धेय गुरुवर डॉ० माताप्रसाद गुप्त इसके मूल मे रहे हैं। विद्वद्वर श्री अगरचन्द नाहटा की कृपा से इन में से अनेक कृतियों तथा उनके पाठ उपलब्ध हुए हैं। 'भरतेश्वर बाहुबली रास' तथा 'कुमार पाल रास' का पाठ उन्ही के सौजन्य से उपलब्ध हुआ तथा श्री डा० भोगीलाल साडेसरा डायरेक्टर, ओरिएन्टिल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बडौदा, मे 'पच पाण्डव चरित्र रास' का पाठ प्रकाशित करने की अनुमति दे कर उत्साह बढाया है, इस के लिये मैं इन दोनो विद्वानो का हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हू। रासो की आलोचना के लिये जिन राजस्थानी तथा गुजराती विद्वानो की कृतियों से जो सहायता मिली है उसके लिये उनका हार्दिक धन्यवाद करता हू। साथ ही साथ अपने स्नेही मित्र प्रो० हरिराम आचार्य श्री मगल तथा प्रो० एच एल भारद्वाज का आभारी हू जिन्होने इस कृति के प्रूफ देखे हैं, प्रिय चन्द्र प्रकाश तिवारी, करूणा एम० ए०, प्रकाश वाजपेयी तथा शील सचेती सभी की आत्मीयता ने इस कार्य मे प्रेरणा दी, और यह प्रयास सामने आ सका। यो तो सारा ही श्रेय 'मगल प्रकाशन' का है। यदि हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे ये रास काव्य कुछ श्री वृद्धि कर सके और सुधी पाठकों को परितोष दे सकें, तो प्रयास को प्रेरणा उपलब्ध होगी।

४ लक्ष्मी राम का बाग
मोती डूगरी रोड, जयपुर

'हरीश'

अनुक्रम

विषयप्रवेश

आदिकाल —

हिन्दी साहित्य का आदिकाल विभिन्न काव्य रूपों के उद्भव और विकास से सम्बद्ध है। काव्य रूपों की विभिन्नता इस साहित्य की मौलिकता है। यों तो अपभ्रंश साहित्य में अधिकांश काव्य रूपों की शृंखला के बीज विद्यमान हैं, पर उत्तर अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के इस साहित्य ने काव्यरूपों के इतिहास में नवीन क्रांति उपस्थित की है। इस तरह एक ओर आदिकाल में जहां विभिन्न प्रकार की काव्य प्रवृत्तियों का समुचित विकास और पूर्ववर्ती साहित्यिक विधाओं की परम्परा का निर्वाह मिलता है, दूसरी ओर काव्य के विभिन्न रूपों में असाधारण विविधता के दर्शन होते हैं। अद्यावधि विद्वानों एवं आलोचकों ने काव्य रूपों को खण्ड-काव्य, महा-काव्य और प्रबन्ध-काव्य आदि का रूप देकर ही उनका अध्ययन किया है परन्तु आदिकालीन उपलब्ध साहित्य ने काव्य रूपों की दृष्टि से नये मोड़ प्रस्तुत किये हैं। ये काव्य रूप छन्द प्रधान भी हैं और विषय प्रधान भी। यद्यपि ये काव्य खण्ड-काव्य, कथा-काव्य, एकार्थ-काव्य और प्रबंध काव्यों आदि के अंतर्गत वर्गीकृत हो जाते हैं, पर विशुद्ध रूप में शैली और शिल्प की दृष्टि से इनका पूर्व कृत वर्गीकरण बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता। अस्तु—काव्य रूपों पर नये रूप में विचार किया जा रहा है। वस्तुतः आदिकालीन साहित्य में जिस विशाल संख्या में काव्य रूप मिलते हैं वह अपने आप में आदिकाली की एक बहुत ही बड़ी उपलब्धि है। इस काल में शताधिक से अधिक काव्य रूप उपलब्ध हुए हैं।[1] जिन पर विस्तार से अन्यत्र विचार विश्लेषण हुआ है यहाँ उन विशिष्ट काव्य रूपों में से केवल मात्र 'रास" पर ही विचार किया जा रहा है। यों तो शैली की दृष्टि से रास संज्ञक रचनाओं को खंड-काव्य, प्रबंध काव्य आदि के अंतर्गत रखकर उनका मूल्यांकन प्रस्तुत किया जा सकता है परन्तु ऐसा करना बहुत संगत नहीं प्रतीत होता, वस्तुतः काव्य रूपों के अंतर्गत आने वाले जो अनेक रूप या विधाएं हैं, उनमें प्रत्येक पर स्वतंत्र रूप से अध्ययन अपेक्षित है। रास, फागु, चरित, चउपई, प्रबंध, पवाडे, विवाहलो-वेलि,

१– देखिए लेखक का शोध प्रबन्ध 'आदिकाल का हिन्दी जैन साहित्य' अप्रकाशित (इलाहाबाद यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में संग्रहीत)।

चर्चरी आदि अनेक नाम उपलब्ध होते जा सकते हैं जिनका विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ हम क्रम से रास काव्य रूप को ले रहे हैं।

'रास' के स्थिति पर विचार करने से पूर्व इसकी पूर्व प्रचलित परम्परा का क्रमिक अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है। जो इस प्रकार है।

रास परम्परा —

रास परम्परा अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। इस परम्परा की अनेक अनेक सामग्री रास सम्बन्धी रचनाएँ कई रूपों में विभिन्न रूप में प्राप्त हुई हैं। रास परम्परा का अध्ययन करने के लिए इसे तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है —

१ संस्कृत काल या प्रारम्भिक काल। २ अपभ्रंश काल। [illegible] अपभ्रंशोत्तर काल।

इन तीनों कालों में रास के मान रूपों में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं तथा इसी परम्परा में रास, रासक, रासो और रासा आदि कई शब्दों का निर्माण हुआ है। रास साहित्य के इस विकास का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व रोचक प्रतीत होता है। भारतीय साहित्य में जहाँ तक रास शब्द की उत्पत्ति का प्रश्न है यह बहुत ही प्राचीन लगता है। संस्कृत काल में रास शब्द का परिचय पुराण साहित्य में ही [illegible] होने लगता है। रास परम्परा के इन तीनों कालों की दृष्टि में रखते हुए रास के तत्कालीन स्वरूप, विद्वानों द्वारा की गई अनेक विभिन्न परिभाषाओं तथा रास के उत्तरोत्तर बदलते हुए मान रूपों का अध्ययन करने में संस्कृत के विभिन्न ग्रंथों व अन्य बाह्य स्रोतों से बड़ी सहायता मिलती है।

संस्कृत साहित्य में रास की स्थिति —

संस्कृत साहित्य में रास की स्थिति का अध्ययन अपेक्षित है। वस्तुतः सर्व प्रथम भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में रास शब्द का उल्लेख किया है। रास का सम्बन्ध क्रीड़ा नृत्य से स्थापित करते हुए उन्होंने इसे 'रासनायक' कहा है।[1]

भास के बालचरित नाटक में भी रास के समानार्थी शब्द हल्लीसक का प्रयोग मिलता है जिसमें गोप-गोपिकाओं का साथ-साथ नृत्य करने का उल्लेख है।[2]

१—नाट्य शास्त्र प्रथम अध्याय क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्

२—उद्धृत-भासनाटक चक्रम भाग [illegible] । पृ० [illegible] ८० की मध्यगत-दामक,

दामोदर आदि का यह संवाद—

दामक —आम भट्टा एतत् [illegible] आगच्छन्ति ।

दामोदर —गोप सुन्दरि । वनमाल । चन्द्र रेखे । मृगाक्षि । घोष

वास स्थानानुरूपो य हल्लीसक नृत्तबन्ध उपयुज्यताम् ।

"हरिवंश पुराण"[१] और विष्णु पुराण[२] में भी "रास" शब्द की ओर कुछ संकेत मिल जाता है। धनंजय ने अपने दशरूपक में रास पर प्रकाश डाला है।

महाराज भोज के सरस्वती कण्ठाभरण और शृंगार प्रकाश में भी रास संज्ञा का उल्लेख मिलता है।

इस उक्त विवेचन में हल्लीसक शब्द विशेष द्रष्टव्य है। हल्लीसक शब्द के साथ भास के नाटक और पुराण साहित्य में गोप गोपिकाओं का साथ होना और क्रीड़ा करना तो स्पष्ट होता है पर अन्य संगीतात्मकता अथवा उसके अन्य किसी शिल्प जन्य वशिष्ट्य का उल्लेख नहीं मिलता। अतः यह लगता है कि इन ग्रन्थकारों के समय रास क्रिया शारीरिक अवयवों से सम्बन्धित जन-नृत्य या क्रीड़ा मात्र थी। वस्तुतः उस समय रास का सीधा सम्बन्ध पुरातन नृत्य मात्र से रहा होगा। सम्भावना है कि आदिम नृत्य भी इसी रास का एक रूप रहा होगा। यह भी सम्भावना है कि संगीत के तत्कालीन शास्त्रीय नियमों के विधान का अभाव ही इसका मूल कारण रहा हो। जो भी हो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उस काल में यह जन-नृत्य या वन्य-नृत्य अथवा लोक-नृत्य विशेष के रूप में प्रचलित रहा होगा। एक आलोचक ने इसी सम्भावना पर रास शब्द का अर्थ जोर से चिल्लाना स्पष्ट कर उसे जंगली या आदिम पुरुषों का शारीरिक क्रिया या वन्य-नृत्य बताया है।[३]

१—देखिये—हरिवंश पुराण विष्णु पर्व, अध्याय २०, के ये उद्धरण—

(क) एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलंकृत।

(ख) चक्रवाले ? मण्डले ? हल्लीसक क्रीडनम् एकस्य पुंसो बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रास क्रीडा।

इस विवेचन में विद्वान टीकाकार ने "चक्रवाल" शब्द का अर्थ सम्भवतः 'रास' किया है।

२—विष्णु पुराण, (गीता प्रेस) ५।१३।४७-५० के ये उद्धरण।

(क) रराम रासगोष्ठीभिरुदार चरितो हरिः।

(ख) हस्तेन गृह्य चैकैका गोपिना रासमण्डनम्।

३—देखिये टाइम्स आफ संस्कृत ड्रामा पृ० १८१-८४ में श्री कनकड का यह उक्ति 'It is not to be derived from रस but from रास a root which means to cry alone, which may referm to be very primitive form of this dance when the proportion of music & artistic movements may not have been still realistic and when it must have been practised as wild dance'

हल्लीसक शब्द की व्याख्या व व्युत्पत्ति अनेक संस्कृत के विद्वानों ने की है। रास में गीत, नृत्य, क्रीड़ा व संगीत का समन्वय मिलने वाले अनेक विद्वानों ने रास के शिल्प का विवेचन किया है जिससे रास के उत्तरोत्तर परिवर्तित होने वाले रूप का पर्यवेक्षण किया जा सकता है। वस्तुतः यह हल्लीसक शब्द विभिन्न विद्वानों के द्वारा भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है जिसमें 'रास' में अनेक समान तत्वों का समावेश पाता है उनका संक्षेप में विवेचन इस प्रकार है।

बाणभट्ट ने अपने समय तक 'रास' में नृत्य की आयोजना पाना बताया है। इस तरह के विशिष्ट नृत्य के आयोजना के प्रमाण 'हर्ष चरित'[1] में अनेक मिल जाते हैं। रास के इस सन्दर्भ को 'हरिवंश पुराण' के टीकाकार ने जिस प्रकार 'चक्रवाल' की संज्ञा दी है उसी प्रकार बाणभट्ट ने 'रासक मण्डल' के लिए 'आवर्त'[2] शब्द का व्यवहार चुना है। इस प्रकार इन व्याख्याओं से स्पष्ट होता है कि बाण के समय में 'रास नृत्य' जन साधारण में प्रचलित हो गया था। अतः बाणभट्ट ने इसे एक 'उत्सव-विलास' कहा है।

काम के सूत्र प्रणेता वात्स्यायन ने भी हल्लीसक अथवा रासक नृत्य के साथ गान के आयोजन का भी उल्लेख किया है।

भावप्रकाशकार शारदातनय ने रासक में नायिकाओं के रासक के आयोजन में नायिकाओं की संख्या का विधान किया है। उनका कहना है कि पिण्डी बन्ध के साथ नायिकाएँ १६, १२ तथा ८ की संख्या में जो नृत्य करती हैं उसे रास कहते हैं।[4]

अभिनव गुप्त ने 'मण्डल' में जो नृत्य किया जाय उसी को हल्लीसक कहा है।[5] रासक का उदाहरण बताते हुए बाणभट्ट ने लिखा है कि 'दाम्भिका मार्ग प्रस्थान मालिका प्ररूढ़-शिञ्जित रासा क्रीड हल्लीसक श्री गम्भि रासक गोष्ठी प्रवृत्तानि-गमानि'। इन परिभाषाओं से ये तथ्य स्पष्ट होते हैं —

१—सामान्यतः ये स्वतन्त्र रूप हैं।

२—इन रूपों में से रासक भी एक रूप है।

१—हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन—चतुर्थ अध्याय।

२—वहां भवत इव रासक मण्डली। सरासाव इव भूयो भ्रान्ति करोति।

३—हल्लीसक कामसूत्रम्।

४—षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः पिण्डी बन्धादि विन्यासैः रासकं तदुदाहृतम्—भावप्रकाश—शारदातनय।

५—मण्डलेन तु यन्नृत्यं हल्लीसकमिति स्मृतम्।

६—देखिए वाग्भट्ट कृत काव्यानुशासन पृ० १८०।

३–इनमे संगीत तत्व का पूर्ण समावेश है।

४–नृत्य और अभिनय भी इनमे प्रधान हैं।

हल्लीसक के विषय मे एक संकेत यशोधर कृत काम शास्त्र की जयमंगला टीका मे मिल जाता है, वह 'मंडल' मे होने वाले स्त्रियों के उस नृत्य को जिसमे एक नायक होता है, हल्लीसक कहता है और प्रमाण मे वह गोपियों के हरि का उदाहरण देता है।[1] हेमचन्द्र के काव्यानुशासन (पृ० ४४८–४४६) मे हल्लीसक और रासक शब्द का उल्लेख मिल जाता है। उपदेश रसायन रास के टीकाकार ने रासक के शिल्प की सरलता के सम्बन्ध मे बतलाते हुए लिखा है कि चर्चरी और रासक ये प्राकृत प्रबन्ध इतने सहज व सरल हैं कि कोई भी विद्वान् पुरुष इन पर टीका नहीं लिखना चाहता।[2]

श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी तो प्रसिद्ध ही है।[3] अब्दुर रहमान के सन्देश रासक मे रास की जगह रासय या रासउ मिलते हैं जो सम्भवतः रासक का ही अपभ्रंश है। शुभंकर ने गोप क्रीडाओं को ही रास कहा है।[4] और जयदेव तो 'रास हरिह सरस वसंत' तक कह डालते हैं।

एक नया तथ्य उपदेश रसायन रास के टीकाकार ने रास को राग या गीतों की भांति गाया जाने वाला कहकर भी बताया है। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत भाषाओं मे रची गई चर्चरी और रासक संज्ञक प्रबन्ध पर्याप्त सरल होते थे और वे देश भाषा मे अनेक रागों मे गाये जा सकते थे। टीकाकार ने उसमे अनेक छन्दों का होना भी बताया है।[5] रासक शब्द के लक्षणों का विस्तृत विवेचन वाग्भट्ट ने और स्पष्टता से किया है।[6] जिसके अनुसार ये परिणाम निकाले जा सकते हैं—

१–रासक समूह रचना थी।

२–इसमे अनेक नर्तकिएं होती थीं।

१–मण्डलेन च यत्स्त्रीणां नृत्तं हल्लीशकं तु तत्
नेता तत्र भवेदेको गोप स्त्रीणां यथा हरिः।

२–चर्चरी रासक प्रख्य प्रबन्ध प्राकृत विन,
वृत्ति प्रवृत्ति नाधत्ते प्राय कोऽपि विचक्षणः।

३–श्रीमद्भागवत–दशम स्कन्ध।

४– क्वचिद्मन्दर्दति गोपाना क्रीडारासकमध्यपि

५–अत्र पद्धटिका बन्ध मात्रा षोडश पादगा
प्रथमन्तर्वेषु रागेषु गीयते गीतकोविदैः।

६–अनेक नर्तकी योज्य चित्र ताल लयान्वितम्
आचतु षष्टि युगलाद्रासक मसृणोद्धत वाग्भट्ट, काव्यानुशासन पृ १८०।

३—यह उद्धत नृत्य था।

४—अनेक तालों में समर्थ रास होता था।

५—इसमें एक निश्चित गत होता था।

६—आठ बरन वाले कुण्डा (ज्ञाड़ियों) का संख्या ६४ तक होता था।

ऐसे रासक के विकसित रूप को उस काल में 'रास' शब्द की संज्ञा भी दी गई थी।[1] पौराणिक साहित्य में भी रास साहित्य का उल्लेख मिलता है परन्तु इस आधार [illegible] नहीं प्रतीत होता।[2]

उक्त समस्त विवेचन के आधार रास और रासक शब्द के संस्कृत-कालीन स्वरूप अर्थ और परिभाषा को समझने के लिए किया गया है। रास शब्द किस प्रकार कालान्तर में अपना [illegible] परिवर्तित करता गया इसके क्रमिक विकास के अध्ययन में सुविधा हो इसी दृष्टि से संस्कृत काल के प्रमुख विद्वानों के विविध उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत करना उचित प्रतीत हुआ।

रास के संस्कृत काल में जहाँ बाण के हर्ष-चरित में रास का [illegible] विवेचन मिलता है वहीं [illegible] रासक [illegible] का उल्लेख भी पाया है। इस काल में स्त्रियों द्वारा उनके मनानुकूल [illegible] के लिए जिनका विशेष नाम लिए था [illegible] का उल्लेख है।[3] परन्तु डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने एक दूसरी बात हल्लीसक के सम्बन्ध में कही है कि उसका उद्गम [illegible] यूनान के नृत्य [illegible] सा रहा है। कृष्ण के रास नृत्य और हल्लीसक नृत्य इन दोनों की परम्पराओं में सम्भवतः किसी समय परस्पर संबंध हो गया।[4]

पर यह तथ्य कहाँ तक सत्य है यह नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में अन्य कोई अन्त-बाह्य प्रमाणों और जनश्रुतियों का भी अभाव है। इन दोनों बातों में हल्लीसक के उद्गम वाली बात तो संदिग्ध ही दिखाई पड़ती है। हाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि रास-नृत्य का सम्बन्ध सम्भवतः किसी अगली जाति अथवा गोप जाति से अथवा आभीरों [illegible] से हो गया हो। जो भी हो अब तक इतना अवश्य स्पष्ट हो गया है कि बाण के समय तक रास

१—[illegible] राग [illegible] विनिश्चनम्

नानारस [illegible] श्रुतिस्मृतम् [illegible] काव्यानुशासन पृ ४४८।

२—[illegible] गुजराती [illegible] —श्री के० एम० मुंशी पृ० ८३।

३—[illegible]

रासक [illegible] । हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन।

४—वही ग्रन्थ पृ० ३४–३५।

म नृत्य के मार गेय तत्व पूर्णतया प्रचलित हो गया था और हल्लीसक या रासक के शिल्प में उक्त सभी विद्वानों के विचारों में युगल, लय, ताल और गोप गोपियों का सम्बन्ध परिलक्षित होता है। अतः रास के अपभ्रंश काल के पूर्व नृत्य क्रीडा रूप और गेय रूप ही अधिक प्रचलित प्रतीत होते हैं। श्री मद्-भागवत में वर्णित कई स्थल रास के गेय रूप की पुष्टि करते हैं। रास शब्द का प्रयोग भी दृष्टव्य है[1] तथा कुछ श्लोकों में तो रचनाकार ने रास में संगीत व रागों का उल्लेख भी कर दिया है। ध्रुपद राग पर भागवतकार ने उस प्रसंग में प्रकाश डाला है।[2]

परवर्ती काल और रास —

संस्कृत काल के पश्चात् रास में इन तत्वों का समावेश किन अंशों में बना रहा, यह कहना बहुत कठिन है तथा साथ ही यह भी नहीं जाना जा सकता कि उसके शिल्प में उक्त तत्वों में इतर किन तत्वों का समावेश हुआ और वह भी किस अनुपात में पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आगे की कई शताब्दियों तक (जब तक कि रास, रासक अपभ्रंश काल में नहीं पहुँचे) उसमें उक्त सारे तत्वों का समावेश थोड़ा अथवा स्पष्ट अस्पष्ट अनुपात में अवश्य मिलता रहा है। संस्कृत काल के इन रासों की परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी राजस्थान में उपलब्ध विक्रम सं० ९६२ का रिपुदारण रास है।[3] जो अद्यावधि उपलब्ध रासों में सबसे पुराना है और यह रास संभवतः हेमचन्द्र से भी बहुत पहले का है। रासक[4] के शिल्प पर राजस्थान में उपलब्ध होने वाले रासों में प्राचीनतम होने से यही अच्छा प्रकाश डालता है। पर अभिनय, नर्तन और गान ये तीन तत्व रिपुदारण में भी मिलते हैं। अतः राजस्थान में मिलने वाले रासों में प्राचीनता की दृष्टि से भले ही इस रास का महत्व हो, पर शिल्प में इसका कोई नवीन योगदान नहीं लगता।

१—श्री मद्भागवत, दशम स्कन्ध तेंतीसवें अध्याय के निम्न श्लोक —
(क) तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः । २ ।
(ख) रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः । ३ ।
(ग) सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ।।६।।
२—(क) स्विद्य मुख्य कबररसनाग्रग्रन्थ्यः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्त तडित इव ता मेघ चक्रे विरेजुः । वही, श्लोक सं० ८ ।
(ख) तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात्—वही, श्लोक सं० १० ।
३—देखिये—मरुभारती वर्ष ४, अंक २ में 'रिपुदारण रास' निबंध डॉ० दशरथ शर्मा, पृ० ५७ ।

ऐसी स्थिति में आठवीं शताब्दी के अपभ्रंश काल में ही रास का उदय हुआ है, जिसमें रासो के अनेक प्रकार मिले। अपभ्रंश साहित्य में विशाल संख्या में विविध मान रूप प्रस्तुत करने वाले रास ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। जिनके विषय में संस्कृत तथा प्राकृत के रास ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्रगति व नूतनता है।

उपदेश रसायन रास के ३६ वें पद्य में "ताला रासु ... लकुडा या लकुटा रासु" नामक दो प्रकार के रासों का उल्लेख मिलता है।[1] संदेश रासक में भी तालारासु और लकुटा रास का संकेत मिलता है।[2] डॉ० जे० फाव० वोगेल ने ग्वालियर बाग की गुफा भित्तियों में चित्रित लकुटा रास का वर्णन किया है।[3] इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि अपभ्रंश काल में रास आदि में तालियों और डंडियों से खेलने की प्रथा भी प्रचलित हो गई थी।

कालान्तर में रास आदि के सम्बन्ध में यह भी उल्लेख मिलता है कि जैन मन्दिरों में श्रावक आदि रात्रि के समय में तालियों के साथ (ताल स्वर) रासों को गाया करते थे।[4] इसमें उपद्रव होने की सम्भावना से रात्रि में ताला रास का निषेध किया गया है। इसी प्रकार दिन में पुरुषों का स्त्रियों के साथ लकुटा रास करने (डण्डियों के साथ नृत्य करते हुए रास गान) को भी अनुचित बताया गया है। जैन मन्दिरों में ये रास १८वीं शताब्दी तक खेले जाते थे।[5] एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि उपदेशों के समय रासों को भी गा

१—साहित्य सन्देश जुलाई १९५१ में रासो के अर्थ का क्रमिक विकास लेख डॉ० दशरथ शर्मा।

२—तालारासु विदिन्ति रयणिहि दिवसिवि लउडा रासु सहुं पुरिसिहिं—
उ० र० गा० छन्द ३६।

३—(क) कत्थवि तालाणुगम्प आग्रा तुरन्तौं रासहि ... रासा (ख) लउडारस रसु जहि पुरिसुवि ... सन्देश रासक ४।२०-२०।

४—We now come to the fourth Scene plate D consisting of a double group of female musicians The left hand group comprises seven women standing around an eight figure, evidently a dancer The next three musicians are each engaged in beating a pair of wooden sticks called danda in Hindi and Tipri in Marathi Painting by Dr J Ph Vogle page 49 51

५—जैन सि० प्र० पत्रिका, वर्ष १८, अंक ४, पृ० ८० श्री अगरचन्द नाहटा का लेख।

कि जन मुनि प्रस्तुत करते थे 'रास' संज्ञा दी जाने लगी। उपदेश रसायन रास में जिनदत्त सूरि के अनेक गेय उपदेश रास बन गये हैं। स्त्री और पुरुषों के एक साथ रास नहीं खेलने के जो उल्लेख मिलते हैं।[1] उनमें यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि रास क्रीडा अपभ्रंश और अपभ्रंशेतर कालों में स्त्री पुरुष दोनों में समान उत्साह के साथ सम्पन्न होती थी और रास विशेष अवसरों पर जनता उल्लसित होकर खेलती थी। अतः नृत्य और गीत तत्व रासों में समान अनुपात से ११ वीं शताब्दी तक तो देखने को मिलता है।

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि नृत्य और गीत में से कालान्तर में रासों में गीत मात्र ही क्यों रह गया? नृत्य क्रिया क्यों शिथिल हो गई? इसका कारण जैन रासो रचनाओं के शिल्प का परिशीलन करने पर मिल जाता है। अपभ्रंशेतर काल में जैन मुनि जिन उपदेशों को देश्य भाषा में जनसाधारण को गा-गा कर सुनाते थे उनकी रसीली गीति और चर्चरी सनक उपदेशात्मक रचनाएं धीरे-धीरे रास बनती गई। जैन साधकों को त्याग प्रधान जीवन वितान से विशेष उल्लास और राग, रंग नृत्य, अभिनय से वैराग्य रखना पड़ता था अतः नृत्य का तत्व धीरे धीरे उपेक्षित होने लगा। अनुश्रुतिबद्ध परम्परा के कारण ये गीतियां इतनी घनीभूत होकर प्रचलित हुई, कि जन मानस रसमय हो उठा और नृत्य को लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे। अन्यथा कर्पूर मंजरी के विचित्र बंध में ताल लय, प्रस्तार के आधार पर नृत्याभिनय करती हुई नायिकाओं का वर्णन मिलता है।[2] इन नर्तकियों का समबाहु समाभिमुख आदि अनेक भिन्न भिन्न मुद्राओं का भी उल्लेख मिलता है।[3] वस्तुतः ११वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते रास गेय काव्य मात्र रह गया। क्योंकि इन गीतियों और चचरियों को ही जनसाधारण में अत्यन्त अधिक प्रचलित देखकर जैन मुनियों ने उपदेश का माध्यम चुना और ये चर्चरियां और गीतियां इतनी अधिक प्रसिद्ध हुई, कि इनके नामों से विभिन्न छन्द विशेषों का निर्माण हो गया। कालान्तर में चर्चरी और गीत नाम से स्वतन्त्र छन्द ही बन गये। अब जनता इन रासों को खेलने की अपेक्षा श्रवण करने में अधिक रस

१—देखिए—अपभ्रंश काव्यत्रयी श्री लालचन्द भगवान गांधी, पृ० ३६।

२—साहित्य सन्देश जुलाई १९५१, में डॉ० दशरथ ओझा का 'रासों के अर्थ का क्रम विकास'—शीर्षक लेख।

३—कर्पूर मंजरी, ४।१० ११ का यह उद्धरण—

सम समीसा सम बाहुहत्था रेहा विसुद्धा अवराउ ति।
पत्तीहि दोहि लमतान बध पराप्पर साहिमुही हवति।

मेने मगी और इसाफिल आदि नाट्य रासक की उत्पत्ति का समय ११वीं शताब्दी कहा गया है।[1] विद्वान् आलोचक ने इस कथन की पुष्टि भी की है कि इनके उत्पन्न होने के कारण गेय राग काव्य धारा अथवा राग काव्य रूप नृत्य से उनका सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो गया।[2]

११वीं शताब्दी तक तो राग रासक की यह स्थिति रही। पर हेमचन्द्र के समय तक जन मानस ने राग को रूपक का रूप दे दिया और ऐसा लगता है कि तत्कालीन वस्तु स्थिति को स्वीकार कर हेमचन्द्र ने अन्य काव्य के अन्तर्गत रासक को गेय रूपक के भेद में स्वीकार किया है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। मसृण उद्धत और मिश्र ये तीन भेद थे। इन तीनों के अन्तर्गत ही उन्होंने डोम्बिका भाण प्रस्थान शिंगक भाणिका प्रेरण रामाक्रीड हल्लीसक रासक गोष्ठी आदि उदाहरण दिये हैं। इनमें रासक और हल्लीसक उद्धत गेय रूपक के अन्तर्गत आते हैं। इनमें उद्धत तत्वों का समावेश अधिक था और मसृण का आंशिक। अतः अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि रासक और हल्लीसक में उद्धत तत्व की अधिकता हो जाने के कारण उसका आरंभ से या राग जय गीत में नृत्य या वाद्य का समाविष्ट हो गया होगा और ज्यों ज्यों उसकी रंग प्रधान प्रवृत्तियां बढ़ती गई वे रासक वाद्य प्रधान काव्य बनते गये और दूसरी ओर वे रासक जिनमें मसृणता का तत्व अधिक था धीरे धीरे कोमलता प्रधान होते गये। फलतः कोमल प्रवृत्तियों वाले ये रासक 'राग' रूप में चलते रहे और यह परम्परा आज भी इस प्रान्त के रूप में सुरक्षित मिलती है।

वस्तुतः जन रुचि के इस बदलते हुए प्रभाव के कारण रासक में उद्धत तत्व की वृद्धि होती तथा नृत्य होने से वह एक शक्ता प्रधान रूपक हो गया।[3] अतः १२वीं शताब्दी से ही राग रूपक माना जाने लगा। नाट्य दर्पण जैसे प्रसिद्ध ग्रंथों का स्थल पर स्पर्श नाट्य राग और रासक का उल्लेख मिल जाता है।[4] रासक में अभिनय की प्रधानता बढ़ी और साहित्य दर्पण में भी नाट्य रासक और रासक शब्दों का उल्लेख स्पष्ट यह कहा जा सकता है कि उस समय जनता में रासक का रूपक के रूप में पर्याप्त प्रचलन हो गया था। रत्नावली नाटिका में भी 'राग' का गीति नाट्य का रूप सा गई है।

१—साहित्य सन्देश जुलाई १९५१, 'रासो के अर्थ का क्रमिक विकास' लेख।

२—वही अङ्क वही लेख।

३—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ६० ६१।

४—नाट्य दर्पण (प्राच्य विद्या मन्दिर बड़ौदा संस्करण), पृ २१२ १६।

पर यहाँ तक रास के पास कोई नया विषय नहीं था। वही नृत्य, गान और अभिनय ही घुमा फिरा कर उसकी विषय वस्तु बनता जा रहा था। अत १२वीं शताब्दी ने विषय वस्तु के रूप में भी एक नई उत्क्रान्ति प्रस्तुत की। गीतियों में चर्चरी मूलक रास रचनाओं में धीरे धीरे कथा तत्व का समावेश होने लगा। अत कथा तत्व के आने से चरित्र-सकीर्तन बढने लगा। विशेष रूप से अपभ्रंशेतर जन रासों में ऋषभ देव, नमीनाथ, महावीर, जम्बू स्वामी, गौतम स्वामी, स्थूलि भद्र, आदि के वर्णन मिलते हैं साथ ही श्रेष्ठ श्रावकों व दानवीर पुरुषों के ऊपर यथा-वस्तुपाल, तेजपाल पेथड, समरसिंह तथा तीर्थों आदि के नाम पर भी अनेक कथा प्रधान रास रचे गये जिनका विश्लेषण आगे के पृष्ठों में किया जायगा। अत कवि इस कथा तत्व को विविध छन्दों में बाधकर अर्थात् "रासाबध" रूप देकर जनता के समक्ष रखने लगे। अपभ्रंशेतर इन रासो में छन्दों की इस विविधता के साथ-साथ रासाबध के कारण "रास या रासा" आगे चलकर एक छद ही हो गया। एतदर्थ यह कहा जा सकता है कि क्योंकि हर एक रास में गेय तत्व व रसमय तत्वों की प्रधानता रहती थी और इस गेय तत्व ने जब अनवरत वृद्धि पाई, तो यह समस्त रास ग्रन्थ एक रास छद के लिए ही रूढ हो गये हों। वस्तुत यह रासा छन्द इतना प्रचलित हुआ कि तत्कालीन लोक काव्यों में भी इसका समावेश हो गया।

इस प्रकार १२वीं शताब्दी तक में मिलने वाले इस विशाल जैन साहित्य के शिल्प, उसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ, विशेषताओं और उसके विकास की कडियों का अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से किया जा सकता है।

१—सगीत व नृत्य कला के रूप में।
२—छन्दों की दृष्टि से।
३—विषय की दृष्टि से।
४—साहित्यिक रूपों की दृष्टि से।
५—धर्म की दृष्टि से।

१ जहा तक सगीत का प्रश्न है उक्त विवेचन में हमने यह चर्चा की है कि अनेक युगों तक सगीत रास या रासक का एक प्रधान तत्व था। सस्कृत काल और अपभ्रंश काल के सधि युग में तो रास में उसका सगीत तत्व ही प्रधान होगया था इसके बाद भी जैन कवियों ने जो उपदेश प्रधान चर्चरियाँ और गीतियाँ गाई हैं, व सगीत तत्व की उत्कृष्टता से रास का प्रचार करने व जन कण्ठ हार बनने में सहायक हुई थीं। एक आवश्यक बात यह भी है कि 'रास" को रासा छन्द बनाने में सम्भवत सगीत ने भी सहायता की हो। वस्तुत उक्त

अनेक विद्वानों ने 'गीत, नृत्य और तान' को महत्त्व रास या रासक के लिए स्पष्ट किया है। अतः रास और संगीत परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। श्री श्यामबिहारी गोस्वामी रास को एक नृत्य विशेष मानते हैं तथा एक प्रकार का काव्य और रूपक भी।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने तो रास काव्यों में विभिन्न राग रागनियों के व्यवहृत होने से रास के निश्चित स्वरूप को रास-काव्य ही कह दिया था। इसके अतिरिक्त "रास" जब गेय उप रूपक का प्रकार था, तो उसमें अनेक छोटे छोटे ऊर्मि गीतों का समावेश आवश्यक था और यही ऊर्मि-गीत संगीत के अनूठे ग्रंथ थे। जो रास नाम से प्रयुक्त हो रहे थे। अतः स्पष्ट है कि रास ने संगीत कला के क्षेत्र को भी उन्नति की ओर बढ़ाया।

नृत्य कला का भी रास से पर्याप्त सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। नृत्य कला को प्रगति के चरम पर पहुँचाने वाला तत्त्व नर्तकी या नृत्यकार होता है और रास में नृत्य आवश्यक था। "अनेक नर्तकी योज्यं चित्रताल-लयान्वितम्" उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है। हलायुध और रासक का हेमचन्द्र ने देशी नाम माला (८-६२) तथा धनपाल ने पाइयलच्छी नाममाला (गाथा ६७२) में सामान्यतः गोप-गोपियों की क्रीड़ा कहा है— 'रासयम्मि हल्लीसो रासक, मण्डलेन स्त्रीणां नृत्य' अतः स्त्रियों के नृत्य का उल्लेख स्पष्ट मिलता है। अब तक रास नाम से जानी जाने वाली सबसे प्राचीन क्रीड़ा कृष्ण गोपियों की हो रही है। इसी प्रकार नटराज शंकर भी अपने उद्धत ताण्डव नृत्य विभिन्न रूपों में स्वयं मुख्य नर्तक बनकर करते थे। परन्तु श्रीकृष्ण के रूप मसृण रास का सम्बन्ध "लास्य" नामक नृत्य से भी पर्याप्त सम्बन्ध रखता है। आगे रास को लास्य भी कहा जाने लगा ऐसा उल्लेख मिलता है। रास या लास्य सम्पूर्ण गीत मात्र न रहा, उसमें नृत्य के साथ अनेक वाद्यों का भी समावेश होता है। हेमचन्द्र सूरि के शिष्य ने १२वीं शताब्दी में रचे नाट्य-दर्पण में लास्य के अवान्तर भेदों का उल्लेख किया है।[2] और जिसमें विभिन्न देश रुचि हो लास्य के भेद उपभेदों में परिवर्तन करता रहा है। स्वयं शार्ङ्गधर ने अपने ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में सं० १२०० ई० के आस-पास सौराष्ट्र की नारियों के रास नृत्य का उल्लेख किया है। अतः लास्य नृत्य भी कालान्तर में रास का स्थान ग्रहण किए रहा। लास्य की परम्परा में संगीत रत्नाकर में वर्णित उषा अनिरुद्ध, अभिमन्यु

1—'त्रिपथगा' अक्टूबर १९५७ वर्ष ३, अङ्क १, पृ० ७३ पर श्री श्याम बिहारी गोस्वामी का स्वामी हरिदास और रासलीलानुकरण शीर्षक लेख।

2—भाव भेदाद् लास्य भेदा बहुधा मयन बुध
तत्रैव निरभेर्हीन दश लक्ष्य प्रवर्तितम् —नाट्य दर्पण

की पत्नी उत्तरा का बडा हाथ रहा है। स्वय अर्जुन के ऊपर भी नृत्य रास के सस्कार का प्रभाव पडे बिना नही रह सका। मणिपुर-नृत्य लास्य-नृत्य का ही प्रकार माना जाता है। सौराष्ट्र और गुजरात प्रदेशो मे लास्य या नृत्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा स्वरूप मे एक ही रही है। सौराष्ट्र मे आज भी "रासडा लेवा" शब्द अब भी प्रचलित मिल जाता है। क्योकि रास ने नृत्य कला को पर्याप्त सहायता दी है, अत सगीत की भाति नृत्य व अभिनय रासक मे एक दम अन्योन्याश्रित है। यह भी सम्भव है कि नृत्य की अनेक कलाए वाद्य तथा सगीत रासक म समाविष्ट रही हो। अत रासक ने लास्य को व लास्य ने रासक को परस्पर बडा ही बल प्रदान किया है। अत नृत्य-कला भी रासक का प्रमुख रूप रही है।[1]

छदों की दृष्टि से—

रास का मूल्याकन छन्दो की दृष्टि से भी किया जा सकता है। ११वी शताब्दी तक ये रास गेय रूप मे इतने अधिक प्रचलित हुए कि "रास" नामक एक छन्द विशेष ही बन गया। या विद्वानो ने रास छन्द म केवल एक छद का विवेचन न कर अनेक छन्दो का समाहार किया है। अत यह स्पष्ट है कि रास परम्परा मे अनेक रास छदो की दृष्टि से भी लिखे जाते थे। उदाहरणार्थ सदेश रासक मे प्रयुक्त रास छन्द। इस प्रकार छद की दृष्टि से रास या रासक कहलाने वाली रचनाओ के लिए छन्द एक विचार-सारणि या कसौटी ही बन गया। ध्यान से देखने पर यह लगता ही है कि रासो ग्रन्थो मे रासा छद प्रमुखता से प्रयुक्त हुआ है। रास छन्द के इस प्रभाव स तत्कालीन सभी काव्यो मे यह विशेषता उनके नाम मे ही आ गई और बहुधा वे नाम उनके शीर्षको के अनुसार विविध काव्य रूप बन गये—उदाहरणार्थ—पेथड रास, समरारास आदि मे रास छन्द प्रमुख है तो चतुष्पदिका मे चउपई और स्थूलि भद्र फागु तथा अनेक नेमिनाथ फागो म "फागु" छन्द मिल जाता है। रास छन्द का शास्त्रीय अध्ययन करने अथवा रासक के काव्य रूपो व शिल्प के विषय मे हम विरहाक के "वृत्त जाति समुच्चय (४।२६ ३७) और स्वयभू के छदस से बडी सहायता मिलती है। इन दोनो छद शास्त्रियो ने रासक की परिभाषाए दी हैं। विरहाक के अनुसार रासक अनेक अडिल्ला, दुवहवा मात्राओ, रड्डाओ और ढोसाओ स मिलकर बनता है। इसके अतिरिक्त मात्रा रड्डा दोहा अडिल्ला तथा ढोसा की उसने अलग परिभाषाए दी है। सम्भवत विरहाक न रासको की दो प्रकार की लोकप्रियता बताई है तथा यह लिखा है कि—रास बध के कारण ही उन्होंने 'रासा'

१—गुजराती साहित्य ना स्वरूपो, प्रा० म० र० मजूमदार, पृ० ४१३–१६।

नामक स्वतन्त्र छन्द की परिभाषा नहीं है जिसका कुछ मात्राएं डॉ० हरिवल्लभ भायाणी ने सन्देश रासक की भूमिका में दोहा, छड्डणिया, पद्धड़िया, घत्ता चौपाई, रड्डा आभा, अडिल्ल आदि अनेक छन्दों का बहुतायत से प्रयोग करने वाली रचनाओं को रासक नाम दिया है। इस प्रकार सभी परिभाषाओं में प्रयुक्त तथ्यों को कसौटी मान कर चलने से जब हम आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की रास रचनाओं में 'रास' छन्द को ढूंढते हैं तो हम रास छन्द इन लक्षणों से प्रयुक्त होता छन्द लगता है और इस स्वतन्त्र छन्द का दोहा, ढाला, अडिल्ल आदि छन्दों से स्वतन्त्र रूप सिद्ध होता है तथा परस्पर कोई साम्य भी नहीं दिखाई पड़ता। अतः यही कहा जा सकता है कि इन विभिन्न छन्दों की कृतियों को रासक नाम दे दिया जाता होगा। रासक और रास छन्द के लिए अद्यावधि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इससे अधिक कुछ कहना बहुत संगत नहीं लगता, पर यह स्पष्ट है कि रासक और रास मनक अनेक कृतियों में "रास" एक छन्द विशेष के रूप में खूब मिलता है।

अपभ्रंशोत्तर काल में रासों के विषयों में विस्तार हुआ। अनेक विषयों पर रास रचना हुई जिनमें से कुछ प्रमुख विषय अधोलिखित हैं —

१—उपदेशमूलक (यथा उपदेश रसायन रास)।

२—चरित प्रधान (यथा-सप्तक्षेत्र रास)।

३—प्रव्रज्या या दीक्षामूलक (यथा जम्बू स्वामी गौतम स्वामी और स्थूलि भद्र रास)।

४—उत्सव व वैभव-वीरता-मूलक (यथा भरतेश्वर-बाहुबली रास)।

५—छन्द प्रधान रास (यथा भरतेश्वर-बाहुबली रास)।

६—कथा प्रधान—रामायण महाभारत पर (पंच पाडव चरित रासु)।

७—तीर्थों पर व तीर्थ यात्राओं पर—यथा रेवतगिरि रास तथा आबू रास, सप्तक्षेत्रीय रास।

८—सन्त वर्णन (यथा-समरा रास)।

९—सत्कीर्तन-जय तथा सैद्धान्तिक (यथा-मातृह-कारण रास)।

१०—ऐतिहासिक रास (यथा-समरा रास)।

इस प्रकार चरित्रों के गुणों का वर्णन करने उनके त्यागों का हवान यात्रा वर्णन करने कथा निर्माण करने मन्दिरों का जीर्णोद्धार करने दीक्षा उत्सव हेतु जय घोष आदि के लिए ही इन रास ग्रन्थों की रचना की जाती थी। इसके अतिरिक्त वे भौगोलिक सामाजिक राजनैतिक तथा चरित मूलक होते थे। जैन रासो साहित्य जितना ही चरित मूलक होता था उतना ही ऐतिहासिक भी होता था।

इस प्रकार राम ग्रन्था के विषय में व्यापकता आ गई और विषया की सीमा का कोई बन्धन नहीं रहा। अत इन जैन साधका न लोक साहित्यपरक अर्थात् जन भाषा में और शास्त्रीय भाषा दोना म रास रचनाए की।

विषय की दृष्टि से—

रास परम्परा म वैष्णव व जैन इन दाना धर्मो मे बडा योग दिया है। वैष्णव धर्म मे कृष्ण भक्ति शाखा क रास मण्डल व कृष्ण गोपिया ने रास को चरम पर पहुँचाया और ब्रज के रास तो शताब्दिया मे प्रसिद्ध हैं। इनम शृ गार-परक, भक्ति-परक और कोमल सभी प्रकार के रास मिलते हैं।

जैन धर्म न भी विशाल सख्या म सप्तातिवार के रासो को सुरक्षित रखा है। अनेक वीतरागी जैन मुनिया तथा राजपुत्रा क दीक्षा ग्रहण करने के अवसर पर भी रासा की क्रीडाए हाती थी। स्त्री और पुरुष इन रासो को बडी श्रद्धा मे खेलते थे और अपनी प्रकृति प्रदत्त अनुभूति को अभिनय व सगीत मे डुबा कर साकार व सार्थक करते थे। मुनिवर स्त्रयाम ग्रहण ही नहीं करते थे, उनका सयम-श्री के साथ विधिवत् विवाह हाता था और इन जैन रासा म से अनेक रासा का उद्देश्य आचार्य-श्री का सजमसिरि स वरण कराना होता था यथा—जिनेश्वर सूरि दीक्षा विवाह-वर्णन रास। इस शुभ अवसर पर अथवा पर्व पर उनके अनुयायी श्रावक भला क्य मानत ? वे उत्फुल्ल हाकर नृत्य, लय, ताल, गीत आदि द्वारा आचार्य-श्री का श्रद्धाजलि देते थे अत रास का आयोजन हाना स्वाभाविक था।

साहित्यिक रूप और शिल्प योजना

साहित्यिक दृष्टि स मूल्याकन करने पर रास या रासक सगीत, नृत्य लय, ताल, छन्द, क्रीडा अभिनय, उक्त सभी अगा के समन्वय का समूह है। वस्तुत रासक का सम्बन्ध उक्त अ गा स ऊपर दिखाया जा चुका है। रासक या रास का स्वरूप उद्धत-गेय-उपरूपक के रूप म उल्लास प्रधान हाता है। अत साहित्यिक दृष्टि से इसके शिल्प जन्य तत्वा का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है —

१—रासक गेय उपरूपक है, जिसकी कथा गद्य म कम व पद्य मे अधिक अर्थात् अधिकाश पद्य मे ही हाती है।
२—उसमे अनेक नर्तकियाँ हा।
३—विभिन्न रागा का समावेश हो।
४—अनेक छन्द हो।
५—लय ताल का सुन्दर समन्वय हा।

६–अनेक प्रकार के अभिनय हों।
७–कई मण्डलों में विभक्त हों।
८–अनेक युगल हों, जो साथ क्रीड़ा करें।
९–पुरुष अलग, स्त्रियां अलग अथवा समवेत नृत्य।
१०–वस्तु में रस का संमिश्रण अनिवार्य रूप से हो।
११–विभिन्न प्रकार के नृत्यों का समावेश हो।
१२–रास या रासक एक निश्चित स्थान या मंच पर हो।

निश्चित स्थान से तात्पर्य रंगमंच से लिया जा सकता है। यद्यपि रंगमंच की सूचना कहीं भी स्पष्ट रूप से रास और रासक साहित्य का उल्लेख करने वाली प्राचीन संस्कृत व अपभ्रंश कृतियों में नहीं मिलती, परन्तु रास के लिए में स्थान-विशेष, वृत्त-विशेष, मुद्रा, हाव भाव, तथा स्थिति-विशेष आदि तत्वों को देखकर यह कहा जा सकता है कि रंगमंच का स्पष्ट उल्लेख नहीं होने पर भी रास में मंच विशेष की स्थिति अवश्य थी।

वर्तमान काल में रास की स्थिति—

"रास" जैसे गेय रूपक आज भी अपनी जागृत विधाओं को लेकर विविध रूपों में हमारे सामने सुरक्षित हैं। हमारे देश की लोक संस्कृति अक्षुण्ण है। रास जैसे सांस्कृतिक गेय रूपकों की आयोजना देश के हर प्रान्त में विभिन्न दिशाओं में देखी जा सकती है। जहाँ तक राजस्थान का प्रश्न है राजस्थान में रास खेलने की प्रथा अब भी है। मण्डलाकार बनाकर विशेष अवसरों पर स्थान विशेष को सजाकर उसी पर डंडों से व ढोल वाद्य पर रास खेलते हैं। विभिन्न मन्दिरों में भी रास खेलने की प्रथा है। 'रासधारी' एक मण्डल एतदर्थ प्रसिद्ध है। रास गाया भी जाता है परन्तु पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में इसका प्रचार अधिक है। स्त्रियों के समाज में रास की स्थिति विचित्र प्रकार की है। रास का यह वर्तमान रूप अत्यन्त प्रसिद्ध है। यों रास के शिल्प का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करने वाला यहाँ कोई नृत्य विशेष नहीं है, परन्तु उसके थोड़े-थोड़े तत्व विभिन्न प्रान्तों के नृत्य विधाओं में बँट गये हैं। राजस्थानी लोक नृत्यों में जो मीणों और भीलों के नृत्य, बणजारों के नृत्य, नटों का कमाल, बागड़िया और गरासिया के नृत्य, कालबेलिया के स्वांग और शंकरिया, और पणिहारी का भावात्मक अभिनयात्मक और नृत्य प्रधान संगीतात्मक-नृत्य, भवाई-नृत्य, रासधारियों का नाताण, तुर्राकिलंगी के अभिनय प्रधान नाच, बीकानेर के अग्नि नर्तक, जालौर के ढोल नर्तक, डीडवाणा और पोकरण का तेरहताली (ताल रास) मारवाड़ की कच्छी घोड़िया का नृत्य, गीत, अभिनय,

शारीरिक अवयवों की कला, नृत्य तथा गाथा से समन्वित मारवाड का कठपुतली नृत्य, पाबूजी की पड़, शाह गूजरी के नृत्य विनोद तथा कुचामणी ख्याल, अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। साथ ही रास के अभिनय को उसी आदिम स्थिति में पहुँचाने का प्रयास करने वाले और भी कई जंगली नृत्य हैं जिनमें डफ के नृत्य, सासियों के नृत्य, कंजरा नायका, चमारा व मेहतरा के नाच प्रसिद्ध हैं। शेखावाटी प्रदेश के चौक चानणी और मंदिरा के कीर्तन और नृत्य भी अपना महत्व रखते है। आंशिक रूप से रास के तत्वा का प्रतिनिधित्व करने वाले नृत्या म राजस्थान की स्त्रिया का 'घूमर या भूमर नृत्य' नहीं भुलाया जा सकता। घूमर नृत्य मे स्त्रिया गवर' या पार्वती की प्रतिमा के सामने सैकडा की संख्या म चक्राकार मण्डला म विभक्त हो, घंटा नृत्य म डूब जाती हैं जिनमे वाद्य की मधुरता गीत का प्रवाह स्वर व सगीत की रुमान अभिनय की उत्कृष्टता तथा भावा भेष दर्शनीय हैं। पर इसम, युगलों म पुरुष भाग नहीं ल सकते। यह विशेषकर होली गणगौर और दीपावली जैसे त्योहारा के अवसरा पर मध्यमवर्गीय स्त्रियो द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। घूमर का उदयपुरी स्वरूप सगीतमय है। जोधपुर का घूमर कलात्मक है पर उसमें अङ्ग सचालन का अभाव है और कोटा बूदी के घूमर म अपूर्व जीवट और प्रभाव होता है। इन नृत्या म 'वाला रास' 'दण्ड रासु' आदि सब रूप देखने को मिल जाते है। अत घूमर राजस्थान का एक राष्ट्रीय नृत्य है।

गुजरात और मालवा म रास का वर्तमान स्थिति, वहा के 'गरबा गरबो या गरबी नृत्य प्रस्तुत करते हैं। 'गरबा' एक ऐसे घडे को कहते हैं जिसमे सकडो छेद होते हैं। स्त्रिया उसमे दीपक जलाकर ताल अभिनय सगीत आदि के आधार पर उसको सम्पन्न करती हैं। यह नृत्य रास का सही रूप आज भी प्रस्तुत करता है।

रास के वर्तमान स्वरूप की सुरक्षा करने वाले रासा मे ब्रज के रासो का भी बडा महत्व है। मथुरा वृन्दावन आदि स्थाना पर राधा कृष्ण और गोपिया के रूप में विविध लीलाओ तथा कृष्ण द्वारा किए रासो की आयोजना होती है। यहा तक कि अनेक मण्डलियो ने तो इसे अपना पेशा ही बना लिया है। रास ब्रज की प्रमुख वस्तु है और कृष्ण उसके जन्मदाता। ब्रज मे रास का वर्तमान रूप कब प्रचलित हुआ ? उसके प्रारम्भकर्ता कौन थे ? इस सम्बन्ध म निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता साथ ही अनेक मतभेद भी है।[1]

१–(क) देखिये –ब्रज भारती–वर्ष ४, अङ्क २ पृ० ६ ११ पर प्रभुदयाल मीतल का नारायण भट्ट पर लेख

नारायण भट्ट, वल्लभाचार्य परिणाम तथा धर्मतत्त्व की स्मृति प्रवतका में उल्लेख मिलता है।

व्रज के इन रासों के दो प्रमुख प्रकार हैं —

१—शास्त्रीय वन्दन युक्त तथा

२—शास्त्रीय बन्धनमुक्त रास नृत्य जिसमें नन्दगाँव और बरसाना की गुजरिया विविध मुद्राओं में नृत्य करती हुई रासलीला का वास्तविक रूप प्रस्तुत करती हैं जिसमें वाद्य नहीं होता। यह यह रास वहाँ ही कल्याणकर होता है। यह नृत्य समवत समय के प्रभाव से समाप्त हो गया था। इ ह नेतर महना वार नृत्य प्रकार आज भी करते देखे जाते हैं।

व्रज का शास्त्रीय नृत्य दो प्रकार का है —

१—रास और २—मन्दा रास। 'रास' रासमण्डलियाँ करती हैं तथा महारास कृष्ण ने गोपियों में एक कृष्ण या दो कृष्ण के बीच एक गोपी के रूप में किया था। जब व्रज की मण्डलियाँ रास करती हैं तो भरत के नाट्य शास्त्र में वर्णित नाना रासकों का मिश्रण स्पष्ट हो मिल जाता है।[१] आज जो व्रज में रास पद्धति है वह ४००–५०० वर्षों से अधिक पुरानी प्रतीत नहीं होती। इसमें मंगलाचरण के बाद सारंगी, पखावज, दिलरुबा, झाँझ और मंजीरा के आधार पर मंगल गान गाया जाता है और सब नृत्य करते हैं।

अवधी भाषा में रास का स्वरूप 'रसिया' के रूप में मिलता है। जिला में रह कर्ण होने वाले सांस्कृतिक लोक-नृत्यों में 'इन्द्र' के अवधी के रसिया नृत्य का महत्व सा अन्य सबसे अधिक है जिसमें अभिनय, नृत्य, वाद्य, गान वेश परिधान, मंच और अभिनय मंत्र का सम्मिश्रण मिलता है। अवधी और व्रज के स्वांग भी रास के एक अंग की पूर्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त व्रज के नौट

ॐ (ख) श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी का व्रज लोक संस्कृति में २००५ पृ० १३८–४३ पर रास लेख।

(ग) रामनारायण अग्रवाल का रासलीला के अध्ययन कर्ता तब व्रज-भारती वर्ष ५ अंक ५।

(घ) पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० –१३ ०७ में नारविन हाइन का "रासलीला के विकास दर्शन" लेख।

१—रसिया-व्रज का इतिहास भाग २, श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी पृ० ११५ पर माईदत्त तोमर पय का लेख।

नृत्यो में रास के सम्तनायो, व्रज की चरकुला, ललमनिया चाचर, भूला नृत्य, नरसिंह नृत्य डाडा डाडा नृत्य आदि लोक-कलात्मक नृत्य अत्यन्त प्रसिद्ध है जो रास परम्परा को भी सुरक्षित करते हैं। जयदेव का गीत गोविन्द और चैतन्य का कृष्ण भक्ति प्रेमलीला वर्णन किसी रास से कम नहीं है।

बंगाल में भी भगवान कृष्ण के रास का रूप प्रचलित है, जिसमें उनका वेश व्रज से भिन्न होता है, पर इसमें अभिनयात्मकता बडी उत्कृष्ट होती है।

आसाम मणिपुर के इलाके में वन भूषा, अभिनय और भावुकता तीनों तत्वों की रास में प्रधानता है। वहां भी वसन्त रास, नत्त रास और महा रास ये तीन प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार दक्षिण में तमिल, तेलगू, कन्नड मलयालम आदि प्रदेशों के लोक-साहित्य रास का प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुत रास की परम्परा आज भी विभिन्न लोक कलात्मक अनेक नृत्यों के रूप में सुरक्षित है। वस्तुत तत्कालीन अपभ्रंश येतर कालीन जैन रासों का वर्तमान स्वरूप जैन समाज में आज भी प्रचलित है परन्तु उसका आंशिक रूप ही दृष्टिगोचर होता है। दीक्षा के समय जैन मुनि का संयम-श्री के विवाह के रूपक के रूप में सब क्रियाएं पूरी की जाती हैं पर रास नृत्य और उल्लास के साथ नृत्य अभिनय अब रुक गया है। सिर्फ अपनी उल्लास प्रधान अभिव्यक्ति को वे संगीत प्रथा के माध्यम से प्रकट कर देते हैं। हां तीर्थों आदि में स्त्रियों का नृत्य उल्लेखनीय है। वस्तुत रास नृत्य आदि के प्राचीन मानदण्ड आज बदलते जा रहे हैं, पर जैन मुनियों में रास बनाने और उनको गाकर उनका उपदेश देना आज भी प्रचलित है। सौराष्ट्र और गुजरात के जैन मुनि तो आज भी 'रास' बनाकर गाते हैं। ऐसा लग रहा है कि आधुनिक जैन-रास पुन अपनी प्राचीन गेय व उपदेशात्मक स्थिति को, जो हेमचन्द्र से पूर्व थी, प्राप्त करते चले जा रहे हैं। राजस्थानी भाषा में जो परवर्ती रास मिले हैं उसमें 'रासो' शब्द का ही अर्थ पर्क्य होगया है और वे युद्ध वर्णनात्मक काव्य के भी सूचक है। इसी कारण राजस्थानी में रासो शब्द का प्रयोग लडाई भगडे या गडबड घोटाले के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा। १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा १८वीं शताब्दी में कुछ विनोदात्मक रचनाएं जैसे उन्दर रासो, माकड रासो आदि रासो की रचना हुई है।[1] डॉ० हजारीप्रसादजी का कथन है कि 'रासक' वस्तुत एक विशेष प्रकार का मनोरंजन है। रास में वही भाव है।[2] आज के रास, विषयों की

१-देखिये नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० २०११ अंक ४ पृ० ४२० पर श्री अगरचन्द नाहटा का 'प्राचीन भाषा काव्यों की विविध संज्ञाएं' लेख।
२-देखिये हिन्दी साहित्य का आदिकाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. १००,

भाषा के बन्धन से नहीं है जनता अपने सुख-दुख का प्रेम धर्मोपदेश, शृंगार कथा आदि सभी रूपों में प्रस्तुत कर इस व्यस्त जीवन में सुख अनुभव करता है।

जो भी हो उक्त विवेचन में रास की परम्परा, उद्देश्य, परिभाषा, विभिन्न आदि के तत्वों का पूरा-पूरा मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयास लेखक ने किया है। अब अपभ्रंशोत्तर काल अथवा प्राचीन हिन्दी में जो आदिकाल की विभिन्न शताब्दियों में विभिन्न रूपों में रास रचनाएं प्राप्त होती हैं उनके काव्य का अध्ययन करना ठीक होगा। उक्त विवेचन में आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में प्रत्येक शताब्दी में मिलने वाले हिन्दी जैन रासों की मुख्य प्रवृत्तियाँ शिल्पगत तथा कथा काव्य रूपों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आदिकालीन हिन्दी रासों को समझने में इससे पर्याप्त सहायता मिल सकेगी ऐसा लेखक का अनुमान है।

भरतेश्वर बाहुबली रास

रास परम्परा म सर्व प्रथम और सबसे विस्तृत पाठवाली रचना भरतेश्वर बाहुबली रास है। प्राचीन राजस्थान हिन्दी जन साहित्य में यही कृति ऐसी है जो पर्याप्त प्राचीन तथा जो अपभ्रंश की परवर्ती अवस्था और पुरानी हिन्दी (प्राचीन राजस्थानी और जूनी गुजराती) के बीच की कड़ी है। परिशीलन करने पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी जैन साहित्य की रास परम्परा का भरतेश्वर बाहुबली रास सर्व प्रथम रास है।[1] अद्यावधि मुनि जिनविजय जी तथा गुजराती विद्वान इसी रचना का सर्व प्रथम रचना मानते है। पर श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा शोध पत्रिका मे एक प्राचीन रास श्री वज्रसेन सूरि रचित 'भरतेश्वर बाहुबली घोर' प्रकाशित किया गया है जो इनम भी प्राचीनतम है, पर रचना अकेली तथा संक्षिप्त होने से वह रास जन्य प्रवृत्तियों की प्रमुखता का प्रतिनिधित्व नही कर सकती। ऐसी स्थिति म भरतेश्वर बाहुबली रास को ही हिन्दी साहित्य का सर्व प्रथम रास माना जा सकता है।

प्रस्तुत कृति का सम्पादन मुनि जिनविजय जी ने किया। रचनाकार श्री शालिभद्रसूरि हैं और रचना काल स० १२४१। प्रति बड़ोदरा के एक विद्वान् कान्तिविजय जी की है तथा कागज की है। अनुमानत ४०० या ५०० वर्ष पुरानी होगी। मुनिजी का यह पाठ पूर्ण प्रामाणिक प्रतीत होता है। इसी पाठ का राहुल सांकृत्यायन ने भी उद्धृत किया है।[2]

दूसरी कृति का सम्पादन श्री लालचन्द भगवान गांधी के द्वारा सम्पादित है।[3] श्री गांधी ने प्राच्य विद्या मन्दिर का तथा आगरा संग्रह की श्री विजय धर्म सूरि के आधार पर कृति सम्पादित का है। श्री गांधी का पाठ मुनिजी का सम्पादित कृति से स्थान स्थान पर थोड़ा भिन्न भी मिलता है। तथा छन्द क्रम म भी अन्तर है, पर दोनो अपने अपने रूप मे प्रामाणिक है।

१—भारतीय विद्या भाग २ अंक १, स० १९९७, पृ० १–१९ सं० मुनि जिनविजय।

२—हिन्दी काव्य धारा, श्री राहुल सांकृत्यायन पृ० ३९८ ४०८।

३—भरतेश्वर बाहुबली रास, स० श्री लालचन्द भगवान गांधी, प्रकाशक प्राच्य विद्या मन्दिर बड़ोदरा, वि० स० १९९७।

प्रस्तुत कृति का मूल्यांकन करने से पूर्व दो और महत्त्वपूर्ण बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। एक तो यह कि यह कृति प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की है तथा दूसरी बात स्वयं भाषा और जन भाषा के आधार पर यह कृति पुरानी हिन्दी की है। गुजराती विद्वान् इसे पुरानी गुजराती की मानते हैं जब कि १५०० वि० के पूर्व गुजराती का स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ नहीं था तथा दोनों एक ही भाषाएं थी और यह रास वि० सं० १२४१ का है अतः प्राचीन राजस्थानी और गुजराती की पृथक्ता का प्रश्न विवाद का विषय ही बना है।

भरतेश्वर बाहुबली रास के कर्ता विद्वान् जैनाचार्य शालिभद्र हैं जो अपने समय के विख्यात कवि थे। भरतेश्वर और बाहुबली दोनों अत्यन्त प्रसिद्ध चरित नायक राजपुत्र रहे हैं। इन दोनों से सम्बन्धित अनेक वर्णन चरित-कथा आदि बहुत से पुराने ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाते हैं। अतः यह परम्परा अब तक मिलती है।

भरतेश्वर-बाहुबली पर रचित साहित्य

इस साहित्य की परम्परा ८वीं शताब्दी तक मिलती है। तथा कथा भी एक-सी है वर्णन तथा घटनाओं में परम्परा से भिन्नता भी मिलती है। कहीं भरत का वर्णन अधिक मिलता है और कहीं बाहुबली का। कुछ स्थल इस प्रकार है —

जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति नामक जैन उपाङ्ग ग्रन्थ में भरत क्षेत्र के साथ चक्रवर्ती भरत के ६ खण्डों की विजय का वर्णन है। भरत और बाहुबली का अधिकार वर्णन विमल सूरि कृत पउम चरिय में ५वीं शताब्दी में श्री संघदास गणि रचित वसुदेव हिण्डी[1] नामक प्राकृत की कथा में ऋषभ के साथ दोनों का वर्णन है। ७वीं शताब्दी की जिनदास गणि की प्राकृत भाषा की चूर्णि नामक व्याख्या में दोनों का चरित वर्णन है। दोनों के परस्पर युद्धों के वर्णनों का जिन ग्रन्थों में उल्लेख है वे हैं—रविषेणाचार्य का पद्मपुराण, धनेश्वरसूरि तथा १०वीं शताब्दी में जयसूरि कृत धर्मोपदेश माला के साथ-साथ जिनसेन के आदि पुराण[2], पुष्पदंत के त्रिसठि महापुरुष गुणालंकार तथा हेमचन्द्र के त्रिषष्ठि शलाका चरित (प्रथम पर्व) तथा सं० १२४१ के सोमप्रभाचार्य के कुमारपाल

१—वसुदेव हिण्डि—आत्मानन्द जैन ग्रन्थ माला ग्र० सं० ८० सं० मुनि चतुरविजय सं० १९८६ भावनगर जैन आत्मानन्द सभा द्वारा प्रकाशित।

२—माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला समिति द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ खण्ड १ पर्व ४ पृ० ६१–६२।

प्रतिबोध [1] और विनयचन्द्र सूरि कृत आदिनाथ चरित्र में मिलता है। परवर्ती साहित्य में १४वीं शताब्दी में जिनेन्द्र रचित पद्मानन्द महाकाव्य [2] सग (१६ १७) सं० १४०१ में मेरुतुङ्ग रचित स्तम्भनेन्द्र प्रबन्ध में, १४३६ के जय शेखर सूरि कृत उपदेश चिंतामणि की टीका में तथा सं० १५३० में गुणरत्न सूरि के भरतेश्वर बाहुबली पवाडा में तथा सं० १७१४ के निग हर्ष गणि के गुजराती "शत्रुंजय रास" में भरत बाहुबली का चरित्र वर्णित है।

वस्तुतः इन दोनों चरित नायकों के वृत्त बड़े ख्यात हैं और यह कथा परम्परा १८वीं शताब्दी तक मिलती है। इन बहिरंग प्रमाणों में इनकी कथा रूढ़ियों की निरन्तरता से अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। उक्त प्रमाणों से भरतेश्वर बाहुबली की कथाएं संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी (राजस्थानी-गुजराती) आदि सभी भाषाओं में विस्तार से मिल जाती है। ग्रन्थों में ही नहीं, भारत के विभिन्न मन्दिरों, तीर्थों, स्तूपों, चित्रों तथा अनेक स्मारकों के लिए भी बाहुबली आकर्षण के विषय रहे हैं। उदाहरणार्थ मैसूर के श्रवण बेलगोल में ५६ फुट के लगभग अद्भुत शिल्प कलामय बाहुबली की ध्यानस्थ खड़ी हुई प्रतिमा है। तथा आबू की सं० १०८८ की विमलवसही की शिल्प कला में भरत और बाहुबली युद्ध के दृश्य शिल्प चित्रों में दिखाए गये हैं। [3]

भरतेश्वर बाहुबली रास वीर-रस-पूर्ण प्रबन्ध है। या शान्ति और अहिंसा प्रेमी जैनाचार्यों का वीर और शृंगार रस से कोई सम्बन्ध नहीं मिलता परन्तु परम्परा के कारण उन्हें ऐसे काव्यों की रचना करनी पड़ी। रास में उत्साह रूप, स्वाभिमानपूर्ण उक्तियां तथा वीर रस का स्रोत उमड़ता है। इस रास की मौलिकता यह भी है कि यह प्रबन्ध युद्ध प्रधान व वीर रस पूर्ण होते हुए भी निर्वेदात है। जैन रचनाकारों ने विरोधी रसों का समन्वय बड़े कौशल से किया है। यहां तक कि यह बहुत ही आश्चर्यजनक तथ्य है कि रास या फागु जैसी शृंगार प्रधान रचनाएं भी निर्वेदात हैं।

प्रस्तुत रास में रचना स्थान कवि ने कहीं नहीं दिया है पर एतदर्थ गुजरात या राजस्थान के किसी भी युद्धवीर या युद्ध प्रेमी नगर की कल्पना की जा सकती है। राजस्थान तो या भी युद्ध वीरों का जन्मदाता और युद्ध प्रधान प्रदेश रहा है।

१—गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थ माला नं० १४ में प्रकाशित।

२—वही नं० ५८ में प्रकाशित (गायकवाड प्राच्य ग्रन्थ माला)

३—भरतेश्वर बाहुबली रास, श्री गांधी, प्रस्तावना पृ० ५३-५६।

कथा भाग

राम की कथा वस्तु संक्षेप में निम्नलिखित है –

जम्बूद्वीप के अयोध्यानगर में ऋषभ जिनेन्द्र के सुनन्दा और सुमंगला से दो पुत्र क्रमशः बाहुबली और भरत यशस्वी और पराक्रमी उत्पन्न हुए। भरत अग्रज थे। ऋषभदेव भरत को अयोध्या का तथा बाहुबली को तक्षशिला का राज्य सौंपकर विरक्त हो गए। उन्हें कैवल्य ज्ञान प्राप्त हो गया। जिस दिन उन्हें कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ भरत की आयुध शाला में 'दिव्य चक्ररत्न' उत्पन्न हुआ। भरत ने अपने पिता की वन्दना करके दिग्विजय प्रारम्भ की। आगे आगे चक्ररत्न पीछे पीछे सेना। अनेक राजाओं की विजय करके जब वे पुनः लौटे तो चक्र अयोध्यापुरी के बाहर रुक गया। भरत के मन्त्री ने इसका कारण उसके भाइयों का जानना के वश में न करना बताया। सब की दृष्टि बाहुबली की ओर उठ गई। भरत ने क्रुद्ध होकर बाहुबली को दूत के साथ अपनी अधीनता स्वीकार कर पैरों में प्रणाम करने को कहा। सौगात व उत्कोच मांगे। बाहुबली भी क्रुद्ध हो गये और कहा – ऋषभेश्वर ने जब सबको समान रूप से राज्य दिया है तब सब समानाधिकारी हैं और दूसरा भाई स्वयं अधीन रहे सम्भव नहीं है। दूत को उसने तिरस्कार कर वापस लौटा दिया। दोनों ओर से युद्ध की तैयारियां हुईं।

१३ दिन के भयंकर युद्ध में रक्त की नदी बह गई। तब भरतेश्वर की सेना में चन्द्रचूड और नभचूड विद्याधरों ने विनय की। इन्द्र ने आकर युद्ध बन्द कराया और कहा कि भाई भाई की पारस्परिक लड़ाई में सेना का संहार व्यर्थ हो रहा है। अतः अच्छा तो यह हो कि द्वन्द्व युद्ध होकर विजय का निर्णय हो जाय। जल युद्ध दृष्टियुद्ध (नेत्र युद्ध) और मल्ल युद्ध निश्चित हुए और तीनों में जब बाहुबली विजयी हुए तो भरत ने क्रुद्ध होकर उन पर मर्यादा तोड़ कर चक्ररत्न चला दिया। यद्यपि इससे उनकी कुछ भी हानि नहीं हुई पर वे चक्रवर्ती के इस व्यवहार से बहुत क्षुब्ध हुए और उन्हें विरक्ति हो गई। उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। युद्ध बार का निर्णय हो गया। राज्य-श्री उन्हें तुच्छ जान पड़ी। चक्रवर्ती भरत ने उनके चरणों में मस्तक रख कर असमयोचित कृत्य द्वारा सम्पन्न भूल को स्वीकार किया तथा क्षमा याचना की। पर बाहुबली को तो निर्वेद ने अपना लिया था। अनेक वर्षों तप करके वे कैवल्य ज्ञानी हो गये। भरत ने भी धूमधाम से नगर में प्रवेश किया। उत्सव हुए नगर तोरण सजाये गये। आयुधशाला में आकर चक्ररत्न भी शान्त हुआ और चतुर्दिक भरतेश्वर का यश छा गया।

" राम की कथा यही है। रचना अनेक छंदों में लिखी गई है और कुल मिला कर २०५ छन्दों में समाप्त हुई है। प्रबंध परम्परा का यह एक महत्व पूर्ण खण्ड काव्य है। सं० १२४१ का यह रास ग्रंथ उपलब्ध अनेक हिंदी रासा में सब से बड़ा है। इसके बाद इतनी बड़ी रास रचनाएं १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही मिलती हैं। यह प्राप्त कृतियों से स्पष्ट होता है। अस्तु २५० वर्षों के सं० १२४१ से १५०० तक के इतने बड़े काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों, तथा भाषा आदि का प्रतिनिधित्व यह अकेला रास करता है। प्रस्तुत प्रबंध खण्ड की रचना भास-सर्ग या पर्व आदि में विभाजित नहीं है। यों प्रबंध काव्य की परम्परा में ही कुछ भागों में विभक्त कर दिया जाता है। महाकाव्य सर्गबद्ध होते हैं [1]। प्राकृत में प्रबंध काव्यों के सर्गों का नाम 'आश्वास' [2] है। अपभ्रंश काव्यों में संधि [3] का प्रयोग हुआ है। संधि के प्रारम्भ में ध्रुवक और उसके आगे कुछ कडवक तथा प्रत्येक कडवक के बाद घत्ता रखा जाता था। कहीं कहीं प्रक्रम [4] नाम भी मिलता है। हिंदी-जैन-साहित्य के परवर्ती ग्रंथ रासों में भी ये नाम विभिन्न प्रकार से मिलते हैं। उदाहरणार्थ कच्छूली रास में वस्तु या 'वस्त, [5] जम्बू स्वामी चरित में कडवक, [6] एवं ठवणी (स्थापनी) समराराम में भास, [7] तथा पथड रास में ढाल, [8] नाम दिए गये हैं। इसके अतिरिक्त सर्गों के नाम काण्ड [9] व पर्व [10] भी मिलते हैं।

१—साहित्य दर्पण विश्वनाथ—"सर्ग बधो महाकाव्यो तत्रैको नायक सुर" ( ) पृ० ३०२-३।

२—सर्गा आश्वास सज्ञका—साहित्य दर्पण, पृ० ३०४-५।

३—साहित्य दर्पणकार ने इसे "कडवक" कहा है। पर वास्तव में यह संधि है। यह संधि कडवक समूहात्मक होती थी। 'कडवक समूहात्मक संधि' देखिए ना० प्र० प० वर्ष ५६, अङ्क १, सं० २०११।

४—देखिए सदेश रासक अब्दुल रहमान कृत भूमिका भाग।

५—प्राचीन गुर्जर काव्य, सं० मुनि जिन विजय, पृ० ५६।

६—जम्बू-स्वामी-चरित तथा प्रा० गु० का० सं०, पृ० ४१।

७—समरारासु मुनि जिन विजय कृत-जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य सचय पृ ११७

८—प्राचीन गुर्जर कवियो—मोहनलाल देसाई कृत तथा प्रा० गु० का० परिशिष्ट, भाग २४।

९—तुलसी कृत रामचरित मानस में बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड लंकाकाण्ड आदि।

१०—देखिये—महाभारत में शान्ति पर्व, युद्ध पर्व आदि नाम।

भरतेश्वर बाहुबली रास भी इसीतरह वस्तु, ठवणी, वाणि, [1] आदि में विभक्त होता चलता है। यद्यपि कथा में कहीं भी कविकृत सर्ग यति या समाप्ति नहीं है, फिर भी कथा का विभाजन, भरतकी दिग्विजय, भरत व बाहुबली का युद्ध, बाहुबली का दीक्षा ग्रहण आदि इन तीनों शीर्षकों में सरलता से किया जा सकता है।

प्रस्तुत रास के कर्त्ता श्री शालिभद्र ने रास का प्रारम्भ मंगलाचरण से ही किया है। कवि ने ऋषभ जिनेश्वर के चरणों में प्रणाम करके, सरस्वती का मन में स्मरण करके, गुरु पद वंदना के पश्चात् ही काव्य का प्रारम्भ किया है।

रिसह जिणेसर पय पणमेवी
सरसति सामणि मन समरेवी। नमवि निरंतर गुरू चरण

नाटकीय संलाप

रास में कई स्थलों में कवि की नाटकीय संवाद-योजना स्पष्ट होती है। संवाद बड़े प्रभावशाली और सरस हैं। यथा-मतिसागर भरतेश्वर-संवाद दूत-बाहुबली संवाद आदि संवादों में एक नाटकीय योजना है। पर्याप्त गेयता इष्ट तथा उत्साह है। कवि ने इनके द्वारा काव्य में अभिनय भंगिमा का समावेश किया है। दोनों संवादों के उदाहरण देखिए -

मतिसागर तिणि खत्त चक्क न पुरिं प्रवेसु करइ
तु नि अम्हारह राजि धुरि धरीय धारि धुरह [2] -(प्रश्न)
बोलइ मंत्रि मयंकु सम्मलि सामीय ! चक्कधर [3]

नवि मानइ तुय आणु बाहुबलि बिह बाहुबले

तिणि कारणि नर देव ! चक्क न आवइ निय नियरे [4] -(उत्तर)
इसी प्रकार दूत बाहुबली का संलाप उल्लेखनीय है -
दूत-दूत पभणइ दूत पभणइ बाहुबलि राउ
भरहेसर चक्क धर वहि न कवणि इन्वणि कीजइ

१-देखिए-भरतेश्वर-बाहुबली रास, श्री गांधी पृ० १६ २७ आदि।
२-भरतेश्वर-बाहुबली रास श्री गांधी पृ० १८, पद ४५।
३-वही पद ४७।
४-वही, पद ५०।

वेगि सुवेगि बोलिह सभलि बाहुबलि । [1] —(प्रश्न)
विण बधव सवि सपइ ऊणी, जिम विण लवण रसोइ ग्रलूणी ।
तुम बसणि उत्कंठित राउ, नितुनितु बाट जोह भाउ [2]
और दूत के यह कहने पर कि चला भरतेश्वर की अधीनता स्वीकार करो, नहीं तो वह तुम्हारा वध करेगा—बाहुबली तत्काल उत्तर देते हैं —
राउ जपइ राउ जपइ सुणिन सुणि दूत —(उत्तर)
जविहि लिहीउ भालयति तजि लोह इहलाइ पामइ

अरि रि ! देव न दानव महि मडलि मडलव मानव
काइ न सधइ लहीयालीह, लाभइ अधिक न ओछा दीह [3]

विविध वर्णना में नगर-वर्णन, सेना-वर्णन, दिग्विजय-वर्णन, शकुन वर्णन हाथी, घोडो, सवारो आदि के वर्णन मिलते हैं । इनके कई वर्णन ऊहात्मक और अतिशयोक्ति प्रधान है । शेष वर्णन साधारण हैं परन्तु उनकी भाषा मे पर्याप्त सरसता है । वीर रस प्रधान वर्णनो मे 'णित्व' और 'टकार'' प्रधान भाषा चलती है । इन वर्णनो में एक जोवट, ओज और जीवतपन है । शब्दो मे प्रवाह, सरसता, और उत्साहभरा है । शब्द चयन अनुप्रासात्मक है । कुछ वर्णन देखिए —

हाथियो का वर्णन—

(क) चलिय गयवर चलिय गयवर गहिर गजजत
(ख) गजउ फिरि फिरि गिरि गिहरि भजइ तरवर डालि तु
अकुश वस आवइ नहीय, करइ अपार जि आलि तु

घोडो व सवारो का वर्णन—

(क) हूफइ हसमस हण हणइ तरवरत हयघटट चल्लिय
(ख) फिरइ फेकारइ फोरणइ ए फुड फेणाउलि फार तु
तरणि-तुरगम सम तुलइ, तेजिय ताल तुखार तु
(ग) हीसइ हसमिसि हण हणइ ए, तरवर तारवोतार तु
खूदई खुरलाइ खडवीय, नइ मानइ असवार तु [4]

सेना वर्णन—कटक न कवणि हि भरह तणउ भाजइ भेडि भिडन्त तु
रेलइ रयणायरह जिमि राणा राणि न उतन्त तु

१—वही, पद ७८ ।
२—वही, पद ८३, पृ० २८ ।
३—वही, पृ० ८, वस्तु १६ ।
४—भरतेश्वर बाहुबली रास, श्री गाधी, पृ० १० ।

"शकुन" वर्णन भी लोक साहित्य की परम्परा को विकसित करता है। दूत का बाहुबली के पास जाना और रास्ते में लामड़ी, सियार, मृग, आदि का मिलन-वर्णन बड़ा ही चमत्कारपूर्ण है। शब्दों की अनुप्रासात्मकता उल्लेखनीय है —

क जो रथ जोताय जाय सुणि आग लिए नरवरह
फिर फिरि लाम्हड़ आइ वाम लुगाय काहिणी लगउ (पद ५६)
ख कानन-नाग विडाल आविय आडिड उतरह ग
जिमणउ जम विकराल सर सर सर-रव उच्चरय— (५७)
ग सूकाय वाम्ह डालि, रवि वयण सुररइ ग
सणीय भारम भार धूक पुकारहि लाहिणि ग— (५८)
घ जिमणइ गमइ विपालि फिरिय फिरिय निर फकरइ ग
ढावा य ऊलाव आलि भैरव भैरव रव करय ग—

इसी तरह बिल्ली गधा आदि पाद का आना, सूखी डाल पर भैरवि [पक्षी विशेष] का बोलना, लोमड़ी धूक [उल्लू का बोलना] और लामड़ी [सियार] का बार बार सामने फिर फिर कर अपशकुन करना आदि चित्रण यथार्थ है।

अनूठी उक्तियाँ

वीर रस की दर्प और उत्साह प्रधान उक्तियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं जिनमें जीवन के लिए पर्याप्त जीवट का समावेश है। स्वावलम्बन और स्वाभिमान पूर्ण कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

क परह आस किणि कारण कीजइ आप्प सइवर सिद्धि करीजइ
होउ अनइ नर हृ आधार एउ जि वीर तणउ परिवार [1]

[दूसरे की आशा क्यों की जाय? अपने से स्वयं ही सिद्धि को वरण करना चाहिए। पास में दृढ़ हृदय और हाथ में हथियार ही तो वीरों का परिवार होता है] कितना स्पष्ट स्वावलम्बन और पुरुषार्थ पूर्ण उक्ति है[3]।

ख सिर सरसग म पतग न रमाजइ नाइ नारि पणइ न नमाल्ह [2]
ग कोइ न रासर जिन्दिया लोइ।
घ मामाय विगमइ करम-विराउ —
ङ धिक धिक ए एय ससार।

१—भारतीय विद्या, वर्ष २, अङ्क ? पृ० ८, टकणि ८, पद १०६।
२—भरतेश्वर-बाहुबली रास, पृ० ६६ पद १४७।
३—वही ग्रन्थ, पृ० १८३, पद ८२।

प्रस्तुत रास मे गेयता है। वस्तु प्रवाह के साथ गेयता का मिश्रण रास का सौन्दर्य और बढा देता है। भरतेश्वर बाहुबली रास विविध रागो मे बधा है अत यह अनेक प्रकार से गाया जा सकता है। अधिक विस्तार से होने से समयाधिकता सम्भव है, परन्तु इसके प्रवाह को देख कर किसी भी वीर के भुजदण्ड फडक उठेंगे।

भरतेश्वर बाहुबली रास भाषा, रस व्यंजना, अलकार-योजना और छंद-योजना आदि की दृष्टि से भी पर्याप्त महत्व की कृति है।

भाषा विचार —भरतेश्वर बाहुबली रास की भाषा 'देसिल बयना सब-जन मिट्ठा' उक्ति की सार्थकता सिद्ध करती है। भाषा का शब्द चयन ध्वन्यात्मक और अनुप्रासात्मक है। अत काव्य की नादात्मकता स्पष्ट है। शब्द जैसे एक ही साचे म ढले ह। पुरानी गुजराती और पुरानी राजस्थानी दोनो ही विभाषाए इसे अपना काव्य कहती है। परन्तु अधिकाश शब्द राजस्थानी के ही है। साथ ही अपभ्रंश के परवर्ती रूपो का भी प्रभाव है। भाषा का कुछ परिचय इस प्रकार है –

उत्तर अपभ्रंश —रिसय, जिणेसर, नयर, भरह, पयड, चक्क, रयण, गयवर, आदि। क्रियाए –विज्जीय, मिल्लीय, चल्लीय, उल्लीय के साथ धूजीय, चालीय आवीय, चलिय आदि रूप सरल राजस्थानी के हैं।

राजस्थानी व जूना गुजराती —वात, परवस, थारो, कुमर, आणद धूजीय, गाजत, गणह, भणह, दडवडत, भडवडह, धडधडत, आगलि, निहाण, गयण, भाण, दलहि, भिड त, सिउ, तणो, गमो, डामो, जिमणइ, बिलाउ, मुजआण, लगु, पठवियइ आदि सज्ञा एव क्रियाओ के रूप।

पुराने शब्द —पणमयी, समरेवि, नमिवि, नरिन्द, वधवह, भणिपु, रासह, छन्दिहि रयणिहि, रासय, रासु, नितु, वाड, भडारु, नर आदि शब्द हेमचन्द्र के अपभ्रंश रूपो म शुद्ध प्रत्यय वाले शब्द है, पर साथ ही भाषा म नये शब्दो का भी समावेश अपभ्रंश के सस्कार से हुआ है।

नये शब्द —पय, वार, वरिस, हिव भातिहिं, साभलउ, गच्छ सिणगार, पाटधर, तीणि तणउ, फागुण, छन्दिहि आदि मे नूतनता का आग्रह स्पष्ट है।[1]

तत्सम शब्द —प्रस्तुत कृति म पुराने रूप धीरे धीरे कम होते गये है

१–देखिये–भरतेश्वर–बाहुबली रास–श्री गाधी।

और उनके स्थान में प्रयुक्त तत्सम शब्दों की आयोजना[1] द्रष्टव्य है यथा-चरित्र, मुनि, निरंतर, गुरु-चरण, अमर पुरी, गुण गण भंडार आदि।

प्रस्तुत रास की भाषा परिवर्तन के इन नियमों का तथा ध्वनियों आदि के परिवर्तन पर स्वतन्त्र रूप से भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा है। उक्त उदाहरणों द्वारा यह तो जाना ही जा सकता है कि भाषा सरल पुरानी हिन्दी है तथा प्राचीन राजस्थानी शब्दों की भरमार है। साथ ही अपभ्रंश अपना स्थान रिक्त करती हुई एवं तत्सम शब्द ग्रहण करती प्रतीत होती है। ११वीं शताब्दी की कृति भरतेश्वर बाहुबली रास महावीर उत्साह की तुलना में इस रचना की भाषा में पर्याप्त सरसता प्रतीत होती है। भाषा की सरलता के कुछ उदाहरण देखिए —

क हा पुत्र मरण हा कुल धार हा समरंगणि साहस धीर (१५४)

ख सामाय ! विमसउ करम विपाउ (१/७)

ग कहि कुण ऊपरि का जइ रागु। एक जि शीजइ रैवइ रागु (१५६)

रस-व्यंजना

भरतेश्वर बाहुबली रास में प्रधान रस वीर है परन्तु एक आश्चर्य यह है कि कवि ने वीरता की आड़ में शांत रस का समाहार किया है। यों भी कहें कि वीरता का उपशमन शम ने किया है। रास के निर्वेदपूर्ण अन्त ने संसार, राज्य, शरीर और श्री की नश्वरता पर प्रकाश डाला है। रास में भरत बाहुबली आश्रय आलंबन, युद्ध की तैयारियाँ एवं उत्तेजक वचन उद्दीपन तथा परस्पर दोनों पक्षों में उदित उत्साह स्थायी भाव है। सेना वर्णन, रण वर्णन, युद्ध तथा योद्धाओं के शारीरिक स्वरूप अनुभावों और संचारियों के प्रतीक हैं। वीर रस, वीभत्स रस तथा शांत रस के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

वीर रस —क हींसइ हसमस हणु हणइ तरवरंत हय थट्ट अनीय
पायक पयभरि रेन रयणीय मद गाल गस मणि मउड कुलाय

ख तउ कोपिउ कलकलिउ वीर कवाय कालानल
ककाड़ी विमरायाघा करिवार महाबल

ग बुढइ मिडइ भइहूरई सामि सडसड़इ सहा सहि

1-A definite tendency to replace Apbhramsa form of words by its sanskrit equivalent comes in to existence-Gujrati and its literature by Sri K M Munshi-page 86

घ कपिय विम्भर कोडि पडीय हरगण हडहडिया
मारइ मुरडीय मूछ माहि नभ मच्छर भरिया [1]

और भयकर युद्ध हुआ, रक्त की नदी बह गई तथा वीभत्स का परिपाक हमारे सामने हो जाता है।

वीभत्स रस —क उड्डीय खेड न सूझइ सूरनवि जाणीय सवार असूरवडई
मुहड धड धावइ धसी, सणइ हणा हणि हाकइ हसी
ख वहइ रुहिर नइ सिखर तरइ, टी टी टी रणि रापसु करई। [2]

(रुधिर की नदी मे तैरने वाले सिरो को देखकर राक्षसो की भयानक आवाजें कर प्रसन्न होना वीभत्स प्रस्तुत करता है)

शान्त रस —युद्ध के पश्चात् जब दोनो भाइयो म परस्पर "नेत्र युद्ध, जल युद्ध और मल्ल युद्ध होता है, तो भरत हार जाते हैं और क्रुद्ध हो बाहुबली पर चक्ररत्न से प्रहार कर बठते हैं। इस राज्य व दिग्विजय के लिए अमर्यादित कार्य को देखकर बाहुबली का निर्वेद हो जाता है और राम के वीर रस प्रधान सारे आलम्बन शान्ति म बदल जाते हैं। इस एकदम हुए परिवर्तन को विद्वान कवि ने बडे सभार से सजाया है जिसम कहीं भी रस दोष नहीं हो पाता। उदाहरण द्रष्टव्य है —

धिक धिक ए एय ससार धिक-धिक राणिम राज रिद्धि
एवडु ए जीव सहार, की धड कुण विरोध वसि [3]

अपनी पराजय जीव-हानि आदि बातो ने भाई का अपने ही सहोदर पर धर्म युद्ध के स्थान पर चक्र का प्रहार एकदम अधर्म युद्ध था। इसी अमर्यादित कृत्य ने ही बाहुबली के हृदय मे शम की सृष्टि करदी। वे दीक्षा ले लेते हैं। भरतेश्वर की आखें आसुओ से भर जाती हैं और वह उनके कदमो पर लेट जाता है—

सिरि वरि ए लाच करेउ काममि रहीउ बाहुबले
असुइ आखि भरेउ, तस पणमइ भरह भडो। [4]

उक्त उद्धरणो की भाषा सरल, पदावली सरस व छन्द गेयता प्रधान

१—भरतेश्वर बाहुबली रास, श्री गाधी पृ० ३८।
२—भरतेश्वर बाहुबली रास श्री गाधी पृ० १८१।
३—वही, पृ० ८२, ठवणि १४ पद १९३।
४—वही पृ० ८२ पद १९५।

है। इस में ओज और माधुर्य का समन्वय हो जाता है। काव्य में वीर रस की प्रधानता है परन्तु शृंगार को और भी सरस बना दिया है।

अलंकार

महाकवि चन्दबरदाई रासो का अलंकार योजना अद्भुत है। हा पुरुष म प्रथम युद्ध पद हा सं० १२८१ मे आगरा गुजरात। अनुप्रास यमक मय यार रस प्रधान युद्ध काव्य मे ऐसा महत्वपूर्ण रासा सम्राट की गाथा न लिया है। इस अनुप्रास प्रधान तो है ही।

गोरख पूरक अलंकार म यमक श्लेष रूपक आदि की योजना सुन्दर है। अनुप्रास तो रासो का प्रत्येक पंक्ति म लिपट रहा है। उपमा अतिरिक्त दृष्टान्त उदाहरण अतिशयोक्ति वक्रोक्ति आदि बड़ स्वाभाविक बन पड़े है। इस कारण म कवि का भाव कहा भी न स्पष्ट हो पाया है।

अनुप्रास १ छेकानुप्रास — ज्यो गगन घन घहर दुन्दुभि उग्गम जिमि गिरि शृंग तु
ग हागड़ हमिमि हगहगाड़
ग गररगाय आगार तु।

२ वृत्य — ज पखाय ग्पयर पखाय ग्पयर छुटि र गर्ज्जत

३ लाट तथा ⎫
४ यमक ⎭ — ग वद्दल जिगयर दम्म जिग्गयर पाय पग्गमति

५ श्रुत्यानुप्रास— ष लिगिलिगि गारत संगरद ग
ग घरा संगिम संगमरू।

६ श्रुत्यानुप्रास—न मणीय मणि मन ल्य मरान वर गिरि धरिय
न वनि सुरनि सु वानहि गंभीर वाणिनि।

यमक —प्रभग — र वनि सुरनि सु वानर न गर गर गर रत उड़वाय
समग — र संविय भारम भाति ग भेरव भरत रत करद ग

श्लेष — र वाम तुराय वान्निा तगुउ
न पिरिय पिरिय लिर पवन्हन।

सागस्वर — प वानन वान विमान।
न वानर मनि मयनु।

उपमा तथा उत्प्रेक्षा — व जिमि ग्ग्यायन गृहि निमि गिरि मोर्गनि मणि मनरा
न मन वनु कुन्दन कानि रनि गति मणाय गिरि पवन
ग चम्पौउ माणिर धम मानि वन्नउ वान्यने।
कवित्र जिसी य रस चमर हारि पानन चमर।

प्रतिशयोक्ति —(क) कंपिय पय भरि सेप रहिउ दिण साहि उन आइ तु
एवं प्रत्युक्ति   गिर डोनायइ धरणि हि ए टल टलीय दुक गिरि श्र ग तु।

दृष्टान्त तथा-(क) मढिय मणिमय दड मेघाडबर सिरि धरिय
उदाहरण   जस पयड भुय दड जयवन्ती जय सिरि समइए
(ख) विण बंधव सवि संपइ ऊणी जिमि विण लवण रसोइ अलूणी

इसी प्रकार व्यतिरेक, अपहनुति, विभावना आदि के उदाहरण भी मिल जाते हैं—

छद-योजना

आलोच्य रास की छद-योजना बड़ी विस्तृत है, पर प्रमुख छद 'रास' है। 'रास नया छद नहीं है। सस्कृत प्राकृत और अपभ्रश की छद-योजना पुरानी हिंदी मे पूर्णतया सुरक्षित है। विशेष तौर से हिन्दी ने तो अपभ्र श के कई छन्दों को अपनाया है। अपनाया ही नहीं, उन्हें दुलार कर अपनी सम्पत्ति ही बना लिया है। रास छद में अब्दुल रहमान ने पूरा सदेश रासक लिखा। श्री शालिभद्र सूरि ने प्रारम्भ म ही अपना छद-गत मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है।

प्रारम्भ—कु हिव पभणिसु रासह छदिहिं
ते जण मण हर मन आणदहिं- भाविहिं भवीयण सामलग्रो
और साथ ही रचना की समाप्ति पर भी —

अत— गुण गणह ए तणउ भडार सालिभद्र सूरि जाणीइ ए
कीधउ ए तीणि चरितु भरह नरेसर रासु छदिहिं

अत कवि का मन्तव्य तो रास छद के लिये स्पष्ट है, पर विद्वान् इस मत से सहमत नहीं। प्रारम्भ के अवतरणा म १६+१६+१३ और १६+१६+१३ मात्राओं की त्रिपदी मिलती है। इस प्रकार का मिश्र बध पूर्व कहा भी देखने में नहीं आया। नीचे की कड़िया सोरठा की हैं तथा 'तु' और 'ए' वर्णों के प्रयोग से ही रास छद की पहिचान की जा सकती है।[१] डॉ० ह० व० भायाणी रास मे अनेक छद मानते हैं जिनका उल्लेख रास परम्परा विवेचन मे पहिले किया जा चुका है। श्री अगरचन्द नाहटा 'रास' छद को अनेक छदों का मिश्रण स्वरूप नहीं मान कर एक स्वतन्त्र छद मानते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

१–आपणा कविओ, श्री के० का० शास्त्री, पृ० १६०।

रासाट की २१ मात्राओं का १८ मात्रा है। प्रमाण में वे सन्देश रासक का यह छन्द उद्धृत करते हैं—

'तू जि पहिय पिक्खविणु पिय उक्कंठिय
मयर मय मरला दयि उत्तावली चलिय
गुहमणहर मन्तिय चंचन रमणु भरि
कुइयि गिमिय रणझणति किंकिणि रव पसरि-'[1]

पर सन्देश रासक के इस छंद को प्रस्तुत रास छंद से मिलाने पर अन्तर दिखाई पड़ता है—

जम्बू ए वनन नाण राउ विहरइ रिसहेस सिउ ए
भाविउण भरह नरिंद मिउ परगहि भवमागुरिए

दोनों की मात्राओं में पर्याप्त अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि इस रास छंद का निर्माण सन्देश रासक के छंद से सर्वथा भिन्न है और सम्भवतः इसी भिन्नता के कारण श्री क० का० शास्त्री ने 'इस प्रकार का मिश्र बन्ध पूर्व देखने में नहीं आया' लिख दिया है।

डॉ० द्विवेदी लिखते हैं कि—'विरहांक ने अपने वृत्त जाति समुच्चय में दो प्रकार के रास काव्यों का उल्लेख किया है। एक में विस्तारित या द्विपदी और विचारी वृत्त होते थे और दूसरी में अडिल्ल पद्धति टक्कु और ढोसा छंद हुआ करते थे।[2] अतः यह सम्भव है कि प्रस्तुत रास छंद इन्हीं दो प्रकारों में से एक हो, यद्यपि द्विपदी इसमें भी मिलती है।

परन्तु इस रास छंद की निश्चयात्मक स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं प्रतीत होती सम्भावित स्थिति के आधार पर कवि की ही उक्ति का मूलाधार माना जा सकता है और तब इस छंद को 'रास' कहने में कोई आपत्ति नहीं लगती।

आलोच्य रास के छन्दों का परिचय इस प्रकार है —
सोरठा—मतिसागर । निसुणि काज करा न पुरि प्रवेसु करइ
तु जि मन्नारइ राजि धुरि धरीह धोरि धुरई

षडपद—चौपाई अडिल्ल का ही दूसरा रूप है—
चंद्रचूड विज्जाहर राउ निसुणि वातइ मनि वहइ विसाउ
हा कुल मंडन । हा कुलवीर । हा समरंगणि साहस धीर[3]

१–हिन्दी साहित्य का आदिकाल, श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०० ।
२–भरतेश्वर-बाहुबली रास श्री गांधी पृ० ६६ ।
३–वही, पृ० ३८, पद ६३ ।

वस्तु——एक प्रसिद्ध छद वस्तु का भी प्रचुर प्रयोग मिलता है।

५ चरणा के इस छद मे नीचे के दो चरणा की मात्राए ता दोहे की ही भाति २४ होती हैं। नीचे के दो चरण, लगता है कि, दोह की ही भाति है –

राउ जपइ राउ जपइ सुणि न सुणि दूत
भरह खड भूमि सरह भरह राउ अम्ह सहोदर
मंत्रि महाधर मडलिय, अतेउर परिवार
सामतह सीमाउ सह कहिन सुकुदान विचार

अन्तिम दो चरण बिल्कुल दोहा के ही है। इसके प्रथम चरण मं (SI) और १५ मात्राए, द्वितीय चरण तथा तृतीय चरणा मे १३+१५=२८ मात्राए होती है। मात्राओ की कुल सख्या ११६ हैं। प्रथम चरण की सात मात्राओ की प्राय आवृत्ति कर दी जाती है। उस अवस्था मे प्रथम चरण म २२ मात्राए हो जाती हैं।[1] वस्तु छद पर विचार करत हुए एक दूसरे विद्वान् न इसका सस्कृत नाम वस्तुक या वस्तु तथा अपभ्र न नाम वत्थुअ या वत्थु किया है। इसका दूसरा नाम रड्डा भी है। छद शास्त्र मे इसके अनेक भेद किए गये है। प्राचीन राजस्थानी साहित्य में विशेषत जैन साहित्य म इसका खूब प्रयोग हुआ है।[2]

इन छदो के अतिरिक्त गौण रूप म निम्नांकित छदो का प्रयाग भी हुआ है —

त्राटक या त्रूटक——इस छद क चरण भा ६ ही हात है—

वर वरइं सर्ववर वीर, आरेणि साहम धीर
मडलीय मिलिया जान, हय हास मगल गान

हय हास मगल गानि गाजिय, गयण गिरि गुह गुम गुमद
धम धमीय धरयल ससीय न सकइ, नस कुल गिरि कम कमई
थस थसीय धायइ धार धावलि, धार वीर विहडए
सामंत समहरि समु न लहइ, मडलीक न मडए[3] (१४५)
प्रस्तुत रास म यह छद कई बार आया है।

सारस्वती धवल —इस छ द को धवल भी कहत है। इसमे चार चरण होते हैं–
'राहोउ राउत जाइ पातालि, विज्जाहर विज्जा बलिहि

१–दखिये–राजस्थान भारती, भाग ४, अङ्क १, परिशिष्ट २, पृ० ८८।
२–भरतेश्वर-बाहुबली रास, श्री गाधी, पृ० ३८, पद ६३।
३–भारतीय विद्या, सम्पादक श्री मुनि जिनविजय, वर्ष २, अङ्क १, पृ० १४, पद १४५।

धस्स पहूचरा पूठि तिणि तालि, वारए वलवाय सहस नरवा
रे र रहि रहि सुग्रीउ राउ, जिसु जाइसि तिसु मारिसु ए
तिहुयण काइन अचर्य अनाम जय जापिम जीणइ जीवहए [1]

ठवणि—प्रस्तुत रास म ठवणि प्रयोग कई जगह आया है। जो संस्कृत स्थापनी शब्द का अपभ्रंश है। यह कोई छन्द विशेष नहीं है। मात्र नये छन्द की स्थापना करने या छन्द बदलने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

निष्कर्षत भरतश्वर बाहुबली रास में इतने ही छन्द प्रयुक्त हुए हैं। आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की रास परम्परा अन्य सब काव्य रूपों या काव्य परम्पराओं से भिन्न है। १३वीं, १४वीं और १५वीं शताब्दी के अनेक प्रकाशित, अप्रकाशित तथा अप्रसिद्ध रासों का अध्ययन आगे के पृष्ठों में प्रस्तुत किया जायगा। अनेक जैन भण्डारों में अद्यावधि उपलब्ध सैकड़ों जैन रासों में सबसे प्राचीन यही भरतेश्वर-बाहुबली रास है। इस सम्बन्ध में लेखक का एक शोध निबन्ध प्रकाशित भी हो चुका है। [2] रास का सरल और सुसम्पादित पाठ यहाँ दिया जा रहा है जिससे उसके काव्य-सौष्ठव का अध्ययन किया जा सकता है।

१–भरतेश्वर-बाहुबली रास, श्री गांधी, पृ० १५०।
२–हिन्दी अनुशीलन वर्ष अङ्क लेखक का भरतेश्वर-बाहुबली रास एक अध्ययन, शोधक लेख।

तिणि दिणि आउधसालह चक्को, आवीय अरोपण पडीय ध्रसहो
भरह विमासइ गहगहीउ ॥ १३ ॥

धनु धनु हू घर मडलि राउ, आज पढम जिणवर मुझ ताउ
केवल लच्छि अलकीयउ ॥ १४ ॥

पहिलु ताय पाय पणमेसो, राज रिद्धि राणिमा फल लेसो
चक्करयण तव अणमरउ ॥ १५ ॥

❀

वस्तु—चलीय गयवर चलीय गयवर, गडीय गज्जत
हू पत्तउ रासभरि, हिण हिणत हय थट्ट हल्लीय
रह भय भरि टल टलीय मेरु, सेसुमणि मउड खिल्लीय
सिउ मरुदेविहि सचरीय, कु जरी चडिउ नरिंद।
समोसरणि सुरवरि सहिय, वदिय पढम जिणंद॥
पढम जिणवर पढम जिणवर, पाय पणमेवि

आणंदिहि उच्छव करीय, चक्करयण वलि वलिय पुज्जइ
गडयड त गजकेसरीय, गरुय नद्दि गजमेह गज्जइ
वहिरीय अम्बर तूर रवि वलिउ नीसाणे घाउ
रोमचिय रिउ रायवरि, सिरि भरहेसर राउ ॥ १७ ॥

ठवणि १

अहि उगमि पूरवदिसिहिं, पहिलउ चालीय चक्क तु
धूजीय धरयंत धरहर ए, चलीय कुलाचल चक्क तु ॥ १८ ॥

पूठि पीयाणु तउ दियए मयवलि भरह नरिंद तु
पिंडि पचायण परदलह, हलियलि अवर सुरिंद तु ॥ १९ ॥

कज्जीय सयहरि संचरीय, सनापति सामत तु
मिलीय महाधर मडलीय, गाढिम गुण गज्जत तु ॥ २० ॥

गडयडतु गयवर गुडीय, जगम जिम गिरिश्रृंग तु
सु ड दंड चिर चालवइ, वलइ अगिहिं अङ्ग, तु ॥ २१ ॥

गजइ फिरि फिरि गिरि सिहरि, भजइ तरुवर डालि तु
अकुस वसि आवइ नही य, करइ अपार अणालि तु ॥ २२ ॥

हीसइ हसमिसि हणहणइ ए तरवर तार तोखार तु
खूदई खुरलइ खडवाय, मन मानइ असुवार तु ॥ २३ ॥

भरतेश्वर-बाहुबली रास

(शालिभद्र सूरि, सं० १२४१)

रिसह जिणेसर पय पणमेवी सरसति सामिणी मनि समरेवि
नमवि निरन्तर गुरु-चरण ॥ १ ॥

भरह नरिन्दह तणु चरितो, ज जुग वसहा—वलय वदीतो
बार वरिस बिहुँ बधवहं ॥ २ ॥

हुँ हिव पभणिसु रासह छंदिहि तं जन मनहर मन आणंदिहि
भाविहि भवीयण समलेउ ॥ ३ ॥

जम्बुदीवि उवझाउरि नयरा, धणि कणि कचणि रयणिहि पवरा
अवर पवर किरि अमर पुरो ॥ ४ ॥

भरह राज तहि रिसह जिणेसर, पावतिमिर भय-हरण दिणेसर
तजि तरणि कर तहि तपइये ॥ ५ ॥

नाभि सुनद सुमगल देवि, राय रिसहेसर राणी बवि
रुवरेहि रति प्रीति जिन ॥ ६ ॥

बिवि बेटी जनमी सुनन्द, तह जि तिहूयण मन आनन्द
भरह सुमंगल देवि तणु ॥ ७ ॥

॥ देवि सुनन्द नंदन बाहूबलि, भजइ भिडउ महाभड भुयबलि
अवर कुमर वर वीर धर ॥ ८ ॥

॥ पूवर लाख तणि तयामो, राजतणा परि पुहवि पयामी
जुग जुग मारग नाखाउ ए ॥ ९ ॥

॥ उवझापुरि भरहसर थापाय, तक्षशिला बाहूबलि आपाय
अवर अठाणु वर नयर ॥ १० ॥

दान दियइ जिणवर सवत्सर विसय विरत्त वहइ संजमभर
सुर असुरा नरि सवीइय ॥ ११ ॥

॥ परमताल पुरि केवल नाणु तस ऊपन्नू प्रगट प्रमाणू
जाण हवु भरहसरह ॥ १२ ॥

पाखर पखि कि पखरव्य, ऊडाउँडाहिं जाइ तु
हुँफइ तलपइं ससइं धसइ, जडइं जकारीय धाइ तु ॥ २४ ॥

फिरइं फेकारइं फोरणइं, फुड फेणाउलि फार तु
तरणि तुरंगम सम तुलइं, तेजीय तरल ततार तु ॥ २५ ॥

धडहडत धर द्रम दमीय, नह रूंधइ रहवाट तु
रव भरि गणइं न गिरि गहण, थिर थोभइ रहथाट तु ॥ २६ ॥

चमर चिंध धज लहलहइ ए, मिल्हइ मयगल माग तु
वेगि वहंता सीह तणइं ए, पायल न लहइ लाग तु ॥ २७ ॥

दडवडत दह दिसि दुसह ए सरिय पायक चक्क तु
अ गो अ गिइ अ गमइ अरीयणि असणि अणत तु ॥ २८ ॥

ताकइं तलपइं तालि मिलिहिं, हणि हणि हणि पभणंत तु
आगलि कोइ न अच्छइ भलु ए, जे साहमु झूझंत तु ॥ २९ ॥

दिसि दिसि दारक सचरीय, वेसर वहइ अपार तु
संख न लाभइ सेंन तणी, कोइ न लहइं सुधि सार तु ॥ ३० ॥

बंधव बधवि नवि मिलइ ए, न बेटा मिलइ बाप तु
सामि न सेवक सारवइ, आपहिं आप विथाप तु ॥ ३१ ॥

गयवडि चडीउ, चक्कधरो पिडि पयड भूयदड तु
चालीय चिहुदिसि चलचलीय दिईं देसाहिव दड तु ॥ ३२ ॥

वज्जीय समहरि द्रम द्रमीय, घण निनाद निसाण तु
सकीय सुखरि सग्ग सवे, अवरह कमण प्रमाण तु ॥ ३३ ॥

ढाकढूक ववक्क भणइ ए, गाजीय गयण निहाण तु
घड घडह पंडाहिवह, चालतु चमकीय भाण तु ॥ ३४ ॥

भेरीय रव भर तिहुँ भूयणि, साहित किमइ न माइ तु
कंपिय पय भरि शेष रहिउ, विण साहीउ न जाइ तु ॥ ३५ ॥

सिर डोलावइ धरणि हिं ए दूक टोल गिरि शृंग तु
सायर सयल वि झलझलीय, गहलीय गग तुरंग तु ॥ ३६ ॥

खर रवि खूदीय मेहरवि महिपति मेहधार तु
उजू आनइ आउध तणइं चालइं राय-खधार तु ॥ ३७ ॥

मडिय मंडलवइ न मुहे ससि न वइ सामत तु
राउत राउतवर रहीय, मनि मूझइं मतिवत तु ॥ ३८ ॥

भरहेसर न धनगिरिहिं भर तणु, माजइ भेरि भिडत तु
रैनइ रयणायर जमन, रागोरागि नमत तु ॥ ३९ ॥

साठि सहस सवच्छरई भरतेस सरह छ खण्ड तु
समरांगणि साधइ सयर, वरनइ माग प्रचण्ड तु ॥ ४० ॥

बार वरिस नमि विनमि, भड भिडीय तालाताय माग तु
पाताली तहि गग तणइ पामइ नवह निहाण तु ॥ ४१ ॥

छत्रीस सहस मउड्ध मिउ, चउद रयण सम्पत तु
आविउ गगा भोगवीय, एम सम्म वरसाउ तु ॥ ४२ ॥

ठवणि २

तउ तिहि आग्ध मान आवइ आग्धरा नवि
तिणि त्रिणि मगि सूरान भरह भय नारावइमो ॥ ४३ ॥

वारिरि वन्ध अगानि अत्रू मारायाग्ननिमि वरइ
अनि उनपात अवानि, सागर न वरि नावडु ॥ ४४ ॥

मति सागर विणि वानि चक्र त (न) पुरि पवम करइ
तइ जि अम्बाइ इ राजि धाराय धर धरीउ धरह ॥ ४५ ॥

व रि धमाट ए धवणि रि मानव मानर्निहि
गउ आम्रि न सुम भड वयराय वार न नाहि ॥ ४६ ॥

वानइ मत्रि सयर सभनि सामीय घर धरो
अवर न वाइ वड चनरयण ा तणउ ॥ ४७ ॥

संवाय सुरवर सामि भरतेसर नूय नूय भवणे
नाम नि सुणाय नामि दानव मानव वहि ठवणि ॥ ४८ ॥

नवि मानइ नूम आण या नि न्हि वाहुबले
धीर वयर विनाण विसमा व वीर वरा ॥ ४९ ॥

तीणि वारणि नरेन, चक्र न आवइ नीय नयरे
विण वधव नृप मन गह का सामीय माचवइ ॥ ५० ॥

त ति सुणीय नाग नानि वगउ रा मराम भर
ममइ चनाय भानि पभण मानि मूढि मू ॥ ५१ ॥

जुन मान मम आण ववण सु पीइ वाहुबल
नानह नमु राण भन भुज भारि भिपि ॥ ५२ ॥

स मति-सागर मति, वलि वसुहाहिव वीन वइ
नवि मनि कीजइ खति, बंधव सिउ कहि कवण बला ॥ ५३ ॥
दूत पठावीयइ देव, पहिलउ वात जणावीइ ए
जु नवि आवइ देव, तु नरवर कटवई करउ ॥ ५४ ॥
तं मनि मानीय राउ, वेगि सु वेगह, आ॰-सइए
जईय सुनंदा-जाउ, आण मनावे आपणीय ॥ ५५ ॥
जां रथ जोत्रीय जाइ, सुजि आऐसिहि नरवरह
फिरि फिरि साहमु थाइ, वाम तुरीय वाहणि तणउ ॥ ५६ ॥
आजल-काल बिराल, ॱआवीय आडिहि उतरइ ए
जिमणउ जम विकराल, खरू खु रव उछलीय ॥ ५७ ॥
सूकीय बाउल डालि, देवि बइठीय सुर करइ ए
झपीय झाल मझालि, घूक पोकारइ दाहिण ओ ॥ ५८ ॥
डावीय डगलइ सादि, भयरव भैरव खु करइ ए
जिमण इ गमइ विषादि, फिरीय फिरीय शिव फेकरइ ए ॥ ५९ ॥
वट जखनइ कालीयार, एकउ बेहु उतरइ ए
नोजलीउ अगारॱ-सवरता साहमु हुइ ए ॥ ६० ॥
काल भुयंगम कान, दतीय दमण दाखवइ ए
आज अवूटउ काल, पूटउ रहि रहि इम भणइ ए ॥ ६१ ॥
जाइ जाणी दूत, जीवह जोधि, आगमइ ए
जेम भमतउ भूत, गिणइ न गिरि गुह वण गहण ॥ ६२ ॥
सईड नेसमि वेस न गिणइ न॰ दह नोझरण
लघीय देस अनेम गाम नयर पुर पाटणह ॥ ६३ ॥
बाहिरि वहूय आराम सुरवर नइ ताॱ नाभरण
मणि तारण अभिराम रेहइ धवलाय धवलहरो ॥ ६४ ॥
पोयण पुर दीसति दूत सुवेग सु गहरा हीउ
व्यवहारीया वसति, धणि कणि कचणि मणि पवरो ॥ ६५ ॥
धरणि तरणि ताडंक, जेम तु ग गिगढु लहइ ए
एह कि अभिनव लंक सिरि कोसीसा कणयमय ॥ ६६ ॥
पोढा पालि ॱ,पगार, पा॰ पार न पामीइं ए
संख न सोहइ यार, दीसइं देउल दह दिसिइ ॥ ६७ ॥

पेखवि पुरह प्रवसु, दूत पहूतउ रायहरे
सिउ प्रतिहार प्रवसु पामीय नरवर पय नमइ ए ॥ ६८ ॥

चउकीय माणिव थंभ माहि वइठउ बाहुबले
हरषिहिं जिसीय रंभ, चमर-ढारि चालई चमर ॥ ६९ ॥

मटीय मणिमइ दंड, मेघाडम्बर सिरि धरिय
जस पयडे भूयदंडि, जयावती जयसिरि वसइ ए ॥ ७० ॥

जिम उदयाचलि सूर, तिम सिरि सोहइ मणिमुकुटो
मगतुरीय कुसुम कपूर, कुचू वरि महमहइ ए ॥ ७१ ॥

झलकइ ए कुंडल कानि, रवि ससि मंडीय किरि अवर
गंगाजल गजदानि, गाढिम गुण गज गुहगडइ ए ॥ ७२ ॥

उरवरि मोतीय हार वीरवलय करि झलहलइ ए
तवन अंगि सिणगार खलक ए टोडरवाला ॥ ७३ ॥

पहिरणि जादर चीर ववानइ करिमाल कर
गुरुउ गुणि गमीर, दीठउ अवर वि चक्रधर ॥ ७४ ॥

रंजिउ चिंति सु दूत दसीय रणिम तसु तणीय
धन रिसहसरपूत जयवतु जुगि बाहुबले ॥ ७५ ॥

बाहुबलि पूछइ कुवण, काजि तुहिं आवीया ए
दूत भणइ निज काजि भरहेसरि अम्हि पाठव्या ए ॥ ७६ ॥

वस्तु—राउ जपए, राउ जपइ सुणि न सुणि दूत
भरहभड भूमीसरह, भरह राउ अम्ह सहोयर
सवाकोडि कुमरिहिं सहाय, सूरकुमर तहिं अवर नरवर
मंति महाधर मंडलिय अतउरि परिवारि
सामतहमीमाड सह कहि न कुसल सविचार ॥ ७७ ॥

दूत पभणए, दूत पभणइ, बाहुबलि राउ
भरहसर चक्रधर, कहि न कवणि दूहवणह विज्जइ
जिहु तहु वधव तुय सरिसगहयड त गज भीम गज्जइ
जइ अधारइ रवि किरण, भड भजइ वर वीर
तु भरहेसर प्रमर भरि जिप्पइ माहरी धीर ॥ ७८ ॥

ठवणि ३

वगि सुवेगि सु कुल्लइ, सम्भलि बाहूबलि

राउत कोइ तुह तुल्लइ, ईंगिइ अबइ रवितलि ॥ ७६ ॥

जा तव बंधव भरह नरिंदो, जसु मुइ रूप सग्गि सुरिंदो
जीणइ जीता भरह छ खड, म्लेच्छ मनाव्या प्राण अखड ॥ ८० ॥

भडि भडत न भुयबलि भाजइ, गडयडतु गढि गाढिम गाजइ
सहस बतीस मउडाधा राय, तू य बधव सवि सेवइ पाय ॥ ८१ ॥

चऊद रयण घरि नवइ निहाण, सख न गयघडु जसु केकाण
हूय हवडा पाटह अभिषेका, तू य नवि आवीय कवण विवेका ॥ ८२ ॥

विण बंधव सवि सपय ऊणी जिम विण लवण रसाइ अलूणी
तुम देसण उतकठिउ राउ, नितु नितु वाट जोइ तुह भाउ ॥ ८३ ॥

वडउ सहोयर भनइ वड वीर, देवज प्रणमइ साहस धीर
एक सीह अनइ पाखरीउ, भरहेसर नइ नइ परवरीउ ॥ ८४ ॥

ठवणि ४

तु बाहूबलि जपइ कहि वयण म काचु
भरहेसर भय कपइ, ज जगतु साचु
समरगणि तिणि सिउ कुण काछइ, जहि बंधव मइ सरिसउ पाछइ
जावत जबुदीवि तसु आण, ता अम्ह कहीइ कवण ए राण ॥ ८६ ॥

जिम जिम सुजि गढ गाढिम गाढउ, हय गय रह वरि करीय सनाढु
तस अरधासण आपइ इ दो, तिम तिम अम्ह मनि परमाणंदो ॥ ८७ ॥

अुन आव्या अभिषेकह वार, तु तिणि अम्ह नवि कीधा सार
वडउ राउ अम्ह वडउ जि भाई, जहिं भावइ तिह्रा मिलिसिउ जाइ ॥ ८८ ॥

अम्ह ओलगनी वाट न जोई, भड भरहेसर किकर न होइ
मझ बधव नवि फीटइ कीमइ लोभीया लाक भणइ लख ईम्हई ॥ ८९ ॥

ठवणि ५

थालिम लाइसि वार बंधव भेटीजइ
चूकि म चीति विचार मूय वयण सुणीजइ ॥ ९० ॥

वयण अम्हारू तूय मनि मानि, भरह नरेसर गणि ठाजदानि
संतूठउ दिइ कवण भार, गयघड तेजीय तुरल तुषार ॥ ९१ ॥

गाम नयर पुर पाटण आपइ, देसाहिव थिर थोभीय थापइ
देय अदेय न दतु विमासइ, सगपणि कह नवि किंपि विणासइ ॥ ९२ ॥

जाण राउ आवगिउ आगइ, माणगहार विराधिइ मारइ
प्रतिपन्नउ प्रगट प्रति पालइ प्रारंभिउ नवि अद्धी विसरालइ ॥ ९३ ॥

तिणि सिउ दव न काजइ ताडउ, गुजि मनाविइ माडम भाडउ
हूं हितकारणि कहूं सुजाण कूड़ कहूं तु भरहेसर आण ॥ ९४ ॥

वस्तु

राउ जंपइ, राउ जंपइ सुणि न सुणि दूत
सर्विहिं सहोअर मानहनि त जि साप भवि भविहिं पामइ
ईमइ नीसत नर ति (नि) सुण, उतमाग जण जणह नामइ
बम पुरन्दर सुर असुर तिह न लथइ कोइ
लभइ अधिक न उग पणि भरहेसर मुण हाइ ॥ ९५ ॥

ठवणि ६

नेगि निवसित रगि घरि मंन्दिरि जति थनि जंगलि गिरि गुन्ह कन्दरि
ग्गिगि ग्गिगि देसि देसि दीपतरि सहाउ लामइ जुगि सचरा चरि ॥ ९६ ॥

अरिरि दूत सुणि देवन दानव, महिमडलि मंडल वेमानव
कोइ न लघइ लहीया लीह, लाभइ अधिक न उद्धा दीह ॥ ९७ ॥

धण कण कंचण नवइ निहाण, गयघड तेजीय तरल केकाण
सिर पारवस सरतंग गमीजइ, ताइ निमत्त पणइ न नमीजइ ॥ ९८ ॥

ठवणि ७

दूत भणइ न्हुभाई पुव्विहिं पामीजइ
पइ लागीजइ भाई अम्ह कहाउ कीजइ ॥ ९९ ॥

अवर अठाणू जु जई पहिलू मिलसिइ तु तुम मिलिउ न सयलु
बहि विनय गुण कारणि काजइ आम म निगमि वार वनाजइ ॥१००॥

बार वरसह वरसण घनीजइ ईणि कारणि जई बहिला मिलाइ
जाइ न मन सिउ वात विमासी, भागइ वाल्प वात विणासा ॥१०१॥

मिलिउ न विहा मन्क मेलावइ तउ भरहेसर तइ तेणावइ
खाण रमे कोइ मूक करे सिर सहू काइ भरह जि हियडइ परेसिइ ॥१०२॥

गार्जता गाढिम गज भीम, त सवि देमह लीधा सीम
भरह अछइ भाइ मोनावउ, तउ तिणि सिउ न करीजइ दावउ ॥१०३॥

वस्तु

तव सु जपइ तव सु जपइ, बाहूबलि राउ
अप्पह बाह भजा न बल,• परह श्राम कहइ कवण कीजइ
सु जि मूरख अजाण पुण अवर दखि वरवयइ ति गज्जइ
हु एक्लउ समर भरि, भड भरहेसर धाइ
भजउ मुजबलि रे भिडिय, भाह न भडि न धाट ॥१०४॥

ठवणि ८

जइ रिसहेसर केरा पूत, अवर जि अम्ह सहोयर दूत
ते मनि मान न मेल्हइ कीमइ, आनईयाणम भखिपि ईम्हइ ॥१०५॥
परह आम किणि कारणि कीजइ, साहस सर वर सिद्धि वरीजइ
हीउ अनइ हाथ हत्थीमार, एह जि वीर तणउ परिवार ॥१०६॥
जइ कीरि सीह सियालिइ खाजइ, तु बाहुबलि भूयबलि भाजइ
जु गाइ वाघिणि पाई जइ, अर दूत तु भरह जि जीपइ ॥१०७॥

ठवणि ९

जु नवि मनसि आण, बरबह बाहूबलि
लसिइ तु तू प्राण, भरहसर भूयबलि ॥१०८॥
जस छनवइ कोडि छइ पायक, कोडि बहुत्तरि फरकइ फारक
नर नरवर कुण पामइ पारा सहा न सकीइ सेना भारो ॥१०९॥
जीवता विहि सहू सपाडइ, जु तुडि चडिसि तु चडिउ पवाडइ
गिरि कदरि अरि छपिउ न छूटइ तू बाहबलि मरि म अखूटइ ॥११०॥
गय गद्दह हय हड जिम अन्तर सीह सीयाल जिसिउ पन्तर
भरहेसर अनइ तूय विहरउ, छूटिसि किम्हइ करत न निहरु ॥१११॥
सखसु सु पि मनावि न भाई कहि कुणि कूडी कूमति विलाइ
मु भि म मूरख मरि न गमार पय पणमीय करि करि न समार ॥११२॥
गढ गजिउ भड भजिउ प्राणि, तइ हिव सारइ प्राण विनाणि
अरे दूत बोली नवि जाण, तु ह आव्या जमह प्राण ॥११३॥
कहि रे भरहेसर कुण कहीर, मह सिउ रणि सुरि असुरि न रहीइ
जे चक्किइ चक्रवृति विचार, अम्ह नगरि कू भार अपार ॥११४॥
मागणि गणा तीरि रमता धसमस धू धनि पडीय धमता

तइ उतारीय गयणि पट तउ, कल्पणा करीय घना मालतउ ॥११५॥

त परि काइ गमार वीमार, तु तुहि घरिमा तु जाणिगि सार
जउ मउण्या मउड उतारउ, माहिक रिम्नि जुन स्पगप सारउ ॥११६॥

जउ न मारउ मरहगर राउ, तउ माजइ गिम्गर ताउ
मट मरहगर जर्ग जगार हय मय गह दर वगि घनार ॥११७॥

वस्तु

दूत जाप दूत जाप गुणि न गुणि राउ
तह न्विम परि म न गिणमि गग-नीरि मिल्लेत जिणि न्गिगि
घल्लंतइ न्त भारि जगु, मम माम सतगनइ पभि मगि
ईमई माण म मानि रगि, मरहगर छद दूरि
मारातू येडिउ मण कानि उगत मूरि ॥११८॥

दूत घल्लिउ दूत घल्लिउ कन्नाय न्म जाम
मनिगरि घितविउ, नु पमाउ दूतह न्विारए
मवर धरागू कुमर वर, वाइ माग पन्तु पधारए
तह न मनिउ मानिउ वनि मरहगरि पामि
मम्हई य मामिय गंधिवन बधतगिउ म विमानि ॥११९॥

ठवणि १०

तउ कापिहि कनकराउ कान क य कारा नउ
केकारइ कागवायउ करमान महाबल
कानए कनयनि कनगनत मउडाया मिलीया
कनह तणइ कारणि परान कार्पिहि पमजराया ॥१२०॥

हउय कानान्त गहगहाटि गयणगणि गज्जिय
गंधरिया मामत गुण्ड मामहगाय मजीय
गहयह त गय गन्नाय गेनि गिरिवर गिर ढानइ
भूगनीया भुनगए चनत करिय उनानइ ॥१२१॥

जुडइ भिडए मल्लठए मनि महमडइ सहामहि
घाणाय घूणाय धामवइ न्नूमनि न्नान [नडा] हि
मुरतनि लागि मगति मनि तजाय तमरिया
समइ धमइ धममसइ मानि पमगइ पाखरिया ॥१२२॥

कंधगन केंकाण कवा परहइ कडीयानी

रणरणइ रवि रण वज्जर मरवर घण घाघरीयाली
सीधाणा वरि सरइ फिरइ गरइ फारारइ
उडइ माडइ मसि रमि असवार विचारइ ॥१२३॥

थसि थामइ थड़हड़इ धरणि रथि सारथि गाढा
जडीय जाध जडजाड जरम् मयाहि सताडा
पसरिय पायल पूर यि गुण रलीया रयणार
लाह वहर वर वीर वयर वहुवटिइ मवायर ॥१२४॥

रमणीय रवि रण तूर तार त्रवक वह गहीया
ढार ढूव ढम ढमीय ढाव राउत रहरहीया
नेच नीषाण निनादि नीभरण निरभीय
रण भेरी भुंकारि भारि भूयवर्त्तिहि वियभीय ॥१२५॥

चल चमाल करिमान धुस वडतत्र वाजइ
झलवइ सावल सवर सेल हव मसल पयंउ
भागिणि गुण टंकार महिल वाणावलि तणइ
परशु उलालइ यरि धरइ भारा उलालइ
तीरीय तोमर भिडमाल डवतार वमबध
मागि सक्ति तरुमारि छुरीय मनु नागतिवध
हय खर रवि उछलीय खह छाईय रविमंडल
धर धूजइ कलकलीय कोल कापिउ काहंगल
टरटलीया गिरिटंक टोल खेचर खरभलीया
कडडाय कूरम कधसंधि सायर झलहलीया
चलीय ममहरि सेस मिसु सलसलीय न सक्कइ
कचण गिरि कधार भरि वमकमीय वमक्कइ ॥१२८॥

कपीय किंनर काडि पडाय हरगण हडहडीया
सकिय सुरवर समि सयन दाणव दडवडीया
अति अलब लहक्कइ प्रलब वल विंध चिहु दिसि
सचरिया सामत सीस सीकिरिहिं वसाकसि
जाईय भरह नरिंद कटक मूछह वल घल्लइ
कुण बाहुवलि जे उ तरव मइ मिउ बल बुल्लइ
जइ गिरि कदरि विचरि वीर पइसतु न छूटइ
जइ धन्नी जगलि जाइ किम्हइ तु मरइ मखूटइ ॥१३०॥

गज साहणि सचरीय महुणर वलाय पायणपुर

वाजींय वूब न वन्कायन बाहूबनि नरवर
तमु मतिमनि मरछ गाढ संभारीउ माछु
ए अविमासिउ किउ काइ धारजि तइ काछु ॥१३१॥

वधव मिठ नरवार काइ म्म अतर आवइ
नह बधव नीय जाव जम वहि काइ न लम्भइ
तन मनि चितइ राय किमिउ ग्य कार पराठीढ
आनरी उवनि वार राउ रनाउ अवागीठ ॥१३२॥

गय आरााया गज-गजत आवइ हय लाम
हुइ हममम मरन्राय वरा आवाम
एकि निरतर वहट नार एकि ईधणु आणुई
एक आनमिइ परतणु पाणु आणिउ तृणु ताणुइं ॥१३३॥

एकि उन्नारा कराय तुरीय तनमार वाधर
इकि मरहइ कशाणु माणु इकि धार रायड
इकि मार्गीय नर नारि तीरि तनीय वानावड
एकि वारु अमवार मार माल्गणु वनावइ ॥१३४॥

एकि आतुनाया तारि तरन तहि सर्वीय मरावइ
एकि गूढर माल्गणु मुन्न पडरा निवरावड
मारीव मामि न मामि आणिजिणु पूज पगामर
समनुराय कुडुम कपूरि नन्दनि वनवामर ॥१३५॥

पूर कराउ चफरयणु राठ, वरम्न नू जाई
वाजीय मम्र अमम्र गाउ आन्या मवि धाई
मदनवर मदस्थ भु (मु ?) हह नामर मामतह
मर हथि निपइ तबान वगुय वंचगु मलवनट ॥१३६॥

वस्तु

दून चनाउ दूत चनाउ, बाहूबलि पामि
नगुइ भूर नरवर नि मुणि, मरछ रान पयमव वाजइ
नार्हिन नाम न कवीणु रणि, एन निनत भून मारि मज्जइ
जर नवि मूरम एह वर्णी, मिरवरि आणु वहमि
मिउ परिवरिइ ममर नरि, मट्टर मयरि महमि ॥१३७॥

राउ बुल्नर, राउ बुल्नर मुणि न मुणि दूत
नार पाय पणमतय मुन वधव अनि मरछ मज्जइ

तु भरहेसर तसतगोय, वहि न कोम प्रम्हि सुर रिज्जइ
भारिइ भूयवलि जुन भिडउ, भुज भुज मडिवाउ
तउ लज्जइ तिहूयण धणा, सिरि रिसहेसर ताउ ॥१३८॥

ठवणि ११

चलीय दूत भरहसरह तेय वात जणावइ
कोपानलि परजलीय वीर साहण पलणावइ
लागी य लागि निनादि वादि प्रारति असवार
बाहूवलि रणि रहिउ रोसि माडिउ तिणिवार ॥१३९॥

ऊड कडारण रणत सर बेसर फूटइ
अतरालि आवइ ई याण तीह अ त असूटइ
राउत राउति याध-याधि पायक पायक्किहिं
रहवर रहवरि वीर वीरि नायक नायक्किइ ॥१४०॥

वेढिक विढइ विरामि सामि नामिहि नरनराया
मारइ मुरडीय मूछ मेच्छ मनि मच्छर भरीया
ससइ मसइ धसमसइ, वीर धड वड नरि नाचइ
रापस रोरा रव करति रुहिरे सवि राचइ ॥१४१

चापीय चुरइ नरकराडि भुयबलि भय भिरडइ
विण हथयार कि वार एक दातिहिं दल करडइ
चालइ चालि चम्माल चाल करमाल ति ताकइ
पडइ चिंध भूभइ कबध सिरि समहरि हाकइ ॥१४२॥

रुहिर रलितहिं तरइ तुरग गय गुडीय अमूभइ
राउत रण रसि रहित बुद्धि समरंगणि सूभइ
पहिनइ दिणि इम भूभ हवु सेनह मुख मडण
सध्या समइ ति वारगु ए करइ भट बिहु रण ॥१४३॥

ठवणि १२—हिव सरस्वती धउल
तउ तहिं बीजए दिणि सुविहाणि, उठीउ एक जी अनलवेगा
सइवड समहरे वरम ए बाणि, छयल सुत छलियए छावड़ ए
अरीयण अ गमइ अ गाअ गि राउ तो रामति रणि रमइ ए
लडसड लाडउ चडीय चउरगि आरयणि सयवर वरइ ए ॥१४४॥

त्रूटक

वरवरइ सयवर वीर आरेणि साहस धार

मंढनीय मिनिया जान, हय हीम मगन गान
हय हाम मगन गानि गानाय गयगु गिरि घुर घुमघुमइ
घमघमीय घरयन समाय न मरइ मन कुलगिरि थमथमइ
धस धसाय धायइ धारधा वनि धार वार विन्हए
सामत समहरि समु न रहद मडराव न मडए ॥१४५॥

घटन

मडए माजए महियनि रा नाडिन गन धड टारव ए
पिढिनर परदत प्राय भड धन नरनए नाचवइ ए
झाल ककार ए वरि वरमार मानग नूर्मिहि मनहरइ ए
भाजए भड घ निन गन गात पचारग गिरि गटघड ए ॥१४६॥

अटन

गडयन्द नन्नि माहु आरणि अकन अबीह
घममनाय हयन धाय मटन्डइ भय भडिवाइ
मडन्हडइ भय मटनाय नुन्वनि भराय हुन निन भीमरी
तहि चन्द्र चूनह पुन परन्नि अपित नरवइ नर नरवरी
बमसनीय नग्गु वीर बीमनू नन मर निसान ए
रटु रटु र हरि हरि भगनू भ्रवड पायन पान ॥१४७॥

घटन

पाडीय मुखय सणावए दन्त पूठिहि निहाय रणरणाय
मूर कुमारह राट पन्वन निग्गए नूपन्ड बग
नयगिहि निरसीय कुपीपट रान चक्करयणु उठ नभरइ ए
मेल्हइए तह प्रति प्रति भक्रमाउ भनलवना तहि चितवइ ए ॥१४८॥

मूरत

चितवन्ति मुन्नह रान जा मन उपून्ऊ भाउ
हिव मरगु एन नि माम रजइन चक्कवृति जाम
रजन्नद चक्कवृति नाम इम भणि चक्कु कुट्टिहि पडवना
सचरिउ मूरन मूर मडनि चक्कु पुन्वर तनि वना
पडनडाय नग्गु चन्द्र चून्नु, चन्द्रमडन मार ए
मनन्नीद कानि नमाणि तुट्टिहि, चक्क तहि तहि राह ए ॥१४९॥

घटन

राठीड रान जाइ पातानि विनाटर विज्जा बहिहि

चक्र पहूचए पूठि तीणि तालि बोलए वलवीय सहस जसो
रे रे रहि रहि कुपीउ राउ, जितु जाइसि जितु मारिवु ए
तिहूयणि काइ न अछइ उपाय जय जोयिम जीणइ जीवीइ ए ॥१५०॥

त्रूटक

जीविया छडीय मोह, मनि मरणि मेल्हीय मोह
समरीय तु तीणि ठामि, इकु आदि जिणवर सामि
[इकु आदि जिणवर सामि] समरीय, वज्जपजर अणुसरइ
नरनरीउ पायलि फिरीउ तस सिरू, चक्र लेइ सचरइ
पयकमल पुज्जइ भरह भूपति, बाहुबलि बल खलभलइ
चक्रपाणि चमकीय चीति नरपति, कलह कारिणि किलगिलइ ॥१५१॥

धउल

कल गिलइ चक्रधर सेन सग्रामि बोलए कवण सु बाहुबले
तउ पोयण पुर केरउ सामि, करवहू रिमए दस गुण ए
कवण सो चक्र रे कवण सो जाख कवणसु कहीइए भरह राउ
सेन सहारीय सोधउ साप, आज मल्हावउ रिमह वसो

ठवणि १३ हिव चउपइ

चन्द्र चूड विज्जाहर राउ, तिणि वातइ मनि विहीय विसाउ
हा कुल मडण हा कुलवीर हा समरगणि साहस धीर
कहि कहि गइ किसिउ घणु कुल न लजाविउ तइ आपाणउ
तइ पुण भरह भलाविउ आप भलु भणाविउ तिहूयणि बापु
मुजि बोलइ बाहुबलि पासि देव म दाहिलु ई होइ विमासि
कहि विग उपरि कीजइ रोसु, एहिजि देवह दीजइ दोसु
सामीय विसमु करम विपाउ काइ न छूटइ रक न राउ
काइ न भाजइ लिहिया लीह पामइ अधिक न ओछा दीह
भजउ भूयवलि भरह नरिन्द मइ सिउ रणि न रहइ सुरिंद
इम भणि वर वीय बावन वीर सेनइ समहरि साहस धीर
धसमस धीर धसइ धडहडइ, गाजइ गजन्लि गिरि गडयडइ
जमु भुइ भड हुड हडइ भडक्क दल दड वडइ जि चड चडक्क
मारइ दारइ खल दल खणइ, हेड हयोहणि हयन्न हणइ
अनल वेग कुण कूखइ अछइ इम पचारीय पाडइ पछइ
नरू निरुवइ नरनरइ निनामि वीर विणासइ वादि विवादि

तिन्नि मास एकलउ भिडइ, तउ पुण पुरउ चक्कह चडइ
चऊ कोडि विद्याधर सामि, तउ सूरह रतनारी गामि
दल दरोलिउ दडड करीम, तउ चलिइ तसु छत्रीय सास
रतन चूड विद्याधर धसइ, गंजइ गयघट हियडइ हणइ
पवन जय भड भरह नरिंद, सु जि संहारीय हणइ सुरिंद
बाहुलीय भरहेसर तणु, भड आजणीय भीडीउ घणु
सुरमारी बाहूबलि जाउ, भडिउ तस तहि पडीय टाउ
अमित वेत विद्याधर मार, जग पामीय न पौरुष पार
चक्किउ चक्रधर वाजइ अगि सूरिउ पक्खिहि चन्दि चउरंगि
समर ५ध अनइ वीरह बध मिनीउ गमहरि विहु गिउ बंध
सात मास रहीया रणि वउ गई गहगहाया अपछरा लेउ
सिर ताना दुर ताना नामि, भिडइ महाभड वउ संग्रामि
आव्या बरबहं बाथाबाथि परभवि पुहता सरग गाथि
महेंद्र चूड रथचूड नरिंद सूभर हल्लइ हणइ सुरिंद
हाकइ तरइ तुनपइ तुलइइ आठि मागि जे जिमपुरि भिनइ
दंड सई पणीउ युरमानि भरतपूत नरनरइ तिनानि
गंजीउ बलि बाहूबलि तणउ, मस मन्दारिउ तागि आपणु
सिहरथ उठीउ हारत अमित गति भंगिउ आरंत
तिन्निमास घट धूजिउ जाग भरह राउ मनि वगिउ रागु
अमित तेज अलगइ तहि तजि गिउ गारगिर मिलिउ हुजि
धाइ धीर हणइ वे बाणि एक मास नियदया नायागि
फु डरीव भरहेसर जाउ लग भडता न पाडउ पाउ
इटनीय दलि बाहूबलि राय, तउ पय पडइ प्रणमीय ताउ
सूरिजसोम समर हावत, भिडिया तानि नामर सावंत
पाच वरिस भर मोनीय माइ नीय नीय गामि निवारिमा राउ ॥१७२॥
हवि धुरइ हवि चंडइ धाय गवि डारइ गति मारइ धाइ
मन भगत सूमइ गयग धनु धनु निरन्तरतु वंग
सवमारी भरहेसर जाउ रण रगि रोलइ पहिलउ घाउ
गिणइ न गोन्इ गजन्द हणइ धगरगि धीर घणारउ घणइ
बीस कोडि विद्याधर मिली ऊठिउ सुगति नाम बिनिगिली
गिव नम्ना गिउ मिमाउ तालि बागडि निग विहु जमजालि
कोपि चडिउ धगउ चक्रगाणि मारउ यपरी बाग विनालि
मेही रहिउ बाहूबलि राउ भजउ मगइ भरह मडिवाउ ॥१७३॥

बिहुं दलि वाजि रणि वाहनी, सनदल सोणि से सन भली ॥१७७॥
उडीय खेह न सूझइ सूर नवि जाणि मयार अमूर
पडइ सुहड धड धायइ धसी, हणइ हणोहणि हारइ हसी ॥१७८॥
गडयड गयघड ढोवा ढलइ, सूना समा तुरग मग तुलइ
वाजइ धणुही तणा धाखार, भाजइ भिडत न भेडिगार ॥१७९॥
वहइ रुहिर नइ सिखर तरइ, री री या रट रापस वरइ
हयन्त हाक्इ भरह नरिंद, तु माहगु लहइ मंगि सुरिंद ॥१८०॥
भरह जाउ सरमु सग्रामि, गाजइ गजग्ल भ्रामनि मामि
तर श्विस मइ पडिउ धाइ धूणि साम बाहूबलि राइ ॥१८१॥
तींहं प्रति अपइ सुरवर सार नखि एवडु भड सहार
काइ मरावउ तम्हि इम जोव पडसिउ नरवि करता रोव ॥१८२॥
गज ऊनारीय बधव बेउ, मानिउ वयण सुरिन्ह तेउ
पइसइ मालाग्वाडइ वीर, गिरिवर पाहिइ सवल नरीर
वचन भूमि मइ भरहु न जिणइ, दृष्टि भूमि हारिउ कुण भणइ
दंडि भूमि मड भयीय पडइ, बाहुपासि पडिउ तडफडइ ॥१८४॥
गूडा समु धरणि मझारि, गिउ बाहूबलि मुष्टि प्रहारि
भरह सवन तइ तीणइ धाइ कैंठ मगाणउ भूमिहिं जाइ ॥१८५॥
कुपीउ भरह छ खण्डह धणी चक्र पठावइ भाइ मणी
पावलि फिरी सु वलीउ जाम, वरि बाहूबलि धरिउ ताम ॥१८६॥
बोलइ बाहूबलि वलवंत लोह खडि तउ गरवीउ हत
चक्र सरीसउ चूनउ करउ, सयलह गोत्रह कुन सहरउ ॥१८७॥
तु भरहेसर चिनइ चीति मइ पुण लोपीय माईय भीत्ति
जाणउ चक्र न गोत्री हणइ माम महारी हिव कुण गिणइ ॥१८८॥
तु बोलइ बाहूबलि राय (उ) भाईय मनि म म धरसि विसाउ
तइ जीतउ मइ हारिउ भाइ अम्ह शरण रिसहेसर पाय ॥१८९॥

ठवणि १४

तउ तिहिं च चितइ राउ, चडिउ सवेगइ बाहुवले
दूहविउ ए मइ वडु भाय अविमासिइ अविवेक वति ॥१९०॥
धिग धिग ए एय ससार धिग धिग राणिम राजसिद्धि
एवडु ए जीव सहार कीधउ कुण विरोधवसि

कोजइ ए कहि कुण काजि, जउ कुण बंधव मावरइ ए
काज न ए ईगुइ राति धरि पुरि नयरि न मन्दिरिहि ॥१६२॥
सिग्वर ए नाव करेन पागमि रहीउ बाहुबले
मयूउ ए कमि भरेउ, तम पय पणमए भरह भडा ॥१६३॥
बंधव ए थांइ न थाय ए मविमांगिउ मइ किउ ए
मतिहम ए भाई तिगार ईगि भवि हुं हित पवम्हु ए ॥१६४॥
कीजई ए भाज पगाउ छटि न छलि न छपन छला
ग्यिदइ ए म धरि विमाउ भाई य भम्ह विरागीया ए ॥१६५॥
मारई ए नवि मुनिराउ मौन न मन्नइ मनवीय
मुगहन ए नइ नीय माग, वरम न्विम निरमण रहीय ॥१६६॥
•मिउ ए मुदरि वउ भावीय वधव बूभवइ ए
उतरा ए माग—मयंद तु भतिगिरि भगुनरन ए ॥१६७॥
उपनु ए थवनताण तु विन्दन रिमन्न मिउ
भावीन ए भरन नरिन गिन परगन्ति मवभपुरी ए ॥१६८॥
हरिगीया ए हान गुरिन भारत पन उच्छव करइ ए
वाजै ए तार वंसाव पदह पवान्नं गमगमन ए
भावै ए भायुध मार घरा रयण तउ २ग भरे
मंत्र न ए जम वराण गयवह रुनवर रागिमइ ॥२००॥
नम न्मि ए वरवन भाग भइ मरुणर गन्गन्इ ए
रामन ए गच्छ् सिरगाार वयरसेन सूरि पान्धरो ॥२०१॥
गुणगणाइ ए तसु भन्धर सालिभद्र सूरि जाणीइ ए
कीधउ ए तीणि चरितु, भरन नरसर राउ छन्दि ए ॥२०२॥
जा पन्इ ए वसन वन्दीन सा नरा नितु नव निहि नहन ए
मवन ए बार (१२) एकतालि (४१) फागुण पंचमिइं एन कीउ ए ॥२०३॥

चन्दन वाला रास [1]

सामाजिक कथा वस्तु को प्रस्तुत करने वाले रासा म १३वी शताब्दी का एक महत्वपूर्ण रास "चन्दन वाला रास है। जन भाषा म कवि आसगु न इस कृति की रचना की है। चन्दन वाला जैन श्राविकाओ में एक आदर्श एव चरित्रवान महिला भक्त रही है जिसने अपने ब्रह्मचर्य सतीत्व सयम और पवित्रता क लिए स्वय का उत्कर्ष कर दिया। कवि आसगु राजस्थानी हैं और राजस्थान के ही नगर जालोर मे इस रास की रचना हुई है। यह रचना जैसलमेर के बडे भडार म सुरक्षित है तथा इसकी प्रतिलिपि अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर म है। यो यह रास अब प्रकाशित भी होगया है।

कवि आसगु का एक रास "जीवदया रास' है। [2] यह कृति भी स० १२५७ के आस-पास की ही है। परन्तु बहुत अधिक महत्व की न होने और अधिकाशत धर्मोपदेश से सम्बन्धित होने से इसका साहित्यिक महत्व नही है। चन्दनबाला रास की एक विशेषता यह है कि इसम कृति का लेखक लेखन काल तथा लेखन स्थान सभी को कवि ने स्पष्ट कर दिया है। कृति की एक ही प्रति उपलब्ध होने से पाठ कही कही त्रुटित रह गया मिलता है। यह पाठ स० १४३७ [3] की स्वाध्याय पुस्तिका से मिला है। [4]

चदनबाला रास एक कथात्मक कृति है जिसमे घटनाओं के कुतूहल बडे विचित्र हैं। रास की मुख्य सवेदना चारित्रिक पवित्रता, स्त्री समाज मे नारी

१–देखिये –राजस्थान भारती भाग ३, अङ्क ३–४, पृ० १०४–१११ पर श्री अगरचन्द नाहटा का लेख कवि आसगु रचित चन्दन बाला रास।'

२–भारती विद्या श्री मुनि जिनविजय, भाग तृतीय, अङ्क १, पृ० २०९।

३–देखिये –पुष्पिका लेख स० १४३७ वसाख सुदी २ सुगुरु श्री जिनराज सूरि सदुपदेशेन व्य० देया पुत्र्या देव गुविशा चिन्तामणि भूपित मस्तक या माहू श्राविकया आत्म पुण्यार्थं श्री स्वाध्याय पुस्तिका लेखिता' (जैसलमेर बडे भण्डार की प्रति, पत्राक ३७१ से ३७४)।

४–जैसलमेर बडे भण्डार की प्रति पत्राक ३७१ से ३७४।

के सम्मान की भावना, अत्याचार का दमन तथा दान से मानव की सर्वांगीण प्रगति आदि का प्रचार करता है।

रास का प्रारम्भ ही कवि मंगलाचरण के साथ करता है —

"जिण अभिणव मरमइ भणए
पुहविहि भरह—पसि ज वीत
बार जिणन्द पारणए
निसुणउ चन्दन-बाल चरित [1]

चन्दन बाला चम्पानगरी के राजा दधिवाहन और रानी धारिणी की लड़की थी। चम्पानगरी पर कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चढ़ाई कर दी। भयंकर युद्ध के बाद शतानीक का एक सेनापति धारिणी और चन्दन बाला का हरण कर ले गया। धारिणी ने अपने सम्मान की सुरक्षा में देह अपघात कर लिया। सेनापति ने चन्दन बाला को सेठ के हाथ बेच दिया। सेठ की स्त्री ने उसे कारागार का सा असह्य कष्ट दिया। चन्दन बाला अपने सतीत्व संयम व चरित्र पर अटल रही। भगवान महावीर को अपने हाथों भोजन कराया और अंत में उन्हीं से दीक्षा ग्रहण करके कैवल्य ज्ञान को प्राप्त हुई।

कृति की इस संक्षिप्त कथा में कवि ने कारुण्य धारा बहाई है। ३५ छन्दों की इस छोटी-सी रचना में उसने प्रबन्धात्मकता का सफल निर्वाह किया है। उसका कथा तत्व अनेक घटनाओं से युक्त एवं अपने में पूर्ण है।

धारिणी व चन्दन बाला के रूप चित्रण के उदाहरण देखिए—

(क) दधिवाहण नरिन्दो सु पटिणा रूववंता धारिणी राणी
तु स पयोहर सारसर, कुटिल केस भ्रुव नयण सुचंगा
इम गमणि सा मृग नयणि नव जोवण नव नेह सुरंगा

और बालिका चन्दन बाला की चंचल यौवन और भोलापन कवि की वर्णन शैली की सरसता व सरलता का प्रमाण है —

सु भर भाली ता सुकुमाली
नाद नान्हु तम चन्दण बाली (२१)

पाय धावरिया रमझोल ... नेउर रुणझुण माँहि हारन
चन्दन बाले म भरविया तसु सिरि लंबउ केस कलाप
धणवइ धाव स चन्दणह, नालिय नेह पणामइ पाउ (२२)

१—चन्दन बाला रास राजस्थान भारती, वर्ष ३, अङ्क ३–४, पृ० १०७–१२।

सेठ न चन्दन बाला को दासी के रूप मे क्रय किया था, पर उसके सद्भाव विनम्रता और चारित्रिक उत्कृष्टता से उसे पुत्री की भांति दुलार करने लगा। वह भी उसे पिता की भांति पूजने लगी। एक दिन अपने पैर धोते समय सेठ ने उसके बालो को अपनी गोदी में रख लिया। सेठ की स्त्री यह देख कर आग बबूला होगई। उसने सेठ की अनुपस्थिति मे उसका सिर मुडवाकर हथकडी, बेडी पहिना कर तहखाने म डाल दिया। तीन दिन तक उसने स्वय को "जिन" की तपस्या मे लीन रखा। अन्न का कण उसे नहीं मिला। कवि ने रुदन करती सर्वाङ्ग बाला का चित्रण किया है —

'माइ ताय मति बुद्धि ए लाधी
पर घर मडण दुक्खे दाधी
आधी खडा तप विम्रा विव आभइ वहु सुक्ख निहाणु
फूटि रे हियडा! वज्जमग्रे अनह जम्पि नदिनन्दाणु (२६)

इधर था महावीर स्वामी न भी सिर मुडे हुए, कैद मे हथकडी बेडी, तीन दिन का भूखी 'अष्टम तप' करने वाली रोती हुई स्त्री के हाथ से ही पारणा करने की प्रतिज्ञा कर रखी थी, अत चन्दन बाला न उसे पूरा किया।

महावीर को भोजन कराने पर इन्द्र न १२॥ करोड स्वर्ण मुद्राओ की वर्षा की और इन्ही मुद्राओ का दान कर चन्दन बाला न कैवल्य प्राप्त किया।

वस्तुत कवि न रास म वीर करुण और शान्त रस का परिपाक किया है। युद्ध के समय तथा लूटपाट का कवि न अच्छा चित्र खीचा है —

वज्जिय ढक्क बुक्क नीसाण, वेगावी खचिय तुरिय केकाण
वलिया मडलिय मउडधार अलकु तु घण वरिसइ मेहू —
झूझ करइ सग्राम भरि, अगा अगी भिडीया बेउ

और इस द्वन्द्व युद्ध के बाद विजयी ने नगर का खूब लूटा। जिस जिस ने जो चाहा लूट म लूटा। वर्णन की सजीवता दृष्टव्य है —

हथि कुभ थलि खिवियउ पाउ, भयपडियउ दहि वाहण राउ
घोडइ चढि नासिउ गयउ साहि चितउ पूणइ बाढइ
तुरय थट्ठ गय घड लइय तउ जीवउ स्वर्यगिय राई (१४)
वेगावि लद्धा रयण भडार वेगावि कचरा तणा कुठार
कणावि पविढ धनु धणु लूसउ चोर चरउदददडिया
पाहकु अकु मिर तु दर्दि धोर, महित धारिणि विच्छडिया (१५)

वस्तुत कवि न इन दशाओं म घटनाओ की प्रधानता व कुतूहल को

मुख्यता प्रदान की है। पूरी कथात्मक कृति में घटनाओं के चार बड़े मोड़ हैं। कृति निर्दोष है। भाषा सरल और शब्द चयन में गेयता है।

कथात्मकता जैन रासों में बहुधा सुरक्षित मिलती है। यह रास कथा प्रधान चरित काव्य है। छन्द और अलंकारों की दृष्टि से कृति का विशेष महत्व नहीं लगता। परन्तु भाषा तथा सरस भाव पूर्ण शब्दावली के कारण रास का महत्व बढ़ जाता है। भाषा की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें गुजराती और राजस्थानी का मिश्रण है। राजस्थानी और प्राचीन गुजराती के शब्दों की भरमार है। इसी भाषा की सरलता से पुरानी हिन्दी कहा जा सकता है।

कवि ने रास की मुख्य संवेदना को रूप धर्म काम और मोक्ष में से अन्त में मोक्ष की प्राप्ति में साधक किया है जो काव्य का प्रयोजन है।

मलयगिरि जिण भिन्न ठाणु वीर जिणन्दह भवन ठाणु
चउग्गइ पन्थ पवत्तिणिय परमसरह निव्वाणह जति
वर्जीमा भय विणुउत्ति अनविन मुक्ति सिद्धिहि मार्गति— (३४)

अन्त में कवि ने असत् पर सत् की विजय दिखाकर रचना के मन्तव्य और रास के उद्देश्य को भी स्पष्ट किया है—

एहु रामु पुण बुद्धिहि जति भाविहि भगतिहि जिण हरिसन्ति
पन्ढइ पढावइ जे सुणइ तह मवि दुक्खइ महुयइ जति
जातउर नर्गरि भ्रामगु भणइ जम्मि जम्मि सउ मरमति (३५)

अत रास मनन गान पठन पाठन तथा सुनने के लिए लिखा गया है। रचना की शैली वर्णनात्मक सरल व स्तुत्य है। भाषा की सरलता व शब्दावली का प्रवाह दर्शनीय है। जब भाषा काव्य की दृष्टि से कृति का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। १२वीं शताब्दी की कथात्मक तथा घटना प्रधान कृतियों में भाषा व शैली की दृष्टि से चलने वाली रास का महत्व अपने ढंग से प्रकार का एक प्रामाणिक है।

वस्तुत जैन रास में मानवता चरित्र—निर्माण स्त्री सम्मान तथा जीवन की बहुमुखी प्रगति की सन्देश दिया है।

स्थूलिभद्र रास [1]

१३वीं शताब्दी में चन्दनबाला रास की ही भांति एक अन्य कथा प्रधान रास स्थूलिभद्र रास मिलता है। स्थूलिभद्र का जीवन जैन साहित्य में नेमिनाथ और जम्बू स्वामी की भाँति शृंगार से सम्बद्ध रहा है। स्थूलिभद्र और कोशा वेश्या के प्रति अनेक शृंगारिक तथा उपदेश प्रधान कथाओं की रचना की गई है।

प्रस्तुत रचना की दो प्रतियां उपलब्ध हैं। जिनमें पहली अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में तथा दूसरी सं० १४३७ में लिखी हुई है और जैसलमेर भंडार में सुरक्षित है। पहली प्रति भी १५वीं शताब्दी की ही है।

स्थूलिभद्र रास के नायक स्थूलिभद्र पर काव्य लिखने की परम्परा पर्याप्त प्राचीन है। स्थूलिभद्र का जीवन आचार्य हेमचन्द्र के ग्रन्थ के परिशिष्ट पर्व में मिल जाता है। [2] संस्कृत में भी इनके जीवन पर अनेक ग्रन्थ तथा सूर्य चन्द्र पर रचित गुणमाला महाकाव्य आदि रचे गये हैं। कालान्तर में तो गुजराती, राजस्थानी या पुरानी हिन्दी में स्थूलिभद्र पर सैंकड़ों की संख्या में रचे रास फाग और गीत मिलते हैं। सं० ९८९ में शकटार का जीवन चरित्र हरिषेण के बृहत् कथा कोष के अन्त में 'शकटाल मुनिकथानकम्' नाम से प्रकाशित है। अतः इस रास की कथा वस्तु के लिए बृहत् कथाकोष व परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थों में पर्याप्त सहायता ली जा सकती है।

रास के कर्ता ने अपना नाम स्पष्ट नहीं किया है पर अन्त में एक शब्द 'जिणधम्म'' आता है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि लेखक का नाम सम्भवतः जिनधर्म सूरि था। स्वर्गीय श्री मोहनलाल देसाई ने प्रस्तुत रासकर्ता का नाम धर्म दिया है। [1] साथ ही उन्होंने इसका रचना काल भी सं० १२६६ के आस पास बताया है।

१–हिन्दी अनुशीलन वर्ष ७, अङ्क ३, पृ० ४० पर श्री अगरचन्द नाहटा का लेख– स्थूलिभद्र रास'

२–वही, पृ० २६।

स्थूलिभद्र रास घटना प्रधान है जिसमें कवि ने अनेक कौतूहलों का समावेश किया है। रास कथा प्रधान है। यद्यपि यह स्थूलिभद्र के जीवन तथा उनकी साधना पर भी प्रकाश डालता परन्तु कवि ने अपने कौशल द्वारा कुछ अवान्तर घटनाओं का सृजन कर स्थूलिभद्र को लाहौर [illegible] संयम का [illegible] अवतार ही सिद्ध कर दिया है।

कवि ने रास का प्रारम्भ शासन देवी और वागीश्वरी का स्मरण कर किया है तथा प्रारम्भ में ही शकटार और वररुचि पण्डित का संघर्ष दिखाया है। संघर्ष का कारण केवल यह था कि वररुचि की गाथाएं राजा को बड़ी प्रिय थी और मंत्री शकटार (शकडाल) को राजा द्वारा वररुचि का किया आदर ठीक नहीं लगा। उसने अपनी लड़कियों द्वारा उसकी गाथाओं को याद करवा लिया एक को एक बार दूसरी को दो बार और तीसरी को तीन बार। इस क्रम से शकटार की लड़कियों ने वररुचि की नित नवीन कही जाने वाली गाथा को याद करके पुराना सिद्ध कर दिया। पण्डित वररुचि ने भी शकटार के विरुद्ध राजा को भड़काया कि यह मंत्री राजा को मरवा कर उसके स्थान पर अपने लड़के को राजा बनाना चाहता है। राजा यह सुनकर क्रुद्ध हो गया। शकटार ने अपने लड़के को सिखाकर स्वयं की हत्या कराने में ही परिवार का कल्याण समझा। मंत्री शकटार का छोटे लड़के ने मार कर परिवार के सामने (उसके लड़के के सामने जिसने अपने पिता के कहने के अनुसार उनको मरवा कर स्वयं को राज भक्त सिद्ध किया था) मंत्रि पद का प्रश्न रखा। स्थूलिभद्र के पास भी यह प्रश्न पहुंचा। [illegible] भोगविलास रत थे। [illegible] राज्यलिप्सा [illegible] उन्होंने [illegible] चित्त [illegible] पहनकर अपने धर्म [illegible] तथा विरक्त होकर [illegible] करना। कवि ने कथा में [illegible] निष्पन्न करने के लिए ही [illegible] गाथाओं का सहारा लिया है। [illegible] रचित तथा परवर्ती ग्रंथों

इक सयिवि सयिय वाल्हा ज त्रि सथिय जपइ
वर रुचि रुडउ राउमणु रासिहि वपइ—

वररुचि पण्डित ने शकटार की मृत्यु के लिए द्रव्य देकर अपने शिष्यों की सहायता से अनेक षडयन्त्र किये उसी का वर्णन देखिये —

तावह पडितु बाहिरि थाइउ, द्रम्म थवइ नितु गगह जाइउ
पसरह लायह द्राम निखानइ, नरवइ वह अम्ह नवि पालइ
अन्तरि महतए नउ द्रम उसरिय,
पडित उच्छउ घाउतलि दोरउ सारिय
तउ पडित कोपानल चडियउ, घाठउ हीयउ सूनउ थीयऊ
तउ वेनु कोपिराया पोसइ नदु हणिउ सिरियउ राउ होसइ
नयर दुवारे सक्षे नखइ मभालियउ
महता रुठउ राउ अछतउ नितु टलियउ
जाव महतउ अवसरि आवइ ताव पुठि न्यिइ पुणुनरवइ
मुहतइ जाणिउ मूल विणासइ, बमण नयणे नरवइ रुसिउ
सिरियउ भणइ न पल्नउ धाउ जीविउ लाधि लियइ जउ राउ
महतइ धरह कुडुवहु स्वामिउ असिउ हलाहलु रयसिरु नामिउ
सिरियउ कहइ नरिन्ह जाइउ अम्ह धूनभदु जेठउ भाइउ
तसु तणि म र अम्ह नवि छाजइ भामिणि विरहु क्रिमइ जइ भाजइ
तउ निसुणेविणु नरवइ जाणिउ मु द कहइ लइ थूलिभद्र आणिउ
रायह मन्दिरि थूलिभद्र पहुतउ, "मणुप्रालाचिउ" भाग विरतउ (२ २१)

उक्त उद्धरण मे कवि ने राजकीय षडयन्त्रो और कर्मचारियो की पारस्परिक ईर्ष्या तथा राजा की 'क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा' वाली प्रकृति को स्पष्ट किया है। भोगलिप्त स्थूलिभद्र के जीवन मे एक विपरीत अध्याय का प्रारम्भ यहीं से हो जाता है। दीक्षा लेने पर उसके अन्य गुरु भाई भी चतुर्मास के स्थान कोई साप के बिल पर कोई सिंह की गुफा पर कोई कुए के पास मागता है पर स्थूलिभद्र उसी कोशा वेश्या के यहाँ जाते हैं। स्थूलिभद्र और कोशा के वर्णना मे इस रास मे कवि का मन बिलकुल नहीं रमा है। न उसने कोशा के नखशिख व सौन्दर्य का ही वर्णन किया है। आगे कवि एक अन्य कथा मे रम जाता है, जो स्थूलिभद्र के ही एक गुरु भाई से सम्बद्ध है। स्थूलिभद्र ने मन्मथ का पूर्ण दलन किया वे पच व्रत का पालन कर पक्के सयमी हो गये। यही नहीं, उन्होने कोशा वेश्या को आमूलचूल परिवर्तन किया। जब चतुर्मास करके सब मुनि पुन आये तो गुरुजी ने स्थूलिभद्र को ही सबसे श्रेष्ठ बताया। इस पर एक मुनि

क्रुद्ध हो गये और उन्होंने भी दूसरा चातुर्मास उसी कोशा के यहाँ जाकर किया। पर वे कामासक्त हो गये। कोशा ने उन्हें रत्न कम्बल लाने नेपाल भेजा। काम विमोहित मुनि ने यह सब किया, पर अन्त में कोशा से ही उन्हें हार माननी पड़ी। *कोशा का मुनि को उपदेश, मुनि की काम विमोहित अवस्था, रत्न कम्बल के लिए अनेक कष्ट पाने पर मुनि का उससे कामतृप्ति की याचना,* कोशा द्वारा उनकी भर्त्सना, संयम धर्म का महत्व और स्थूलिभद्र की जितेन्द्रिय स्थिति का स्पष्टीकरण करना आदि अनेक चित्र कवि ने बड़ी ही मार्मिकता से सजाये हैं जिनकी भाषा प्रवाहमय भाव प्रवण सरल तथा चित्रात्मक है। श्रावण-चित्र में कामासक्ति मन की चंचल स्थिति और मुनि की विचलित अवस्था तथा कोशा के सौन्दर्य के प्रति हुए व्यामोह का वर्णन देखिए —

वस सभि वधणि मिग नयणि नव जावणी
मुविधि परिविविह परि दिट्ठ मुणि लायणी
आवह मुणि कहउ भुणि दस तुम्ह दुल्लहो,
परिजइ तुम्हि मुज्झइ अम्हधरि नमिय परिजइ तुम्हि मुज्झइ
मज्झु नयण्उ गुरु वयणाव परतु जइ भारय,
वम धरि पाउम भरि त रिमु थाविय
गावण मनिन मुणि मान संवानियं,
सघन दुम व सणिचित्तु उम्मूलिय
माइवटइ घणु गुट्टरउ जलहरा गाजम्रे,
चरित पुरु पासरणमयण महभजमें
ईरा परिवस धरि मुणिहि मणु गजिय,
रमइ नर मनिदि परि पिक्खि दिर्तजिय
भार थापियउ किरि बालइ मुणि छम्मिउ,
अन्य विणु वम पुणु निठुर वह हम्मिउ'

कोशा ने मुनि से पस मांगे और कहा कि बिना अर्थ के यहाँ रहना सम्भव नहीं है। और काम विमोहित मुनि उन्मत्त हो गये। उन्होंने कोशा की भर्त्सना सही उनकी इसी प्रकार की विक्षिप्त शारीरिक अवस्था का वर्णन कवि ने उन्हें रत्न कम्बल लाने के लिए नेपाल तक भेजा कर किया है। मुनि कम्बल लाये तो कोशा ने उसे पैरों से पोंछकर फेंक दिया —

वसा पभणे निसु णमणा नविणु जाह राय मग्गिह रयणु
तुह अन्य विट्ठगउ हिण्ड णाण्ड, मझु धरि कम्मु करेसिजड
'ताम मुनि मधु नगु गणइ न चल्लिय कलिहिन जलहिन नइहि न पिक्खिइ

काम धाणु मत्त तणु भमइ पुट्टिठ लग्गइ, नेपाल देसि गउ रयण क्वलह मग्गइ
वेग करि, पय भरि चलिउ मुणि भाविउ, वेस लइ नमइ जइ कहवि लवाविउ
माणि मुणि कवल रयणु खोलि माल्हिउ वहइ,
पाउ में लाइ धरिणि लक्खु द्रम्मह तहइ
लाखु लाधव मुणि दिट्ठु वउडो गमइ, वस गुणवत जसु जम्मि चितु रमइ"

यहाँ तक ही नही, वेश्या कोशा अ त मे इसे गुरु बनकर सहायता करती है और स्थूलिभद्र का वैशिष्टय स्पष्ट करती है। मुनि की रत्न कम्बल लाने पर भी वेश्या ने इच्छा पूरी नही की, तो वह निश्वास लेने लगा। वेश्या उसे शील की महिमा बतलाती है। काम विमोहित मुनि के हृदय मे भरे मोहान्धकार मे कोशा स्थूलिभद्र की विजितेन्द्रियता से प्रभावित होकर प्रकाश किरण प्रदान करती है और इस प्रकार मुनि को वह चरित्र रत्न को हृदय मे धारण करने की शिक्षा देती है। कवि ने इन्ही मनोवैज्ञानिक चित्रो को बडी सफलता से स्पष्ट किया है। कवि का प्रत्येक मनोभाव इन वाक्यो मे उसके काव्य कौशल और काव्यगत सरलता का द्योतक है —

नियतणि जउ मुणि दीणउ धामे, चणा भवविणु मिरिय कुखामे
इह गई खमु करीरिहि भाजेइ थूलिभद्र जा गति कहविन छाजइ
वह नेपालउ दस भणीजइ बडइ कठिन तहि पुणु जाइजइ
तइ मूरख नवि जाणिउ भेउ लक्ख रयण मुणि कबल एहु (४०-४१)

और वेश्या ने उस कबल से पैर पोछकर कीचड मे फेंक दिया और कहा कि अपने चरित्र रत्न को तो सभालो वह इसमे भी गदी जगह मे जा रहा है। उसने रूपक द्वारा यह स्पष्ट किया कि नेपाल देश कितना दूर था वहां जाना कितना कठिन है यदि हे मुनि तुम। रत्न कबल लेने नेपाल चले गये तो क्या अपने चरित्र रत्न और सयम रत्न की प्राप्ति उस अपूर्व आनद निर्वाण की प्राप्ति हेतु नही कर सकते ? उक्त पक्तियो मे इसी प्रकार की ध्वनि है।

'दिट्ठ रयल ज कद्दम भरियउ, हियडउ सुग्रह सहु बीसरियउ
तउ मुणिवरू मेल्हहि नीसासा मज्झु तणी नवि पूरा आसा
ज जिण धम्मह किज्जइ मूलु त तरणत्तणि पालिउ सीलु
इमउ वयण सुहियडउ धरइ भयणा माह चित्तह उत्तरइ
चिनइ मुणिवरु हियइ तिरग, सजमतरु मह रूपइ भग
धनु धनु थूलिभद्र सा सामिउ, पाउ पणामइ लइ यइ नामिउ (४०-४४)

और मुनि म तद्वद्व, आरम्भ ग्लानि और पश्चाताप से भर जाता है।

उसका ज्ञान दृष्टि कोशा के गुरु वचनों से खुल जाता है और वह वेश्या कोशा के कहने से चारित्र्य रत्न को हृदय में धारण करता है तथा गुरु के पास जाकर पुनः दीक्षित होता है और वहाँ मुनि स्थूलिभद्र की कृपा से देव लोक प्राप्त करता है —

> तसु उप्परि मइ मच्छरु कीयउ, तिणि कारणि मइ फलु पामीयउ
> तुहु गुरु गुरु कोसा मह माया हउ पडिबोहिउ प्राणि, उठाया
> मइ जाणिउ तउ कियउ अकम्मू, आलि वहिउ गउ माणुस जम्मू
> कोसा नाणा कारइ अंकुइ अजिउ मुणिवर मन करि खेउ
> चारित्त रयणु हियइ धरहि गुरु हुं पासि आलोयण लेहि
> बहुत काल संजम पालवि चन्द्र पूरव निय दइ धरेवि
> थूलिभद्द जिण धम्म वहवि देवलोकि पहुतउ आउ खवि—(४५-४७)

वस्तुतः इसी प्रकार कवि ने स्थूलिभद्र के संयमित जीवन की स्निग्ध सुषमा पर प्रकाश डाला है। रास में कहीं भी उसके (शिल्प पर) गाये जाने या क्रीडा करने के रूप पर प्रकाश नहीं डाला गया है। सिर्फ स्थूलिभद्र के उत्कृष्ट चरित्र पर मुनि की कथा के द्वारा प्रकारान्तर से प्रकाश डालना ही कवि का मन्तव्य है। कोशा की वाणी रूपक के रूप में सामने आती है। ८७ छन्दों की इस छोटी सी रचना में कवि ने बहुत भाव भरा है। भाषा में अपभ्रंश के शब्दों के प्रभाव के साथ साथ अधिकांश शब्द राजस्थानी के हैं।

कवि के वाक्य सरल व स्वच्छ चयन प्रभाव प्रवण है। कवि ने काम मद से उत्पन्न आत्मग्लानि तथा पश्चात्ताप के चित्रण पर सम्यक् प्रकाश डाला है। एक ही छन्द के द्वारा पूरा रास चौपाई छंद में लिखा गया है।

जहाँ तक कथा रस और मार्मिकता का प्रश्न है प्रस्तुत रास बड़ा महत्वपूर्ण है। १५वीं शताब्दी में लिखित कवि हलराज के स्थूलिभद्र फागु[1] की भांति कवि ने कहीं भी स्थूलिभद्र व कोशा का शृंगारिक वर्णन नहीं किया है। इस काव्य में शृंगार आदि रूप में ही आया है। अन्त में वृत्ति निर्वेदगत हो गई है। कवि ने वररुचि की कथा, मुनि का कोशा के यहाँ जाकर काम विजय हेतु स्थिति में रहना, वचन देना आदि घटनाएँ अवान्तर रखी हैं जिनसे कथा पूर्ण सरस हुआ है।

१—स्थूलिभद्र पर विस्तार के लिए देखिए मरुभारती मई १८५८ में लेखक का आदिकाल का एक शृंगारिक खण्ड काव्य श्री स्थूलिभद्र फागु शीर्षक लेख।

छोटी–छोटी सूक्तियाँ यथा–भामिणि विरहु न्निमइ जइ भाजइ, वल्लिउ घणकण रयण चम्रं विणु असिउ हताहलु रयसिरू नामिउ, सयल दुम कंद खणि चित उम्मूलिय सावण सलिल मणि सील स बोलिय, चएा भरवेविणु मिरिय कुरवाग्रं, अक्करनइउ सजय भाग्दुप्पानउ, इह खमु करीरिहि भाजइ, तथा चारित्त रयणु हियडइ धरेहि, गुरूहुपासि आलायण लेहि आदि अनक सूक्तिया हैं। रास की मुख्य सवेदना उपशातमक्ता तथा धर्म प्रचार है। शैली वर्णनात्मक है। काव्यात्मकता म सरस स्थल थाडे हैं, परन्तु घटना वचित्र्य और कथात्मकता ने कृति की सफलता में सहायता की है।



रेवतगिरि रास[1]

रेवतगिरि रास १३वीं शताब्दी का प्रसिद्ध ऐतिहासिक रास है। रास के रचयिता श्री विजय सेन सूरि हैं। रचना का विषय धार्मिक है तथा कवि ने रेवतगिरि जैन तीर्थ का महत्वपूर्ण विवेचन किया है। इस रास में तीर्थ के प्रति अपार श्रद्धा रखते हुए आदरों का उल्लास पूर्ण स्तवन तथा सुन्दरतम अभिव्यक्ति है जिसे कवि ने काव्यात्मक सुषमा से संवारा है। प्राचीन काल से ही इस ऐतिहासिक स्थल का महत्व रहा है। रचना का रचनाकाल तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अर्थात् सं० १२८८ है। प्रस्तुत काव्य का नवीनतम सम्पादन व प्रकाशन डॉ० हरिवल्लभ भायाणी ने किया है।

रेवतगिरि रासो नाम से यह ग्रन्थ और भी जाना गया है। इसकी प्रति पाटण के संघवी पाड़ा के भण्डार में है। हिन्दी भाषा के श्री नाथूराम प्रेमी प्राचीन हिन्दी बतलाते हैं।[2] इसकी रचना वस्तुपाल–मंत्री के गुरु विजय सेन सूरि ने सं० १२८८ के लगभग की थी। इसमें गिरनार की ओर वस्तुपाल के जैन मंदिरों के जीर्णोद्धार का वर्णन है। रेवतगिरि का परिचयात्मक विवरण गुजराती के विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थ में दिया है।[3]

कथा वस्तु चरित्र नायक तथा अन्य रचना का अध्ययन करते समय रास का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्व ज्ञात होता है। रेवतगिरि रास प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। यह तथ्य कि इसकी प्राचीनता के उल्लेख महाभारत में भी मिलते हैं। इसमें जिन चरित नायक की प्रतिमा व प्रकृति वस्तु सौन्दर्य का वर्णन किया गया है वह जैनियों के २२ वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ हैं।

१—प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, श्री सी० डी० दलाल पृ० १–७।

२—हि० ज० सा० का इतिहास श्री नाथूराम प्रेमी पृ० २६ वि० सं० १९७३ का संस्करण।

३—कवि-चरित—प्राचीन कवियो श्री क० का० शास्त्री व जैन गुर्जर कवियो, श्री मोहनलाल देसाई।

नेमिनाथ का वृत्त स्थान है, जिस पर अपभ्र श म मिलन वाली कृति हरिभद्रकृत 'नेमिनाथ चारिउ" है।[1]

प्रस्तुत रास म यात्रा वर्णन, सघवर्णन तथा मूर्ति स्थापना वर्णन ह। राम की कथा वस्तु धार्मिक है। राम गेय है तथा इसम तीर्थ एव यात्रा के महात्म्य का सु न्दर दा गत्मक वर्णन है। इस बात म जन रासा की विषय वस्तु म पर्याप्त परिवर्तन हो गया था। मन्दिर, शिल्पकला, तथा उनकी प्रतिष्ठा कराने वाले धनपति श्रावक का यश गान वर्णन करना भी ' रास" म प्रारम्भ हो गया था। रेवतगिरि रास की ही भाति १३वी शताब्दी मे हम कवि राम द्वारा स० १२८६ मे लिखा हुआ एक आबू राम[2] मिलता है जिसम आबू के प्रसिद्ध तीर्थ व सघयात्रा आदि के वर्णन ह। रवतगिरि रास म भी सोरठ देश के प्राचीन मन्दिरा तथा प्रसिद्ध पोरवाडकुल या प्राग्वाट कुल का वर्णन है।[3] वस्तुपाल और तेजपाल इसी कुल के दो प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष हैं जिन पर १५वी शताब्दी तक रचनाए उपलब्ध होती है। अत राम की ऐतिहासिकता क अनेक अ तरग तथा बहिरग प्रमाण मिलत है। राव खगार जयसिंह देव एव गुजरात के प्रसिद्ध राजा कुमारपाल का भी प्रस्तुत रास म उल्लेख है जो इतिहास प्रसिद्ध यक्तित्व हैं।[4] य त और यक्षिणियो क अनक चित्र जनियो के प्राचीन तीर्थकरो की मूर्तियो के साथ आज भी देख मिलत ह। यक्ष वर्णन रेवतगिरि राम म भी मिलता हैं।[5] इसके अतिरिक्त अनेक बहिरग प्रमाण राम की ऐतिहासिकता सिद्ध करत है उनम से कुछ टिप्पणियाँ इस प्रकार हैं —

(१) तेजपाल गिरिनार तले तेजलपुर निय नामि[6]

तेजपाल न वहा अपनी मा क नाम पर आसाराय विहार त्रिशदवालय उग्रसनगढ मे बनवाया।

(२) सुवर्ण रेखा नदी के किनार पचम हरिदामान्दर का वष्णव मन्दिर भी उस समय था यह उल्लेख कवि न प्रस्तुत राम म किया है। इसके अतिरिक्त कुमारपाल श्रीमाली कुल सभव न अम्ब को सौराष्ट्र का दण्ड नायक बनाकर स० १२२० म गिरनार क सापान बनवाये थे —

१–हिन्दी के विकास मे अपभ्र श का योग, श्री नामवरसिंह पृ० २१८।

२–देखिए –राजस्थानी वर्ष ३ अङ्क १ श्री अगरचद नाहटा का लेख 'आबूरास"

३–देखिए –प्राग्वाट इतिहास (भूमिका भाग) लेखक अगरचद नाहटा।

४–रेवतगिरि रास, डा० हरिवल्लभ भायाणी, पृ० २, पद ६।

५–वही पृ० ८ पद ८।

६–आपणा कविओ श्री क० का० शास्त्री पृ० ११८।

"कुमारपाल भूपाल जिण सासण मंडणु

अ वसो सिरि सिरिमाल कुल मंडणु, पाव सुविमाल तिणि नठिय
अंतर धवल पुणु परव मराविय [1]

जयसिंह देव ने सौराष्ट्र पर सगार को पराजित कर अधिकार करने के बाद सज्जण मंत्री को वहाँ का नायक नियुक्त कर सं० ११८५ में गिरनार ऊपर नेमिनाथ का मन्दिर बनाया —

' गिरि जयसिंह देउ पवरु पुन्नामेण सज्जणि तिणि राउ पयासउ
अहिणवु नेमिजिणिन्द तिणि भवणु कराविउ ।

इसके अतिरिक्त मालव के भावड शाह का स्वर्णिम नगाड़ाना बनाने का उल्लेख, कुमार के अजित एवं रतन नामक मंत्री का वहाँ संघ लेकर आना, तथा वस्तुपाल तेजपाल का कलामय मन्दिर आदि बनवाना आदि घटनाएँ रास के ऐतिहासिक महत्व को स्पष्ट करती हैं । [2]

प्रस्तुत रचना ४ कडवकों में विभक्त है । कडवक का अर्थ—रूप या स्वतन्त्र छन्द नहीं प्रकट सा विभाजन का सूचक होता है । अपभ्रंश के संधि काव्यों में अनेक कडवक मिलते हैं । साहित्य दर्पणकार ने अपभ्रंश काव्यों में कडवक सर्गों को कहा है [3] । परन्तु पउम चरिउ, हरिवंश पुराण आदि ग्रंथों में तो सर्ग संधि कहलाते हैं । प्रायः इन काव्यों में अनेक संधियाँ होती थीं और एक-एक संधि में अनेक कडवक होते थे । दूसरे शब्दों में कई कडवक मिलकर एक संधि को बनाते थे । अतः संधि को कडवकों का एक समूह कहा जा सकता है । [4] हेमचन्द्र ने कडवकों का जो विवेचन किया है [5] उसके अनुसार दो कडवकों के मध्य में वर्णित घत्ता छन्द कडवक की समाप्ति का सूचक है । प्रस्तुत रास के कडवकों का वर्णन के एक भाग का अन्त और दूसरे नये सर्ग के आरम्भ का संकेत समझा जा सकता है । अर्थात् प्रत्येक कडवक के अन्त में कथा समाप्त होती है और प्रत्येक कडवक के बाद कथा प्रारंभ ।

१—प्रा० गु० का० संग्रह, श्री दलाल पृ० २।
२—प्राचीन कविता प्रा० के० का० शास्त्री पृ० ११८।
३—अपभ्रंश—निबद्ध अस्मिन् सर्गा कुडवकाभिधा ।
४—कडवक समूहात्मक संधि ।
५—छन्दोनुशासन श्री० ए० बी० भायाणी सम्पादित, पृ० २-४।
'सध्यादौ कडवकान्ते च ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा ध्रुवकं घत्ता वा'—हेमचन्द्र ।

रेवतगिरि रास चार कडवका मे विभक्त है। इन कडवको मे कोई विशेष कथा सूत्र नही है, चारो कडवको मे गिरनार, नेमिनाथ, सघपति, अम्बिका, यक्ष तथा मन्दिरो का वर्णन है। वस्तुपाल तेजपाल के सघ द्वारा नेमिनाथ की प्रतिष्ठा का महामहोत्सव होता है। एक विशेष बात यह है कि इस काव्य मे प्रत्येक कडवक म स्वतत्र वर्णन है जिसका पारस्परिक कोई सम्बन्ध नही। इन कडवको मे जयसिह, कुमारपाल, दण्डनायक, मालव के मावड शाह के वर्णन हैं तथा कश्मीर के अजित और रत्न नामक भाइयो की सघ यात्रा-वर्णन, दानवीरता, सघ तीर्थों के शिल्प, मूर्ति का पराक्रम तथा चमत्कार पूर्ण घटनाओ का वर्णन है। श्रावक भक्तो को धर्मशील बनने का आग्रह और धर्म प्रचार ही रास का उद्देश्य है।

प्रस्तुत रास की एक प्रति पाटण भण्डार मे है जो ताड पत्र पर लिखी हुई है। डॉ० हरिवल्लभ भायाणी ने अपना पाठ सम्पादन श्री सी० डी० दलाल के प्राचीन गुजराती काव्यसंग्रह से ही किया है।[1]

रेवतगिरि रास गीति प्रधान रास है। गेय तत्व नृत्य मे सहायक होता है विशेषतया महोत्सव मे श्रद्धालु भक्तो के ये रास एक अभूतपूर्व उल्लास की सृष्टि करते थे। धर्म ने हमारे समाज के मनुष्यो मे एक जीवन्त विश्वास की सृष्टि की है। इह लोक और परलोक का ज्ञान, अहिंसा और अध्यात्म से प्रेम आस्तिकता की श्रद्धा के ही परिणाम हैं। अत समाज की इसी विशिष्ट मनोवृत्ति ने ही समय समय पर अनेक साहित्यिक विधाओ और पोषक तत्वो का निर्माण किया है।

रेवतगिरि रास के वर्णनो मे प्रगाढ तन्मयता है। कवि की पदावली कान्त सुमनोहरा और प्रसाद गुण सम्पन्न है। कृति मे सर्वत्र भक्ति रस व्याप्त हैं। श्रद्धा स्निग्ध प्राणियो मे शात रस का प्रवाह फूटा पडता है। भाषा समास बहुला है।

प्रारम्भ म ही कवि मगलाचरण करके आगे बढता है। मगलाचरण की परम्परा भारतीय प्रबन्ध काव्यो की प्राचीन परम्परा है। कवि ने गिरनार के सौन्दर्य के कई मधुर चित्र खीचें हैं। अनुभूति की सरसता उन्हे और भी मार्मिक बना देती है। कवि गिरनार का ससार यात्रा के साथ रूपक बाधता है—

जिम जिम चडइ तडि कडणि गिरनार तिमि तिम ऊडइ जणभवण ससार
जिम जिम सेड जलु अ गि पालोटए, तिम तिम कलिमलु सयलु ओहट्टए[2]

१-रेवतगिरि रास, डॉ० ह० व० भायाणी सम्पादित पृ० १-४।
२-वही ग्रन्थ, द्वितीय कडवक।

वहाँ की शीतल वायु तीनों ताप हरण करने वाली है —

जिम जिम वायइ वाउ तहि निज्झर सीयलु
तिम तिम भव दाहा तक्खणि तुट्टइ निच्चलु [1]

पक्षियों के मधुर वर्णन कोकिलों की मिठास, मयूर का कलरव भ्रमरों का गुंजार और निर्झरों का नाद सारे प्रांत को मुखर कर देता है। वर्णन की ध्वन्यात्मकता और काव्यात्मकता द्रष्टव्य है —

'कोयल कलयला मोर केकारवा सम्मए महयर (?) महुर गुंजारवो

जलद जाल बंबाल नीझरणि रमाउलु रेहइ उज्जिल सिहरु अलि कज्जल सामलु
बहल वह धातु रस भेयणी जल मल हलइ सोवन्न मइ मेडणी
जत्थ दिप्पति दिवोसहि सुन्दरा गहिरवर गम्य गंभीर गिरि कन्दरा
जाइ कुन्दु विहसंतो ज कुसुमिहि संकुल दीसए,
दस दिसि दिवसो किरि तारा मंडलु [2]

(मेघों के जल समूह से प्रवाहित रमणीय निर्झर अलिकज्जल गिरि श्यामल शिखर की शोभा अनेक धातुओं एवं रसों से युक्त स्वर्णमयी मेदिनी अर्थात् औषधियों से परिपूर्ण वसुन्धरा और विकसित कुन्द कुसुमों का दल मानो दिशाओं का नक्षत्र मण्डल है) आदि उपमान उत्तम काल्पनिक तथा कवि की उत्प्रेक्षाएं भी अति नूतन हैं।

समास बहुला अनुप्रासात्मकता और सरस पदावली में कवि ने नीरस पत्थरों में भी रस के स्रोत उमड़ाए हैं। निम्नांकित पंक्तियों के प्रकृति वर्णन से जयदेव के गीत गोविन्द के ललित पदावली का स्मरण हो आता है —

मिलिय नवल दलि कुसुम भल वालिया
ललिय सुर महि नवण चलण तल तालिया
गलिय थल कमल मयरन्द जल कोमला
विउल सिलवट्ट सोहन्ति तहि समला [3]

प्रकृति वर्णन में कवि ने नाम परिगणनात्मक रूप को प्रस्तुत किया है। अनेक वनस्पतियों का परिगणन उसकी विशाल साध दृष्टि एवं बहुज्ञता की परिचायक है और साथ अनुप्रासात्मक और नादात्मक है। एक ही अक्षर से प्रारम्भ होने वाले अनेक वृक्षों के नामों को तथा कवि की कुशलता को देखिए —

१—वही पृ० ३ कडवक २ पद ४।
२—रेवतगिरि रासु डा० हरिवल्लभ भायाणी पृ० ३।
३—वही, पद ५ पृ० ३।

"अ गुण अ जण आविलीय, अ बाडय अ कुल्लु,
अ वक अ बरु आमलीय, अगरु असोय अहल्लु
करवर करपट करुणतर, करवदी करवीर,
कुडा कडाह कयब कड, करब कदलि कपीर
बेयुल अजुल वउन बड, बेउल बरण विडग,
वासती वीरिणि विरह, वासियाली वण वग
सीसम सिंवलि सिर (स) समि, सिंधुवारि सिरखड
सरल सार साहार सय, सागु सिग्गु सिण दंड
पल्लव पुल्ल फुल्ल सिय, रेहइ ताहि वणराइ,
तहि उज्जिल तलि धम्मि यह, उल्लटु अ गि न माय[1]

अनुप्रास, यमक, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अनेक अलकारों का स्वाभाविक निरूपण हुआ है। कृति मे विशेष कर अनुप्रास, रूपक व उत्प्रेक्षाओं की तो घटा ही उमडी पडती है —

अनुप्रास —

(१) निम्मल सामल सिहर भरे
(२) तस सिरि सामिउ सामलउ सोहग सु दर सार
(३) अ गुण अ जण अ बीलीय अ बाडय अ कुल्लु

उपमा रूपक व उत्प्रेक्षा —

(१) जिमि जिमि चडइ तडि कडिणि गिरनारह
तिमि उडइ जण भवण ससारह
(२) जाह कु द विहसन्ता ज कुसुमिहि मवुलु
दीसइ दस दिसि दिवसा किरि तारा मडलु
(३) जत्थ सिरि नेमि जिणु अच्छरा अच्छरा
असुर सुर उरग किंनरय विज्जाहरा
मउड मणि किरण पिंजरिय गिरि सेहरा[2]

उल्लेख वर्णन क्रम तथा स्वाभावोक्ति —

(१) अइरावण गयराय पाय मुद्दा सम टाउक
दिट्ठ गयदन कु ड विमल निर्झर सम लकिउ
(२) गयण गग ज सयल तित्थ अवयारु भणिज्जइ

१–वही, पृ० २, पद १८–१७।
२–रेवतगिरि रास श्री भायाणी, द्वितीय कडवक।

पवमनिवि तहि ग ग दुक्ख जन म जनि ज्जिइ

(३) गहगण्ए ए माहि (?) जिम माणु पत्रय माहि जिम मरु गिरि
तिहू भुयण तम पनाण नित्य मौहि रेवतगिरि

(४) नयण मनूगउ नमि जिणु [1]
नयण मनूगउ प्रयाग विनता दृष्टव्य है।

श्रीर अन्त म कवि न प्रकृति क उपादानो द्वारा नमिनाथ का अभिषेक कराया है। नमिनाथ क इस वणन करन म कवि क काव्य कौशल का परिचय मिलता है। अतिरञ्जना म एकदम रहित है। जैसा स्वाभाविक भाव निष्पन्न हुआ उसको ज्या का त्या सजा दिया है।

नामर (ग) ए चमर ढलति मघाडवर सिरि धरीय
निरयह ए मउ स्वनि सिहामणि नत्य नमि जिण [2]

गुजराती विद्वाना न प्रति पाटन भण्डार में उपलब्ध होन म इस प्राचीन गुजराती क विकास का कड़ा बनाया है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन गुजराती का उद्भव भी प्राचीन राजस्थानी का उत्कर्ष है। अत इस बात का बाद स्वतन्त्र महत्व नही प्रतीत होता। वस्तुत कृति केवल प्राचीन राजस्थानी की दृष्टि म महत्वपूर्ण है।

छन्द क क्षेत्र म रेवतगिरि रास का मौलिक योग है। चारो कडवको में क्रमश २० १० ११ श्रौर २० पद हैं। प्रथम कडवक क बीसो छन्द दोहा छन्द म वर्णित हैं। जो अपभ्रश और हिन्दी का लाडला छन्द है। कवि न इस बड़ी ही समाई म निभाया है।[3]

द्वितीय कडवक में एक प्रकार का मिश्र छन्द है जिसम पहली दो पक्तियों का छन्द रगणा क आधार पर ठीक नही बठता और शष चार पक्तियो म "सूरगणा" छन्द है जो २० मात्राओं का होता है।[4]

तृतीय कडवक का छन्द रासा [5] है। यह छन्द ११ कडियो का है।

१–वही, पृ० ६ पद १८–२०।

२–वही पृ० ६ पद २०।

३– परमसर तित्थेसर पय पकज पणमवि
भणिसु रास रेवतगिरि अबिक दिवि सुमरवि–पद १, कडवक प्रथम।

४–रेवतगिरि रास–डा० मायाणी–पद ? कडवक २।

५–समुद विजय सिवदेवि पुत्तु जायव कुल मडणु
जरासिध मयमदणु मदमाण विहडणु।

डा० भायाणी ने उसे २२ पक्तिया में विभक्त किया है। रोला छद भी अपभ्र श परम्परा का प्रमुख छद है। चतुर्थ कडवक की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह पूरा कडवक ही सोरठा छद म लिखा गया है। इस छन्द मे वर्णित "ए" वर्ण रचना को गीतात्मक बनाता है और इसे हटा लेने पर सोरठा की मात्राए बराबर ठीक बैठती हैं। कवि का वर्णन चातुर्य इसी छन्द म है। [१]

प्रस्तुत रास को रचना का उद्देश्य सामाजिक एवं धार्मिक प्रवृत्तिया के प्रकाश म जीवन म निर्वेद का महत्व तीर्थों और चरित नायकों के आदर्शों की सहायता से स्पष्ट करना है। जीवन निर्माण में यह रास एव आध्यात्मिक सन्देश देता है। इस कृति से तत्कालीन जैन राजाओ की साहित्यिक प्रवृत्ति और धार्मिक प्रवृत्ति पर अच्छा प्रभाव पडता है।

प्रस्तुत रास की भाषा म सरलता, प्राजलता और जयदेव की वाणी की भाति प्रसाद और मधुरता है। शब्दों की विकासात्मक प्रवृत्ति तथा भाषा मे तद्भव व तत्सम शब्दों की झलक स्पष्ट है। प्रयुक्त राजस्थानी और गुजराती के शब्दों मे भी नवीनता का प्रयोग है। सासु परव तूसइ सामिणि, टजिल, ऊवर पाज, दीसइ, गिरनार, भाय, घरिउ, पालाट, अठाई, सीह दीठु अगुण आदि। कुछ शब्दों का विशेष विश्लेषण देखिए —

(१) सुमय या सुषम–सुसम से सूमू हो गया।

(२) सुखमय–सुखमयु–सुहयउ–सूहमु–सूमू।

(३) रेवतगिरि प्रयोग षष्ठी विभक्ति का लगता है। "ए" का रूप सस्कृति 'गिरे' से मेल खाता है। गिरि का गिरे बना दिया है। ऐसा भी सभव है कि गिरे सप्तमी विभक्ति का हो।

(४) अविउ, गलियु मसमीर झलहलइ, गलइ, रासु कण्पिउ जइजइकार, आवट, घरिउ, बलतउ, ठामि ठामि आदि स्पष्ट अर्थोंवाले शब्द हैं जिनमे अधिकाश रूप सप्तमी के है।

(५) कडवक शब्द की उत्पत्ति देखिए —

(क) कटप्र>कडप्प>कडवक या

(ख) कटप्र>कडप्प>कडाप>कलाप या

(ग) कटप्र>कडप्प>कटप>कडव>कडव>कडवक अत कटप्र शब्द ही इसका उद्भव लगता है। हेमचद्र ने लिखा है "कटप्पा कटप्र

१–वही, पृ० ५ पद २, चतुर्थ कडवक।

शब्द सवाप्रप्यस्ति सच सवीना नाति प्रसिद्ध इति निबद्धम् ।" वे कटप्र शब्द को संस्कृत का बताते हैं।[1]

(६) रती शब्द की व्युत्पत्ति सम्भवत —रुचि शब्द से हुई होगी। रुचि+त प्रत्यय —रुचि ल=रुइति। रुइति>रुल>रती।

(७) तु शब्द सर्वनाम तु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

(८) तित्य माहि, पन्वय माहि प्रयाग सप्तमी के हैं। माहि शब्द मध्ये मज्झ–मामि–माधि–माहि संभव हो सकता है। धरि, जामि आदि रूप तृतीया के हैं।

(९) प्रथम शब्द प्रथ धातु में और अम प्रत्यय लगाकर बना है। प्रथ के रूप प्रत्यय लगने से पन्यामिल्ल तथा प्राकृत पत्थ–पुत्थ–पढुम–पुढुम आदि रूप बनते हैं। हेमचन्द्र ने थ को ढ में परिवर्तित हो जाने का ही विधान किया है।[2]

(१०) सन्टाविय भराविय आदि रूप कृत कृदन्त रूप हैं। ठामु का मूल रूप स्था धातु में है।[3]

निष्पक्ष रेवतगिरि रास की काव्य की दृष्टि से अपूर्व महत्व है। वास्तव में संस्कृत साहित्य की दृष्टि से भी हम इस काव्य में उच्च कविता देख सकते हैं। इसमें शुद्ध शब्द चमत्कृति और शुद्ध अर्थ चमत्कृति वाली कविता है। यह विद्वान् लेखक श्री शास्त्री का विचार है।[4] इस प्रकार धार्मिक ग्रन्थ, धार्मिक विषय तथा आध्यात्मिक तत्व पूर्ण रचना होने पर भी इसमें साहित्यिकता और निसर्ग काव्यात्मकता का समन्वय है। धर्म इसमें प्रेरणा के रूप में है।

१—देशी नाम माला गाथा १३ श्री हेमचन्द्र।

२—रेवंतगिरि रास पृ० १–६।

३—वही।

४—भारतीय कविता श्री कन्हैयाराम काशीराम शास्त्री, पृ० १३१।

नेमिनाथ रास [1]

१३वी शताब्दी का एक महत्वपूर्ण रास नेमिनाथ रास है। इसके रचयिता श्री सुमतिगणि हैं। यह रास १३वी शताब्दी की उत्तरार्द्ध का है। इसका रचना काल स० १२७० है। विजयसेन सूरि के रेवतगिरि रास के पहले ही इस रास की रचना हुई होगी। क्योंकि रासकर्त्ता सुमतिगणि की अन्य रचनाओं की तुलना मे यही कृति पहले रची हुई है ऐसा प्रतीत होता है। कवि सुमतिगणि का निवासस्थान राजस्थान ही था। वे एक प्रतिभाशाली कवि और यशस्वी टीकाकार थे।

प्रस्तुत रास जैसलमेर की स० १४३७ की स्वाध्याय पुस्तक मे उपलब्ध हुआ। एक और प्रति जसलमेर के दुर्ग स्थित बडे भण्डार में है। इन दोनो के आधार पर ही प्रति का पाठ सम्पादन हुआ है। सुमतिगणि जसे कवि की और भी रचनाए होगी जो प्रचार की कमी से लुप्त हो गई प्रतीत होती है।

नेमिनाथ पर रचे काव्यो की परम्परा अपभ्रंश से ही मिलती है। अपभ्रंशेतर रचनाओ मे तो नेमिनाथ जैसे प्रसिद्ध व्यक्तित्व पर तो सैकडो की सख्या म ग्रन्थ रचे गये है। कवि ने नेमिनाथ रास मे नेमिनाथ के चरित पर प्रकाश डाला है रचना छोटी है कुल मिलाकर ५८ छन्द हैं पर कवि की काव्य प्रतिभा की परीक्षा इसी मे हो जाती है।

नेमिनाथ के स्यात्तवृत पर आगे विस्तार मे प्रकाश डाला जायगा यहा कृति का एक मूल्याकन ही प्रस्तुत किया जारहा है। नेमिकुमार जैनियो के २२वें तीर्थकर थे। उनका राजकुमार होना तथा शक्तिशाली वीर, पराक्रमी होकर भी ससार से वीतरागी हो जाना, तथा विवाह के अवसर पर अभिन्न यौवना राजमती को छोडकर चल देना बडी आश्चर्यजनक घटना है। राजमती भी उन्ही के चरणो मे जाकर दीक्षाग्रहण कर लेती है और अन्त म दोनो महानिर्वाण की प्राप्ति करते हैं। बरातियो के लिए जीवित पशुओ का वध किया जाकर भोज्य

१–हिंदी अनुशीलन वर्ष ७ अङ्क १ पृ० ४४–५० "सुमतिगणि कृत नेमिनाथ रास लेख।

बनाना आदि बातों ने उनमें वैराग्य उत्पन्न कर दिया। नेमिनाथ श्रीकृष्ण बलराम के भाई थे तथा यादव कुल में सब से सब शक्तिमान थे।

रास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि रचना जन भाषा में लिखी हुई है जो वर्णनात्मक और गेय तत्व प्रधान है। यह सम्भवतः गाने और नर्तन के लिए ही रचा गया है।

प्रारम्भ में मंगलाचरण कर कवि ने नेमिकुमार (अरिष्टनेमि) के जन्म का व उनके पिता समुद्रविजय व सौरीपुर की महारानी शिवादेवी का वर्णन किया है।

बाल्यकाल में ही नेमिकुमार असाधारण पराक्रमी थे। खेलते-खेलते ही एक दिन उनका कृष्ण की आयुध शाला में जाकर उनके धनुष की टंकार की तथा लीला मात्र में ही कृष्ण का शंख बजा दिया। कृष्ण अत्यन्त भयभीत हुए। जिनवर नेमिनाथ का बाल्य रूप और आयुधशाला का पराक्रम वर्णन दृष्टव्य है —

सो माहाए जिणाए जिणेसर रूवरह जिय मयण सुणीसरू
सुर गिरि कंदरि चडउ जम्ब वद्धउ नेमि सुहसुहि तम्ब ॥२१॥
तहि वसति जाय व कुल कारिहिं रमहिं रमहिं कारनि चढि छाडिनि
सगपुरी इदुव सव कान गयउ न जाणइ विजिउ काद्
नमि कुमरू अन दियहि रमतउ गन्हरि आगह मार भमतउ
सखु नेवि लानइ वाएउ सखमिह तिहूयण खामइ ॥२४॥

तमणि पमणई कन्हा किण बायउ सख
भणिउ जणेण नरिन्द जिण बडुन असखु
ता भयभाउ मणह हरि रामह भाउ नन्दि यामु तू गावउ
लेमइ नेमिकुमरू तह रज्जू हा हा हियर धमक्कउ अज्जु [1]

विविध रूपों में कवि ने नेमिनाथ का राज्य के प्रति निर्विप्ति का वर्णन किया है। विषय सुखों के प्रति वे सदा उदासीन रहे।

राम भणइ मन करइ वियारु रज्जु न लमइ तुह कुवि भाउ
रहु समारु विरत्तु जिणेसरू सुरत सुखव दरिसिउ परमसरू
रज्जु सुक्ख करि सुट्ठु दुवढउ धार नरइ मा निवडउ निच्छउ
पुणवि मागइ हरि रामह आगउ वधव गय रउ पुन्नवि ममणइ
अनुन परिक्कमु नमिकुमारू लेमिइ रज्जु न लिण्उ सहारू

1–हिन्दी अनुशीलन वर्ष ७ अङ्क १, पृ० ८८।

राम जणद्दणु पडिवाहेइ, पुग्गह बारण रज्जु व लेइ
मुद्दकु बुद्धिवतु कुवि हाइ प्रामिउ मुनहि विम्व विमु भवमइ (२७–३४)

विविध दृष्टान्ता स कवि ने भाषा को सबल व भावपूर्ण बना दिया है। आगे रचनाकार न नमिनाथ के विवाह पर प्रकाश डाला है। उग्रसन की लडकी राजुल को रोती छोड नमिनाथ वीतरागी बन गये। विरहिणी राजुल चिरविरहिणी बन गई। वाडे म बधे पशुप्रो का करुण क्रन्दन नमिनाथ से नही सहा गया जो बरातियो क भोज्य के लिए वध किये जाने वाले थे प्रौर इस प्रकार द्वार तोरण पर प्राये नमिनाथ न मुनरो राजुल क सारे स्वप्नो को प्रभावहीन कर दिया। रूपवती राजुल के सौन्दर्य वर्णन म कवि का कौशल दर्शनीय है। अलकरण की छटा न स्थल का सौन्दर्य प्रौर बढा दिया है —

"हू जाणउ मह अच्छइ बाली राइमई बहु गुणिहि विसाली
उग्गमणु राय गहि जाइय, रुव सुहाग लाणि विक्खाइय
जसु पणु वेम वनावु लुनतउ, नानु किरण जालुन्व फुरतउ
दीसइ गीहर नयण सहती न निलुप्पल लील हसति
वयणु कमलु न छण ससि मडणु, दिक्खवि झुल्लइ धूमा खडणु
मणधरू धणहरू मणु मोहेइ कचन कलसह लीह न दई
सरल बाहुलय कत विगयय, न चपय लय गयवरिणि लजिजउ
जसु सल्लु पतिण उत्तासिय नरइ गइयस कत्थ विनासिय
इय विण विणु वरिह सा धान वराविय
नमिकुमारह दमि (कुपतियय) जायव मेलाविय (४१–४५)

सौन्दर्य वर्णन पर्याप्त सुघड है तथा सौंदर्य क उपमाना मे भी मौलिकता है। रूपवती राजमती की जीवन भर की साधना व्यर्थ हो गई, राजमती का सारा शृगार क्रन्दन म तिरोहित हो गया। उसकी कान्ति रुदन में बदल गई पर उसने धैर्य नही छोडा। ऐसे दिव्य पुरुप मुझ मूर्ख के वल्लभ कैसे हो सकते है ? करुण रस मे डूबी हुई राजमती की वाणी बडी दयनीय स्थिति की द्योतक है। अन्त मे राजमती स्वय नमिनाथ के पास गिरनार जाकर दीक्षित हो, कैवल्य पद को प्राप्त करती है —

"स निसुणेविणु राय मई, चिंतइ धिगुधिगु एहु ससारू
निच्छय जाणिउ हव मह न परणइ नेमिकुमारू
जा विहुयण रुविण करि छडियउ, जं कन्तनु कुरुविक्इ छडिउ
सुर रमणी हवि जा किर दुल्लहु, सा किम्व हुई महु मुद्दिय वल्लहु
पुणरवि चितइ राइमइ जहहउ नेमि कुमारिण मुक्कि

गय सुकुमाल रास [1]

जसलमेर के वडे भण्डार मे स० १४०० मे लिखि एक प्रति गय सुकुमाल रास की उपलब्ध होती है। इस प्रति की प्रतिलिपि अभय जैन ग्रन्थालय में विद्यमान है। इसके रचयिता मुनि नाचन्द्र सूरि के शिष्य श्री दल्हण हैं। दल्हण का समय निर्धारित नही है, पर क्योंकि जगचन्द्र सूरि का समय स १३०० है अत बहुत सम्भव है कि इनका काल भी समकालीन या १३१५ से स १३२५ के बीच मे कही अनुमानित किया जा सकता है।

कृति की भाषा को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि यह अपभ्रंश शब्दों की अधिकता लिए है। इसके पूर्व वर्णित रास कृतियों मे आने वाले अपभ्रंश आदि के शब्दों के अनुपात म इस कृति म अपभ्रंश के शब्द अधिक हैं। फिर भी लोकभाषा की कृति होने से इसका महत्व स्पष्ट है।

प्रस्तुत रास मुनि गज सुकुमाल पर लिखा एक चरित काव्य है। गज सुकुमार कृष्ण के एक सहोदर अनुज थे। देवकी को उसके पहले पैदा हुए कृष्ण सहित ७ पुत्रों का सुख न मिल सकने पर उसने कृष्ण को मातृ सुख व शिशु-क्रीडा आनन्द का अभाव बताया। कारण नगर म नेमिनाथ के साथ ६ साधु एक ही रूप के थे और वे दो दो की टोली बना कर देवकी के यहा आहार ग्रहण करने को आये। देवकी का मातृत्व उमड पडा। नेमिनाथ से पूछने पर उसे उन्होंने बताया कि ये छहो मुनि उसी के पुत्र हैं जो कंस द्वारा मार डालने पर बच गये थे। देवकी को अब बालक की इच्छा हुई। कृष्ण ने तपस्या करके पता लगाया। देवता ने बताया कि बालक तो इसके और हो सकता है पर यह उसका बाल्यकाल का सुख ही देख सकेगा। युवा होने से पूर्व ही वह दीक्षा ले लेगा। नियत समय पर बालक हो गया क्योंकि वह गज के बच्चे की भांति सुकुमार व सुकोमल था अत उसका नाम गजसुकुमाल रख दिया गया। मा देवकी ने उसे खूब लाड-प्यार से पाल कर अपनी मातृ-सुख व वात्सल्य की

१-राजस्थान भारती वर्ष ३ अङ्क २, पृ० ८७ पर गयसुकुमाल रास-श्री अगरचन्द नाहटा का लेख।

अतृप्त-कामना की पूर्ति की। एक दिन नेमिनाथ मुनि द्वारा आये उनकी रसीली वाणी सुनकर गयसुकुमार को वैराग्य हो गया। माँ के बहुत मना करने पर भी इन्होंने बात न मानी। नेमिनाथ से दीक्षा ले ली। पहले ही दिन उनसे उन्होंने कैवल्य की प्राप्ति का उपाय पूछा। नेमिनाथ ने क्रिया द्वेष रहित होकर तितिक्षा धारण करना बताया। बालक सुकुमार श्मशान में जाकर ध्यानस्थ हो गया। इधर उसी का पाणिग्रहण करने के लिए एक सुन्दर लड़की के ब्राह्मण पिता को जब ज्ञात हुआ कि इसने तो दीक्षा लेकर मेरी सुन्दरी कन्या का जीवन ही मिटा दिया है तो उसने चिता के गर्म-गर्म अंगार लेकर उसके सिर पर डाल दिये। बालक पूरा जल गया पर अब तो उसे भान हो गया था कि मैं तो आत्मा हूँ जल तो केवल शरीर रहा है। इस तरह साधना व मोक्ष प्राप्ति के लिए बालक ने जीवन उत्सर्ग कर दिया। पापी ब्राह्मण भी कृष्ण को देखकर पाप करने से मृत्यु को प्राप्त हुआ। यही इस रास की कथा सार है।

कथा में घटनाओं का वैचित्र्य और कथा सूत्र में कथात्मकता होने से पाठकों का उत्साह एक रस बना रहता है। जैन सूत्रों में भी गज सुकुमार का जीवन चरित मिलता है। वस्तुतः पूरा रास कवि ने गजसुकुमार की साधना, तितिक्षा व कैवल्य प्राप्ति में प्रशंसा व चरित वर्णन के रूप में लिखा है।

भाषा की दृष्टि से इस रास को डॉ० हरिवंश कोछड़ ने अपभ्रंश की कोटि में लिया है परन्तु उनकी यह मान्यता सम्भवतः ठीक नहीं है। कृति की भाषा अपभ्रंश से पूर्ववर्ती रूप तथा तत्कालीन लोक भाषा से सम्बन्ध रखती है। भाषा के बल पर यह तो कहा जा सकता है कि इस कृति की रचना काल सम्भवतः सं० १२०० के ही आस-पास माना जा सकता है पर कृति की अपभ्रंश तत्कालीन भाषा परिवर्तन काल की उपेक्षा करती है। वास्तव में यह रचना संधिकालीन रचना है। कवि ने यह रचना श्री देवेन्द्र सूरि के कहने से ही लिखी है —

'सिरि देविंद सूरिन्द वयणु, ससि उवगसि सम्थिउ
गयसुकुमार चरित्तु सिरि रंगिण रइयउ'—

आगे कवि के काव्यात्मक स्थलों, तथा भाषा का रूप देखने के लिए कुछ रचना के उदाहरण दिये जा रहे हैं —

कृष्ण के राज्य का वर्णन, द्वारिका का आकार इन्द्र आये हुए समान रूप। ६ मुनियों की द्वारका आगमन का वर्णन इन स्थलों का देखिये —

"नयरिहि रज्जु करेइ तहि कण्हु नरिंदु
नरवइ मंति गणहो जिम सुरगणि इंदु

सख चक्क गय पहरण धारा
कंस नराहिव कय महारा
जिण चाण उरि मल्लु वियरिउ
जरासिंधु बलवतउ धाडिउ

तासु जणउ वसुदेवा वर रुवनिहाणू
महियलि पयड पयावा रिउ भड तम भाणू
जणणिहि देवइ गुण संपुन्निय
नावइ सुरलायह उत्तिन्निय
सा निय मदिर अच्छइ जाम्ब
तिन्नि जरि जुयल मुणि आइय ताम्ब
सिरि वच्छविय वच्छे रुवि विक्खाया
चितइ धन्निय नारी जसु जाया (५-६) रा० भा० वर्ष ३ अङ्क २

छहा मुनियो को एक रूप देखकर देवकी को शका हुई कि मुनि तीन बार कसे आहार ग्रहण करने आये और इसका परिहार नेमिनाथ ही करते है और देवकी क मन मे बाल सुख का अभाव विषाद भर देता है —

'मुनिवर सु दर लक्खण सहिया, महमुय कसि कयच्छि गहिया
वारवइ मुणि विभइ इत्ययू वह वलिवलि मुणि आयउ इत्यू
पूछइ देवइ ता पभणहि मुनिवर ताम्वा (अम्ह) सम रुव सहोन्र
सुलस सरविय कुक्खि धरिया जु वण विसय विसाइ नडिया
सुमरिउ जिणबर नेमिकुमारु, तसु पय मूलि लयउ वय भारु

जाइवि पुच्छिइ नेमिकुमारू, संसउ ताडइ तिहुयण सारू
पुव्वि छच्च रयण तत हरिया, विणि कारणि तुह सुय अवहरिया
कस वि होइ निमितू वर करह करेई सुलस सराविय ताम्वा सुरु अक्षइ
देवइ मुणिवर वंदइ जाम्व हरिस विसाउ धरइ मणि ताम्व
सुलस सघन्निय असु धारितहिय हउ पुण बाल विउइहि दहिय
खिल्लवइ मलहावइ जाम्व देवइ मन दुम्मण हुइ ताम्व

कवि ने गयसुकुमाल का श्मशान मे जाकर कठिन तितिक्षा का वर्णन देखिए —

"माह लहागिरि चूरण मज्जू, भवतरुवर उम्मूलण गज्जू
सुमरिवि जिणवरु नेमिकुमारू, गय सुकुमारु लेइ वयभारू
ठिउ का उसंगि ताम्व जाय वि मसाणा,

बारह [illegible] बाहिर [illegible]
नमि गु [illegible] कुविन्तु [illegible] जय [illegible]
[illegible] पुर विनडिर [illegible] जैम [illegible] तनु पमु [illegible]

[illegible] भावना में [illegible] का [illegible] की भांति कोमल [illegible] गजसुकुमार [illegible] के [illegible] हो [illegible] की यह भावना कवि ने बड़ी ही [illegible] से वर्णित की है —

तासु गजसुकुमार मिरि [illegible] सिरि पुरमेई
[illegible] गजसुकुमारु [illegible] विसारु
[illegible] मुरलिरि [illegible]
[illegible] विलिग [illegible] हुयइ [illegible]
[illegible] गजसुकुमारु [illegible] जारु
[illegible] रागु [illegible] रागु [1]

रास के [illegible] कवि ने रास [illegible] का [illegible] किया है। कवि ने यह चरित्र प्रधान रास गजसुकुमार की [illegible] प्रधान भावना की [illegible] के रूप में लिखा है। यह रास [illegible] मनन करने और [illegible] होने के लिए ही लिखा गया है —

[illegible] रागु [illegible] मंगु [illegible]
एहु रागु [illegible] महि [2]

वस्तुतः [illegible] रासों में भाषा के [illegible] ऐसी कृतियों विशेष महत्व की हो सकती हैं। इनमें [illegible] प्रयोग और [illegible] भाषाओं के [illegible] की स्थिति स्पष्ट होती है। [illegible] की दृष्टि से कृति का महत्व [illegible] है।

[illegible] का यह रास [illegible] कवि ने गजसुकुमार के चरित्र वर्णन [illegible] चरित्र [illegible] किया है। [illegible] प्रकार [illegible] हो जाता है कि रास की रचना [illegible] उल्लास [illegible] ने [illegible] की [illegible] गया था। इस तरह रास [illegible] रचनाओं की वस्तु स्थिति में [illegible] परिवर्तन हो गया।

1—[illegible]-राजस्थान भारती, [illegible] अङ्क [illegible] (१९—[illegible]) पृ० ३।
2—वही पद ३८।

कच्छूली रास

१४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक रचना कच्छूली रास मिलती है। रचना का लेखक अज्ञात है। रचना काल रचनाकार और रास के रचना स्थल का सम्भाव्य कल्पना रास की कुछ अन्तिम पंक्तियों में की जा सकती है। श्री मोहनलाल देसाई ने भी इसका रचनाकार श्री प्रज्ञातिलक सूरि माना है[2] पर यह बात ठीक नहीं जँचती है। रास की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

"सात्रीसइ असाडि लक्खमण मयधर सारंगमा
ख्यणी नयर मझारि आरिठवणउ भीमि जिम।
कमल सूरि नियगाढि सई हथि अनानूरिठनामा
पसीउ पसायोउ गीवु भुणसणि अप्पा सूधुनीमा
पणि पहूतउ सुरराइ गणहरू गयाजन विमलो
तासु सीसु चिरकालु अनपउ प्रज्ञातिलक सूरे
जिण सासणि नहचदु सुह गुरु भवीयहं कल्पतरो
ता जागे जयवंत उमाहा जा जगि ऊगइ सहसकरो
तेर त्रिसठइ रासु कोरिंटावडि निम्मिउ
जिण हरि रंगि सुणत मण वंछिय सवि पूरवउ'

इस तथ्य से प्रज्ञातिलक सूरि का नाम रास का रचना संवत् १३६३ तथा रचना स्थल कोरिंटवड स्पष्ट होता है। देसाई जी की बात का परिहार इस बात से हो जाता है कि यदि कृति का कर्त्ता स्वयं प्रज्ञातिलक होता तो वह स्वयं अपने लिए प्रशंसात्मक वर्णन कैसे कर सकता था। श्री के० का० शास्त्री का मत है कि ऐसा लगता है कि किसी अज्ञात लेखक ने यह रास रचा होगा।[3] पर शास्त्री जी का आधार भी इस दृष्टि से किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचता। अस्तु रचना व रचना की उसके चरित नायक तथा ऐतिहासिक

१–प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह श्री चिमनलाल दलाल, पृ० ६२६।
२–जैन गुर्जर कवियो, भाग १ पृ० ८।
३–आपणा कवियो श्री के० का० शास्त्री पृ० २०७।

वातावरण पूर्ण उल्लास एवं प्रशंसात्मक वर्णना को देखकर यह कहा जा सकता है कि या तो इसकी रचना किसी मथाधिप द्वारा हुई या प्रज्ञातिलक सूरि के ही किसी अंतरंग शिष्य द्वारा हुई होगी।

कच्छूली रास एक ऐतिहासिक गीति रचना है जिसमें आबू का अचलेश्वर जैन मन्दिर चन्द्रावती कोरिंटवड आदि जैन तीर्थों का वर्णन है। साथ ही आबू के अन्तर्गत कुंडेव परमारों का वर्णन भी कवि ने किया है। रास में कोई कथा विशेष नहीं। कच्छूली ग्राम में उत्पन्न श्री उदयसिंह सूरि का पराक्रम और शौर्य वर्णन है। धार्मिक दृष्टि से कच्छूली ग्राम का महत्व स्पष्ट किया गया है। साथ ही कवि ने सब वर्णन किया है जिसमें प्रज्ञातिलक सूरि प्रमुख पात्र है। उदयसिंह ने संघ निकाला संघ चन्द्रावली गया वहीं साजण के पुत्र कमल सूरि की दीक्षा हुई और तब कोरिंटवड स्थान पर प्रज्ञातिलक के किसी शिष्य विशेष ने रास रचना की होगी।

कथा की दृष्टि से इस कृति का कोई विशेष महत्व नहीं कथा में कोई नवीनता भी नहीं मिलती पर भाषा शैली और छन्दों की दृष्टि से रचना महत्वपूर्ण है। कवि ने मंगलाचरण से ही प्रारम्भ किया है। आचार विचार और अनियमित जीवन यापन करने वाले कवियों के लिए कुछ अच्छे सिखावन कवि ने दिए हैं —

> 'केवल भुगति न जिणु भणइ नारिहि सिद्धि भणेइ
> उदयसूरि पमणउ पलोउ नय तन राय प्रमाणि
> कवल मुकति म भ्रांति कर नारि जति ध्रुव सिद्धि
> तिस मय सिद्धा वज्जि जाय लाइ आहार विसुद्धि'

छन्दों की दृष्टि से इस कृति में वाङ्मय मिलता है। यों दोहा चौपाई आदि छन्द तो मिलते ही हैं पर मूलतः छन्द विशेष शिल्प के साथ वर्णित हुआ है। यह छन्द २० मात्राओं के चरणों का मिलता है। इसमें दो कड़ियां होती हैं जिसमें एक दोहा की व दूसरी कोई द्विपदी होती है। छन्दों के क्षेत्र में इसका मौलिक योग दिखाई पड़ता है। बीच बीच में जो बार बार पदों की आवृत्ति होती है वह छन्द को कलात्मक बनाती है। इसमें इस रास में गेयता जैसी प्रवृत्ति स्पष्ट होती है। एक उदाहरण देखिए —

> मयवर नउ हिव रहिज ज गुरु सिद्धिहि चढा
> विसहरु आनउ परिखवि ज लपाउ ए लपाउ नहु पयडा

१—प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, आ ... पृ० ७९–६२।

तउ गुरि मुहसा मिल्हि करि होइ गरहु पणेग्ण
धाईउ लीधउ चत्रु पढे गिलीउ ए गिलीउ ए गिलीउ छाल भुयंगो
पाउ पिल्लिवि समुहीय डर डरनु थीउ साधो
जावणहार सवि पल मलीय हीयडई ए हीयडई ए हीयडइ पडीउ दाधो

तउ गुरि मूकीउ रय हरणु कीधउ सीहु कराली
वाघह जता दूरि भीउ हरिसीउ ए हरिसीउ ए हरिसीउ नयरु सवालो [१]

झूलणा छन्द इससे पूर्व सोम मूर्ति रचित जिनेश्वर सूरि विवाह वर्णन रास में भी मिलता है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। एक और छन्द जो म० १२४१ के भरतेश्वर बाहुबली में मिलता है इसमें वर्णित हुआ है। इस छन्द में १६+१६+१३ मात्राओं का प्रयोग है जिसका निर्वाह पहले शालिभद्र सूरि ने किया है। [२] सम्भवत इस छन्द का वर्णन कवि ने परम्परा निर्वाह के लिए ही किया हो। छन्द है —

सिरि महेसर सूरिहि वसो, बीजो साह व निसु रासा, धमीय रोलु निवारीउ
नभकु ड संमम परमार, राजु करइ तहि छे सविवार आबू गिरिवर तहि पवरो
जणमण जयणह कम्पण मूनी वच्छूली विरि लक विलामी सर प्रववदि मणोहरीय [३]

श्री लालचन्द गाधी ने इस छन्द को रास छन्द की सज्ञा दी है जो सम्भवत रास रचनाओं के लिए एक छन्द विशेष हो गया था। [४] श्री के० का० शास्त्री ने इस छन्द को मिश्र छन्द कहा है तथा इसमे १६+१६+१३+ और १६+१६+१३ की द्विपदिया बताई है। [५] इन छन्दों के अतिरिक्त दोहा चौपाई छन्द भी मिलते हैं। रास महोत्सव के लिए लिखा गया है अत गेयता उसमें विद्यमान है।

भाषा के सम्बन्ध में रचना का महत्व साधारण है। लाक भाषा के प्रवाह में कवि ने "बूब" जैसे शब्द का प्रयोग किया है—

"इइ कमालीउ कालमुहो लोकिहि ये लोकिहि ये लोकिहि वाइय बूब [६]

१–प्राचीन गु० का० स०, पृ० ६१।
२–भरतेश्वर-बाहुबली रास, श्री ला० भ० गाधी पृ० २।
३–प्राचीन गु० का० स०, श्री दलाल पृ० ५६।
४–भरतेश्वर-बाहुबली रास, पृ० २।
५–आपणा कवियो, श्री के० का० शास्त्री, पृ० १५६–१६०।
६–प्रा० गु० का० सं०, श्री दलाल, पृ० ६१।

राजस्थानी में बीनचार म आज भी बुब शब्द मिलता है जो सम्भवत गोर में बीनन के लिए प्रयुक्त होता है। यह भी सम्भव है कि यह शब्द विदेशी हो।

नये शब्द म—कमठ, नाय वरमात, धमगउ, पामजिण, घनलकु द चिन्तामणि, हिमगिरि धवलउ, प्राविर उपवाग, मूरीउ, बीजी, मुकति, भ्राति, चिरात विमल आदि अनक शब्द मिलत हैं। अत इन शब्दा म भाषा में नवीन शब्दों क ग्रहण की शक्ति स्पष्ट होती है।

१४वीं शताब्दी क इन्हीं काव्यों की परम्परा म इसी प्रकार की कथा वस्तु वे दो विस्तृत रास काव्य मिलत हैं। इन काव्यों में भी सघ वर्णन है तथा दानवीर महपतियों की दानशीलता का वर्णन है। इन दोनों कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन सक्षेप में किया जायगा। काव्य प्रवाह भाषा और छन्दों की दृष्टि म ये दोनों रास महत्वपूर्ण प्रबन्ध हैं।

१—पेथड रास [1]—स० १३६३—मंडलिक

२—समरा रास [2]—स० १३७१—अंबदेव

ये दोनों कृतियां प्रकाशित हैं तथा इनमें पेथड और समरसिंह की दानवीरता पराक्रम और शौर्य, तीर्थोद्धार तथा सघ का वर्णन है। दोनों रासों में स पहले का समय और समय अनिश्चित-सा है पर प्राप्त बहिरंग प्रमाणों के आधार पर इसे स० १३६३ की रचना मानी जा सकती है। पेथड रास की पूर्णता पर श्री क० का० शास्त्री ने शंका प्रकट की है [3] यों रचना की पुष्पिका ' इति श्री प्राग्वाटवश मौक्तिक काव्य पेथड रास समाप्त " को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रचना अपूर्ण नहीं है। रचना का लक्ष्य भी पूरा हो गया है। अत रचना को अपूर्ण कहना असन्दिग्ध ही लगता है। वस्तुत शास्त्री जी का अनुमान बहुत ठीक नहीं है। कवि मडलिक पर भी मत वैभिन्य है पर मडलिक का प्रमाण रास म मिल जाता है।

कृति का ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ा महत्व है। कई ऐतिहासिक पुरुषों यथा कर्णदेव खगार आदि का वर्णन भी मिलता है। श्री शास्त्री इसके कर्ता क विषय में लिखते हैं कि या तो इस काव्य का रचयिता ही खगार है या वह नहीं है, तो मडलिक का पिता सगार होगा और वह वृद्ध होगा

१—प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, श्री दलाल एडिशन १० पृ० २१।

२—वही पृ० २७।

३—आपणा कवियो, श्री क० का० शास्त्री, पृ० १६७।

मत मण्डलिक ही इसका कर्त्ता रहा होगा। खंगार की मृत्यु का प्रमाण तो वि० स० १३१६ में ही मिलता है। [1]

जो भी हो, कृति के रचनाकार और रचना काल दोनों की स्थितिया अस्पष्ट हैं। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर मण्डलिक को ही इसका रचनाकार कहा जा सकता है व इसका काल सं० १३६० माना जा सकता है।

पेथड वस्तुपाल और तेजपाल की भांति यशस्वी था। समरसिंह का यश भी पेथड से कम नहीं था। पेथड और समर दोनों दानवीर पुरुषों ने संघ निकाला था। पेथड रास में कई स्थानों पर क्रीडा, ताल, लकुटा रास, नृत्य, गीत, गान आदि के पद मिलते हैं। कुछ काव्यात्मक सरस स्थल द्रष्टव्य है —

'त्वानई बालाय नयणि विसालीय न्तीय ताली रगि फिरंती हरिस भरे
तहि पेला नाचइ पल बहुयत वेला वाला मोन लट्टा रसि रमई [2]

कामिणी धामिणि धवल दयती गायती गुण जिणवरह
गति अमाटु जात्र समाहुउ वरीयल कनि सुणतीह य
ते चउरा रुडा तउवा ताडी, नवा नवेरा दसइ गेहुण गण सघण
त घणा घणेरा सम विसमेरा सखि न दीसई असखि पुण—

शब्द चयन की सुगठितता, सरलता तथा गीतिमयता के साथ-साथ कवि ने रास क्रीडा का महत्व स्पष्ट किया है —

'रास रमेवउ जिन भुवणि ताल मेद ठवियाउ
संघ तलायन रोपिउ ए समागिरि विमगिरि वेवि"

अनेक अलकारिक सूक्तियाँ भी रास में मिल जाती हैं —

(१) लाछिनएउ जड गरव करेइ लीजइ राउल छनह धरेई
(२) मणूय जनम हव सफल करोजइ जिविय यौवन लाहउ लीजर
(३) एक चित सवि ममाण जाण
(४) जिम कंचरा कस वटटीय पामिउ बहुगुण रेह
(५) धण कण रयण भडार ते सवि अद्धगिय असार

साथ ही नारियों के नृत्य कामिनियों के आल्हादकारी हास तथा रास क्रीडा के साथ-साथ गिरिनार और सुवर्ण रेखा नदी के काव्यात्मक वर्णन अनूठे हैं। [3]

१–गुजरात–राजस्थान, पृ० ३०८।
२–प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृ० २६ एपेंडिक्स १०।
३–वही पृ०, २७ छद ४६।

इसी प्रकार श्री अम्बदेव सूरि कृत समरा रास के कथानक स्थल भी उल्लेखनीय हैं। रास रचना का उद्देश्य, गाने, क्रीड़ा करने और नृत्य हेतु पठन बताया है यथा—'एहु रासु जो पढ़इ गुणइ नाचिउ जिण हरि देइ
श्रवणि सुणइ सो बयठऊ ए तीरथ ए तीरथ ए तीरथ जात फलु लेई

समरसिंह ने मुसलमान सुल्तान को प्रसन्न कर संघ निकाला। बादशाह सुल्तान ने संघ की बड़ी सहायता की। समरसिंह ने जैन शास्त्रानुकूल समय में शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार कर आदिनाथ की प्रतिमा स्थापित की। और जूनागढ़ प्रभास पाटण आदि अनेक ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा कर समरसिंह पाटण लौट आये। रास कर्ता ने अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध का रास में उल्लेख किया है। कवि ने पातशाह, सुल्तान आलम अलपखान मीर मलिक महिन्द्र मलिक आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों से रास का सम्बन्ध स्पष्ट किया है। रास पर विस्तृत अध्ययन अन्यत्र प्रस्तुत किया गया है।

रचना का वस्तु वर्णन भाषा में विभक्त है। मुनि जिनविजय जी ने इसकी संख्या १२ ही बताई है और श्री दलाल ने भी इस द्वादशी भाषा ही कहा है।[1] इन भाषा का विचार अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि सम्भवतः कवि ने विभाजन छन्द के आधार पर किया हो क्योंकि हर भाषा में छन्द वैविध्य है। भाषा समाप्त होते ही छन्द परिवर्तन हो जाता है इस दृष्टि से पाठ का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इसे १२ भाषा के स्थान पर १३ भाषा में विभक्त होना चाहिए। क्योंकि द्वादशी भाषा की ६ कड़ियाँ एक ही छन्द में चलती हैं जिसको के० का० शास्त्री ने त्रिपदी या समान छन्द कहा है।[2] पर उसके बाद छन्द बदल जाता है इस भाषा दोहा में रची गई है जिसमें "ए स्वर के साथ वर्णों का तीन बार आवर्तन मिलता है। अतः इस अवशेष भाग को १३वां भाषा कहा जा सकता है। भाषा शब्द "कड़वक की भांति कथा विभाजन का सूचक है अतः यह सर्ग परिवर्तन सूचक शब्द है।

कवि ने अलाउद्दीन और मीर अमर खां की प्रशंसा सात कड़ी तक की है कवि की वर्णन की अलंकारिता दृष्टव्य है—

"तहि अवसरि सुरताणि सुरताण कुतबदीन पमणतो
दिल्लीनयर विशाल करिउ धाइउ
अमिय सरोवर सहसलिंगु इकु धरणिहि कुण्डलु,

---

[1]–प्रा० गु० का० सं० श्री दलाल पृ० २६।

[2]–आपणा कवियो, श्री के० का० शास्त्री, पृ० २१९।

किंत्ति धम्मु किरि ग्रवर देसि मागइ श्राल डसु

पात साहि सुरताण भीवु तहि राजु करेइ,
अलपखानु हीदूग्रह लोय घणु मानजु देई
मीरि मलिकि मानियइ समरु समरथु, पभणी-जइ,
पर उवयारिय माहि लीह जसु पहिलिय दीजई

असंख्य सेना के साथ समरसिंह चलते हैं। हाथी, घोडे, यात्री, सैनिक फलही, और स्थान-स्थान पर उत्सव आनद सबका अनुभूतिपूर्ण वर्णन है घोडो ऊटो व सेना वर्णन मे कवि का कौशल दर्शनीय है —

"वजिय सख असख, नादि काहल दुड दडिया
घोडे चढइ सल्लार सार राउत सींगडिया
तउ देवालय जोयि, वेगि घाघरि वु नमनकइ
सम विसम नवि गणइ, कोइ नवि वारिउ थक्कइ

सिजवाला थर धडहडइ वाहिणि बहु वेगे
धरणि धडक्कइ रज्जु उयए नवि सूझवि मग्गे
हय हीसइ आरसइ करह वेगि वहइ वहल्ल
सान्दिया थाहरइ, श्रवरु नवि देइ बुल्ल

रात्रि के दीपको का तारागणो से साम्य कितना स्पष्ट है —
"निसि दीवी झलहलहि जेम ऊगिउ तारायणु
पावल पाउ न पामियए वेगि वहइ सुखासणु

प्रकृति वर्णन, भाषा की सरलता कायमयता कवि की तन्मयता तथा अलकारो की योजना निम्नाकित पदो से स्पष्ट हो जाती है —

(१) हिव पुण नवीयज बात जिणि दीहडइ दोहिलए
खतिय खग्गु न लिंति साहसि यह साहसुगलए
(२) तसु पुण करइ उदोउ जिम श्रधारइ फटिक मणि
(३) सारणि ग्रमिय तणीय जिणी वहावी मरूमडलिहि
(४) तसु पय कमल मरालुलउ ए कक्क सूरि मुनि राउत
ध्यान धनुष जिणि भजियउ ए मयण मल्ल भडिवाउत
(५) धम्म धोरिय धुरि धवल दुइ जुत्तया, कु कुम पिंजरि कामधेनु पुत्तया
इन्दु जिमि जयरथि चडिउ सचारए, सूह वसिरि सालि थानु निहालए
(६) रितु अवतरिउ तहि जिवसतो सुरहि कुसुम परिमल पूरतो

समरह वाजिय विजय ढाक, सांगु सेतु सल्हइ सच्छाया
वेगुय कुडय कयव निकाया—

(७) माणिकें मांतिग थउडु गुर पूरइ, रतन मइ वेहि सोवन जगारा
मनाह श्रृंग धनु माधु पल्लव लहिहि तिहुयण रतियले तोरण माला
देवतासा मिलिय पवन नगर न्हियइ किंनर गायहि जगत गुरो[1]
सगत मुकुतर सुरगुरा गायण पयोठ करई सिध पूरि पुरो

उक्त उदाहरण में कृति का काव्य कौशल तथा भाषा में तत्सम शब्दों का समावेश स्पष्ट हो जाता है।

भाषा में विदेशी शब्द व भ्रनक शब्द-रूप इसी कृति में मिल जाते हैं —

(१) सल्लार—धाडे कटक सल्लार सार राउत सोगडिया
(२) पातपानु—मैदिउ य तउ पातपानु
(३) मसिदरमसिदर—मसिदर ए मसिदर भाग शार ले श्रामुखि मारणाए
(४) मीर मलिक—मीर मलिक मसियर समरू समरथ
(५) पातसाहि, श्रलपखान दुनिय हज

हिंदुय, ग्रडणासि—(१) पातसाहि सुरताण भीड़ु तहि राउ करेइ
श्रलपखान हाटुम्रड़ु लाय पाणु मान जुगेइ
(२) मइला ए दुनिय निराम हज मागीय होदुय तणाए
(३) सामिण ए निगुणि ग्रडणानि[2]

छन्दों के क्षेत्र में पवड श्रौर समरा दोनों रासों का बहुत ही महत्व है। इन दोनों रासों ने भाषा श्रौर छन्दों में मौलिकता तथा वैविध्य के सूचक श्रनेक प्रयोग किए हैं उनका क्रमशः श्रध्ययन इस प्रकार है —

पवड रास में छन्दों का वैविध्य द्रष्टव्य है। एक तो जोर भाषा श्रौर दूसरे छन्दों के बन्धन क्रम ने काव्य प्रवाह को बनाया है। इस कृति में भानु दोहा चौपाई श्रौर नौपाया तो है हा, पर छन्दों में सवये पुरानी गुजराती कविता में सर्व प्रथम प्रयुक्त हुए हैं। गुजराती कविता कहने का कारण यह है कि जयदेव के गीत गोविन्द के पूर्व प्रयुक्त सवयों में तो शैली पद्धति थी ही परन्तु इस रास में सवैया में विविधता लाने का प्रयत्न है। इसमें भानु मात्र के पदों में कुछ

१-समरारास प्रा० गु० का० संग्रह, पृ० २८७।
२-समरा रास, पृ० २४५।

मात्राए अधिक दी है और कुछ मात्रा बढाये हुए छ"द मे त्रिभगी छ"द की भाति यति अनुप्रास जैसी पद्धति प्रस्तुत की है। [१]

त्रिभगी छद मे ३२ मात्राए होती है। यह छ"द सम होता है आदि में जगण (।।।) वर्जित है। १०, ८, ८, ६ पर यति और अ"त में गुरु वर्ण का होना इसके शास्त्रीय लक्षण माने जाते है।

उदाहरणार्थ—धाम्मीय निसुणउ लोय मज्झि सधतणउ समाहउ भवीअणउ
प्रागू अ दीजइ भत्तिजत्ति भवीया लहइ लाहइ धण कणउ
पेलिसि रुवीयइ रगि रान इव नवरस नवरग नवीय परे
सुणि सामहणी सधतणी जो करइ निरतर धराहि धरे

एक विशेष श"द लढण इस रास मे मिलता है। जिस तरह कटवक श"द कही कही ठवणि कहलाता है। कच्छूली रास मे जिस प्रकार वस्त श"द का उल्लेख है, उसी प्रकार कवि ने इस पद्धति को लढण कहा है।

ए कार वाला पद लढण के पश्चात जो आता है वह सोरठा है और उसी के साथ ४२ वी कडी मे दोहा परिलक्षित होता है पर उत्तरार्द्ध में उसी पक्ति में बार बार पुन आवृत्ति मिलती है। इस छद के बा"द देशी सवैया का प्रयोग है। ये चार प्रयाग अत्य"त ही विशिष्ट हैं —

"वाय वद्धामणउ अतिहि सोहामणु रिसह भुअणि रलीआमण ए
मविजन कलस कचण मय मडिचले ए
दुवर जलजलि देयति कुसुमजले
धुणति दीण रीण जीण उतारति
जल लवण नम्हण करति सामी सुगध जले

कपूरी पूरि पूरीय तिणि कीयलि मृग नामि अडा निजग गुरू
गुण मिलउ देवाधिदेव जोड वेलवउ सेवत्री पाडल वहूल
कुसुम परमल विपुल पूजहे ॥ वाय वद्धामणु ॥

इसके अतिरिक्त गीत गोवि"द की २७ मात्राओ की देशी सवैया पद्धति मे दो छ"द मिलते हैं। इन सवैया का प्रयोग पहले गीत गोवि"द मे ही मिलता है —

"राजल कत। तहि नाचिनए सहिलडीय ललागीय गिरिनारे
राजलिवर रलिआमुणउ सामलउ ससारो ॥ तहि नाचिनए ॥

१—आपणा कवियो, श्री शास्त्री, पृ० २०४।

मंग परवाति मुगयन्मइए तन पहराय घाति प्रवीत
इम्र महोत्सव श्रायमी तहि वयठविवनु धणवत ॥ नन्दि नाचिनए महि० ॥

श्रौर इसके पश्चात कवि ने राम के ग्रन्त में ग्या पद्धति में त्हा का वर्णन किया है वह भी अपने ही प्रकार का है जिसकी तुक योजना में भी एक वैचित्र्य है —

> भ बिकि श्रास मणहर पूरी श्रवनाईय जानाय
> माज पूजन कुमारीय वनीयउ पय नम मुरी याय ॥
> तहि ना सहस्र ए रूपा या गद गिरिनारि
> सोमनाथ च पर कन्यर देसाउ वर्तीन जाम

दिउ पायाए विव मन रहिमउ मढनिक मणर म ॥ तहि ना० ॥
दिउ पीयाएवेगि तहि हरामाना मृगा रे मूरवा मपत मनीना मूहारे

समर राम में भी छन्द के मौलिक प्रयोग हैं। कवि ने त्हा रोला द्विपदी सोरठा आदि छन्द म राम रचा है। छठा व ७ वा भाषा म चौपाई तथा ५ कड़ियाँ रोला की हैं। ८ वा ६ वा म क्रमश १० कड़ियाँ द्विपदी की तथा ६ कड़िया की एक ऋतुवर्णन छन्द है जिसमे अत्यानुप्रास का काव्य चमत्कार है जिसमें उसकी गयता स्पष्ट होती है और यह छन्द प्रथम बार प्रयुक्त हुआ है। १० वा भाषा में त्हा और ११ वा में कवि के नव प्रयोग हैं। प्रारम्भिक कड़िया में १६ १६ मात्राओं की एक चरण है और फिर १३ मात्राओं की एक अर्द्धाली। १२ वा १३ वा भाषा में त्रिपदी नामक अन्तर छन्द है। इनम दोह के माथ 'ए' का प्रयोग व आवर्तन तीन बार मिलता है। इस प्रकार नाना कृतियाँ छन्दों की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

डा० हरिवंश कोछड़ ने अपने ग्रन्थ अपभ्रंश साहित्य म इन कृतियों को स्फुट साहित्य कह कर छोड़ दिया है और इन रासो को अपभ्रंश की ही कृतियाँ मानी है पर उक्त विवेचन के आधार पर इस धारणा का परिहार हो जाता है। ऐसी कृतियों की अपभ्रंश की बहुत प्राप्त तत्कालीन रासा सभा रासनाओं के शिल्प, भाषा शैली काव्य इतिहास, कथा वस्तु तथा इतिहास के तत्वों की उपेक्षा करता है। वस्तुत नाना रास ध्यान म साहित्य देवता लिए हैं।

मयणरेहा रास [1]

हिन्दी जैन साहित्य में जैन चरित नायकों की ही भांति जैन साध्वियों और आदर्श नारियों (सतियों) पर लिखी गई अनेक रचनाएं उपलब्ध होती हैं। मयणरेहा रास जैन आदर्श राजपुत्री मदनरेखा की जीवन कथा है। प्रस्तुत रास ८ ठवणि में पूरा हुआ है। सतियों के जीवन चरित वर्णन की परम्परा भी अब प्राकृत और अपभ्रंश के काल से ही मिलती है। १३वीं से १५वीं शताब्दी में रास और चतुष्पदिकाओं के रूप में अनेक कथा काव्य मिलते हैं। पूर्वोल्लिखित चन्दनबाला रास की भांति मयणरेहा रास भी सती मदनरेखा के सतीत्व, नारीत्व और पतिव्रत्य जीवन की मार्मिक और करुण कहानी है।[2] प्रस्तुत रास जिनप्रभ सूरि की परम्परा-संग्रह-पुस्तिका सं० १८२५ से प्राप्त हुई है। रचना की प्रति अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर में सुरक्षित है।

कृति में रचनाकार का नाम कहीं नहीं मिलता है। रास की अन्तिम पंक्ति में दो बार रयणु शब्द का प्रयोग हुआ है —

सयलह रयणह वयर रयणु जिव भूलु न जाय
तिम जिम सासणि सीलु रयणु कवि कहण न माए

अतः बहुत सम्भव है कि यह रयणु ही रचनाकार हो, पर फिर भी स्थिति असंदिग्ध नहीं कही जा सकती।

१४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का यह खंड-काव्य काव्य की दृष्टि से, एवं भाषा प्रवाह और कथा की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस रचना का

१—देखिए—हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६ अङ्क १–४ पृ० ६६–१०३ पर सतियों के दो रास—शीर्षक लेख।

२—विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—महामना मदनरेखा—जैन महासती मंडल भाग १ पृ० १ से २१ तथा सती मदनरेखा प्रकाशक श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम सम्पादक श्री हुकमीचन्द महाराज, सन् १९५०, पृ० १–२८८।

प्रारम्भिक अंश प्रति का मध्यवर्ती पत्र प्राप्त नहीं होने से उपलब्ध नहीं होता। प्रारम्भ के ५ छन्द नहीं मिलते और ६ठे छन्द से ही रचना प्रारम्भ होती है।

मयणरेहा सुदर्शनपुर के राजा मणिरथ के भाई युगबाहु की रानी थी। मणिरथ ने उसके असाधारण सौन्दर्य पर आसक्त हो उससे प्रेम का प्रस्ताव रखा। सती ने उसकी माग ठुकरा दी। वसंत क्रीड़ा के बहाने एक बार युगबाहु सम्पति उपवन में गया। मणिरथ ने धोखे से वहां पहुँच कर उसकी आत्म हत्या कर दी। मयणरेहा निधर्म का प्रेम करती थी। उसके पुत्र का नाम चन्द्रकुमार था। पति की हत्या के समय वह अंतस्सत्वा था। उसी स्थिति में वह वन में निकल पड़ी। इधर मणिरथ को भी साँप ने काट लिया और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। पुत्र प्राप्ति होने पर मयणरेखा नदी में स्नानार्थ गई तो एक हाथी ने उसे उछाल लिया और एक विद्याधर ने उसकी रक्षा की तथा उसके साथ प्रणय का घृणित प्रस्ताव रखा। इधर सती के सद्य उत्पन्न शिशु को एक पद्मरथ नामक राजा ले गया और बड़ा होने पर वही नमिराजा राजा हुआ। चन्द्रयश भी सुदर्शनपुर का राजा बनाया गया। सती मयणरेखा ने इधर दीक्षा लेकर विद्याधर से अपने शील सतीत्व की रक्षा की और उसे कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति हुई। अन्त में उसके दोनों पुत्रों ने भी अपनी माध्वी मां सुव्रता (मयण रेखा) से ज्ञान प्राप्ति कर दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार सती मदनरेखा ने अपने शील की रक्षा की।

कवि को इस कारण कृति की रचना में अनेक स्थलों में काव्यात्मक वर्णन करने का अवसर मिला है। रचना में अनेक मार्मिक स्थल हैं। प्रारम्भ में ही कवि ने मयणरेहा के सौन्दर्य का सुगठित वर्णन किया है।

> रइ रूवह लीला दवदती रायमए जिम नेहु करंती
> समकितु अविचलु हियइ धरती जिण गणहर पय पउम नमती
> चन्द्रानन कुमर मातृका गमइ दाह मा बहुगुणवंता
> अन्न जातरि इमि हुसता उरि गयवरि हाइ वहती– (६–८)

उसके इस प्रकार के सौन्दर्य पर मणिरथ रीझ गया उसने अपना दुष्प्रस्ताव मयणरेहा से रखा। कवि ने उन दोनों के उत्तर प्रत्युत्तरों को बड़ा ही चातुर्य से वर्णित किया है। बाद में कवि की उपमात्मक उक्तियाँ बड़ी अनूठी हैं —

> ज नवि वय पुराण सुणाजइ त जिय पामरि लाइ इसाजइ
> तंपि नरेसर मंदिर कजू पवउ मयण महा मद रजू

कुलि कम लोहिम बुद्धि परतउ निवपुण वल्ली प्रगि दहंतउ
हा हारय तिहुयणि पावतउ मणि रहु मयणा मंनिरिपतउ

तामह ए मणिरहा राउ मयणि महामडि गजिउ ए
बुल्लइ ए वयणु विनाणु, जेण जणगणि लाजिय ए
सोनह ए सोवन रेख बुल्लए मयणा निम्मलीय
नरवर ए कवणु विचारु निय कुल लपणि मनिरलीय
सुरगिरि ए मिल्हइ ठाउ जइवि सुराणउ महियल ए
तिहुयणु एक मेनेइ ताय न मयणा मनु चल ए (१०–२)

और इसके पश्चात् कवि मधुऋतु के वर्णन में डूब जाता है। प्रकृति के उपादानों का परिगणन कवि ने कुशलता से किया है। मधुऋतु क्या आई, मानो मयणरेखा की बसन्त श्री ही मन्मथ के लिए लुट गई। बसन्त क्रीडा के लिए युगबाहु और मणिरथ जाते हैं और कामान्धातुर मणिरथ नगी तलवार लेकर वहाँ पहुँचता है वासन्ती वातावरण को किस प्रकार वह बीभत्स बना देता है। मीठी मीठी बातों में अपने भाई को उलझा कर उसका घात से वध करना कहाँ ही दुर्दमनीय करुण प्रसंग है। राज्य श्री व प्रकृति वर्णन द्रष्टव्य है। अनुप्रासात्मकता व प्रकृति का नाम परिगणनात्मक रूप देखिए —

मउरी अब कयब जेव जवीरी मोहइ
कयनीय लवलीय ललिय वेलु मानइ मणु माहइ
चम्पए चपइ चारु चित्त चारह दीसता
मरुवक करुणी कुडय कुद किसुय विहसता
कोइल पंचमु सरु करए भमरउ भणकारइ
पाउल परिमलु महमहए मलयानिल्लु चल्लइ
ममण सराखलु करइ कज्जु विरहिणि मणु कपइ
अवतरिय सिरि वसत राय मणिरहु इव जपइ

युगबाहु और मयणरेहा की केलि क्रीडा और राम मानन्द मणिरथ से नहीं देखा गया। मीठी मीठी वाणी बोल कर कृत्रिम सहानुभूति दिखाता हुआ वह वहाँ आया और मयणरेखा को प्राप्त करने के लालच से पर छूते हुए भाई के सिर पर तलवार मार दी। अस्तमना मदनरेखा दीन हाकर भटकने लगी पर अपने चरित्र व सतीत्व की पूर्ण रक्षा करने में उसने कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। स्वामी की मृत्यु पर रुदन करती हुई मयणरेहा की स्थिति बडी करुणाजनक हो गई और सती को सताने वाले दुर्मति मणिरथ को भी साप ने काट लिया —

जमजीहा सम खग्गु लउ वहु कावि जलतउ
भासा वंचिउ मयन नाउ केनाहरि पहुतउ
कुसए न सुज्झइ पइ विपउ वणवासि वसतइ
महिमंडलि वइरि गणिहि निसि दिवसु भमतइ
एव जपता नर वरान्ह सा पणमइ पाय
खग्गु महायरह सिरि सिन्हइ धाय

तक्खणि धायउ नाउ इत्थारखु जगि उच्छलिउ
भामा पम्हिउ धाउ मयणा नयनसुय वलिय
हूवउ सुराजउ अतु तारण ऊलाय वयर हरे
एय जाणी विलगु नाउ नम्मउ मूकउ धवल हरे
कुसुमहो भार रमि लिनउ मागहि मोगहिउ
तक्खणि नरइ पडेर पाव महानरि जा भरिउ
जिणि करि मयण हरसि नच्चइ हुति मनि रलिय
तिणि करि दमियउ भाणि नेवइ दुरमति गहिलीय (ठवणि ३।७ ४।२)

रचना ५ ठवणि में पूरी हो जाती है। भाषा सरल और आलंकारिक है। करुण रस के स्थल स्थान-स्थान पर मिल जाते हैं। रचना की समाप्ति निर्वेद में की गई है। कृति में चौपाई और रास छंद प्रमुखता से मिलता है। भाषा की सरलता, उसकी तत्समता तथा प्रवाहात्मकता के लिए एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

करिवरि विम वयान कालि नवकारि हराता
जउ परिसता मयणरेह, तउ सरवरि पत्ता
वणु फलि सुरजलि गमिउ, दिवस निसि पुत्तु जणेइ
करा हरि सिन्ध्वि कुसम सिरि न्हाणु करेइ
जन करि नलिणा पत्तु, जम गयणियलि उलालइ
धरणि वडना वीजु जम विज्जाहरु नल्लइ
सुंदरि जणि न मारि राख मणिप्पहु विज्जाहरु
नंदीसर वरि अम्ह ताउ मणि चूलु गुणायरु

जिणु हरि पूय करेवि जाम मुणि पाय नमंवि
एमण निसुणिय खयर राय मयणा खामइ

कुमरह मयलह जिणह वयणि पडिवोह करती
केवल नाणु धरेवि मयण सा सिद्धि पहूता–(ठवणि ५,३ ५)

वस्तुत १४वा शताब्दी मे भाषा की तत्समता के स्वरूप इस कृति म देखे जा सकत ह। अपभ्र श के शब्द भी कही-कही देखन को मिलते हैं। कृति इस दृष्टि स महत्वपूर्ण है। १४वा शताब्दी मे इसी प्रकार के अन्य अनेक रास मिलत हैं उदाहरणाथ महावीर रास (१३०७) गयसुकुमाल रास, वारव्रत रास (१३३८) सप्तक्षेत्रीय रास जिनपद्मसूरि-पट्टाभिषेक रास, भावकविधि रास आदि। परन्तु ये रचनाए काव्य की दृष्टि स साधारण ही है, अधिक महत्वपूर्ण नही है।

१४वी शताब्दी के बाद १५वी शताब्दी म रास सज्ञक अनेक कृतियाँ उपलब्ध होती है। वास्तव मे १५वी शताब्दी का रास साहित्य बडा सम्पन है।



श्री जिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक रास [1]

पट्टाभिषेक या पट्टाभिषेक एक ही अर्थ के सूचक हैं। १४वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हमने सोममूर्ति के जिनेश्वरसूरि विवाह वर्णन रास पर विचार किया है। ठीक इसी प्रकार का रास सं० १३८८ का सारमूर्ति द्वारा लिखित जिनपद्मसूरि-पट्टाभिषेक रास है। लक्ष्य उद्देश्य तथा मुख्य प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह कृति सोममूर्ति की रचना से पर्याप्त साम्य रखती है, परन्तु भाषा और रस की दृष्टि से इसका स्वतन्त्र महत्त्व है। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रचना होने से यह रचना महत्त्वपूर्ण है। इस रचना की प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के संग्रह श्री अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित है। श्री नाहटा जी ने कृति के आदि-अन्त एवं समय का उल्लेख किया है। कृति ऐतिहासिक है। इसकी ऐतिहासिकता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।[2] इस प्रकार यह रास ऐसा गीत है, जो जन साधारण की भाषा में लिखा गया है। जैन गुरुओं और मुनियों ने समय-समय पर जो धर्म प्रभावना की, राजाओं महाराजाओं और सम्राटों पर अपने धर्म की धाक बैठाई और सम्मान के लिए अनेक धार्मिक अधिकार प्राप्त किए, उनका उल्लेख इन रासों में पद पद पर मिलता है। विशेष ध्यान देने योग्य वे उल्लेख हैं जिनमें मुसलमानों आक्रमणों पर प्रभाव पड़ने की बात कही गई है।[3]

प्रस्तुत रास के नायक गुरु श्री जिनचन्द्र सूरि ने सुल्तान कुतुबुद्दीन के चित्त को प्रसन्न कर लिया था। सुलतान ने भी हाथी ग्राम आदि धनादि देकर सूरीश्वर का सम्मान करना चाहा पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया। सुलतान ने उनकी बड़ी भक्ति की और फरमान निकाला तथा वसति निर्माण के जिसका रास में स्पष्ट उल्लेख है —

१—ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह श्री अगरचन्द भंवरलाल नाहटा पृ० २१।

२—वही ग्रन्थ प्रस्तावना पृ० १६।

३—वही ग्रन्थ प्रस्तावना डा० [illegible] लिखित पृ० १[illegible]।

४—वही।

कुतुबद्दीन सुलतान राउ रंजिउम मणोहरु
जगि पयडउ जिणचन्दसूरि सूरिहि सिर सेहरू [1]

इसी प्रकार कवि सारमूर्ति के जिनपद्मसूरि भी ऐतिहासिक तथ्यों से सम्बन्ध रखते हैं। ये जिन कुशल सूरि के जिनका पुराना नाम तरुणप्रभ है, और जो षडावश्यक बालावबोध के कर्त्ता रहे हैं, सम्बन्धित हैं। इन्हीं का नाम जिनपद्म था। प्रस्तुत गीति रास में धर्म की नीरस सैद्धान्तिकता ही नहीं है, पर ऐतिहासिक प्रामाणिकता तथा काव्यात्मकता है। धर्म की प्रेरणा से काव्य की भाषा भाव और शैली और प्रभावशाली हो गई है। कुछ काव्यात्मक स्थलों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। कवि ने रास को भाव भक्ति से गाने के लिए लिखा है —

इहु पय ठवणह रासु भाव भगति जे जर दियहि
ताहि होइ सिववास सारमुत्ति मुणि इम भणइ

आध्यात्मिक विवाह का साहित्य में महत्व स्पष्ट है। आगे जाकर आध्यात्मिक विवाह की इन जैन रचनाओं का प्रभाव सम्भवतः कबीर की साहित्य साधना पर पड़ा हो। कबीर के साहित्य में भी आध्यात्मिक विवाह का महत्व पूर्णतया स्पष्ट होता है। इस अवसर पर रासकर्त्ता ने अभिषेक पर हुई अनेक क्रीडाओं का वर्णन किया है। श्रद्धालु श्रावकगण सज बना कर प्रतिष्ठा में शामिल होते हैं। स्थान स्थान पर कल्लोल और रास महोत्सव होते हैं और नारियाँ श्रद्धा से झूम झूम कर नृत्य करती हैं। कवि ने इस छोटे से गीत में गेयता को प्राधान्य देते हुए रचना को आवश्य के उल्लास प्रधान जीवन के सम्बन्ध में जो गई कवि की कुछ अनुभूतियाँ इस प्रकार हैं जो भाषा और भाव की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है —

उदयउ तसु पट्ट सयल कला सपत्तु मयकू
सूरि मउड चूडावदसु जिणकुशल मुणिंदु
महि मण्डल विहारु खुपरि आयउ देराउरि
तत्थ विहिय वय गहण माल पय ठवण विविहपरि (५)

कु कुवत्तिय पाउ ठवण दसन्सि सघ हरेसु
सयल सघ मिलि आवियउ, वछरि करइ पवेसु

आदि जिणेसर वर भुवणि ठविय नदि सुविसाल
धय पडाग तोरण कलिय चउन्मि वदुरवाल
सिरि तरुणप्पहु सूरिवरो सरसइ कठाभरणु

१—ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह पृ० १४।

मुगुर वयणि पत्ति ठविउ पत्तमूरिति मुणिरयणु
जुगपहाणु जिणपत्तसू नाम ठविउ गुणवित्त
आणन्दिय सुर नररमणि जय जयकार करंति

सघ वगन और नारियो का उल्लास रास तथा नृत्य गान मगलाचार आदि का वर्णन देखिए —

मिलिउ दसदिसि मिलिउ दसदिसि सघ अपार
दराउरि वर नयरि तह सद्दि गज्जंत अबर
नच्चतिय वर रमणि ठामि ठामि पिक्खणय सुदर
घर ठवणु छवि जगवरह विहसिउ मणगणनउ
जय जय सद्द समुच्छलिउ तिहू अणि हूयउ पमाउ

तिहुअणि जय जयकार पूरिउ महिमनु तूरत्र
घणु वरिसइ वसुधार नर नारिय मइविविह पर

वर कंठा भरणाण पूरिय मणगण लागण जण
धवलह भुवणु जमण सुपरि माइ हरिपालु जिहम
नाचइ अपनाय वान पच सबद बाजइ सुपर
घरिघरि मगलाचार घरि घरि गूडिय उभविय
उच्छउ करि अवनतं पाट तिलकु जिणकुशल सूरि
जिण सासणि मायह जयवंतउ जिण पत्तम सूरे

जिम तारायणि चद सत्तनयण उत्तम सुरह
चितामणि रयणाइ तिम मणगुह गुरुउ गुणह
नवरस दमणवाणि सवणजनि ज नर पियहि
मणुय जम्मु ससारि सहलउ किउ इत्थु कलितिहि
जाम गयण ससि सूर धरणि जाम थिर मरु गिरि
तिहि सघह सजनु ताम जयउ जिणपत्तम सूरे

स प्रकार उक्त उद्धरणो से कृति के आध्यात्मिक विकास का महत्व समझा जा सकता है। इससे अधिक सुन्दर तथा रुचिकर भाषा की सरसता व तन्मयता की दृष्टि से सम्पूर्ण है। इसी प्रकार का सं० १३८९ में लिखित कवि धर्मकलश का जिनकुशल सूरि पट्टाभिषेक रास मिलता है। यह कृति भी इसी तरह गेय तथा वस्तुस्थिति और वर्णन-पद्धति आदि में दोनों का पर्याप्त साम्य है। इसका विषय भी पट्टाभिषेक ही है। दोनों रचनाएँ ऐतिहासिक हैं तथा १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का प्रतिनिधित्व करती है।

कुमारपाल रास [1]

१५वी शताब्दी के पूर्वाद्ध म विरचित राम रचनाग्रा म एक प्रसिद्ध रचना देवप्रभ विरचित कुमारपाल राम है। इस का सम्पादन डा० भोगीलाल साडेसरा न किया था ग्रौर मुनिजिनविजय ने इस रचना को प्रकाशित किया। [2] प्रस्तुत रचना एक ऐतिहासिक काव्य है जिसका प्रमुख विषय राजा कुमारपाल के वभव राज्य उदारता, प्रदर्शन तथा सघ वर्णन है। प्रस्तुत रास की ग्रन्तिम कडी म कवि देवप्रभगणि का नाम मिलता है। बहिर्माक्षिया मे भी देवप्रभगणि का नाम मिल जाता है। पाटण के सघवी मुहल्ले के जैन ज्ञान भडार की स० १४३४ म लिखी हुई पार्श्वनाथ चरित्र की प्रशस्ति म सामतिलक सूरि के शिष्य मडन मे देवप्रभगणि का नाम मिलता है। [3] काव्य की पुष्पिका मे ज्ञात होता है कि इसकी नकल स० १५५८ व चैत्र बुध ३ शुक्रवार को की गई। यह भी स्पष्ट होता है कि कुलमडन सूरि जो मुग्धाववोध ग्रौक्तिक के लेखक ह देवप्रभ के समकालीन थे। क्योकि मुग्धाववाध ग्रौक्तिक का रचनाकाल स० १४५० है ग्रत यह ग्रनुमान किया जा सकता है कि इस राम की रचना १५वी शताब्दी के प्रथम दशक या द्वितीय दशक म हुई होगी।

पूरी रचना एक सरस काव्य है। कवि के पद लालित्य ग्रौर काव्य प्रवाह म कही भी शथिल्य नहा है। ४३ कडिया मे पूरी रचना समाप्त हुई है। रचना की काव्यात्मकता उल्लेखनीय है। कवि ने काव्य का प्रारम्भ ही महावीर गौतम स्वामी सरस्वती कपर्दी यक्ष ग्रम्बिका तथा शान्ति की विनय तथा नमस्कार द्वारा किया है।

कुमारपाल ग्रजातशत्रु बन कर रहे। उनके राज्य का प्रभाव तपोवन की भाति था। कुमारपाल की ग्रमाधारण घोषणा म मनुष्या न ता क्या पशु पक्षिया तक न ग्रपनी पारस्परिक स्वभाव शत्रुता छोडकर सवत्र ग्रहिसा का

१–भारती विद्या स० मुनि जिनविजय, भाग २ ग्रङ्क ३ स० १९९८ पृष्ठ ३१३–३२४।
२–वही।
३–वही पृष्ठ ३१३।

साम्राज्य स्थापित किया। पशुओं में बकरे, भेड़, मृग, हिरन, भैंस, बारहसींगा, सूअर आदि प्राणियों का मरवाना बन्द कर दिया। यहां तक कि जूं और खटमल भी मारना पाप समझा गया। निर्गणियों के समूह सुखपूर्वक केलि करने लगे। विजय के तोतों मैना पक्षी सुख से रहने लगे। पट्टियों में भी चर्चा रहती कि आजकल पानी की मछलियों को भी अभयदान दे रहे हैं। कुमारपाल के राज्य की तरफ़ी विहारों के जगत तपोवन भी किसी प्रकार भय निवारण न हो सकता था। उनके राज्य में साप कीड़ा और यहां तक कि कुत्ता को भी कोई नहीं मारता था। कवि ने बड़ी सरसता से इस प्रकार के चित्र उतारे हैं —

पच्चिउ धराइ धजवनाका गिरि मरु समाणा
कुमर विहारइ करउ भाति मति मत्ति कराणा
मातन धम पूतना ए मह मयगल गठा
समलि कुमर नरिंद राय हम सूरि सुभावइ
धाल्हउ जारिउ मयनलिग राय धम्मवरावह
अरिहंत नमि जिम कुमर पालि डागरउ निवारिउ
छाति याकइ करइ वान गाल्हि वधावई
समता नाचइ रंगिय भर अजरामर हुआ
जहिया दव्विया करइ भाति पारवइ महाप्रा
महमा अनइ हरिण रान सूयर अनइ सवर
चाडा कुमर नरिंद राजि रंगि नाचइ तातर
जूम न मारूग जार काइ कहिवि न मारइ
हरिणा हरिणा करइ केलि सुपि हमसूरि बारइ
जाडा नवइ पजरविया सुपि अच्छइ सूतलि
सूल्ला नवि पजरइ थिया पण नाचइ मातलि
कासरि अनइ हार भगाइ सामलि तू मारइ
पाणा माहि जि मच्छडा ए जाधानवि मारइ
मारसरी मार हाम नवइ मारडाय वधावइ
अकवइ हाज कुमर पाल अम्ह मरण न आवई
याप सर अनइ सुगाइ धाइ काद नवि खाइ
न मर ... नरिंद राजि माखि हाथडइ मावइ (८—९)

ऐसा था कुमारपाल का राज्य। जिस विचार से नेमिनाथ का पत्र विवाह से मरना पड़ा उस कुमारपाल ने बन्द करवा दिया। जिस घृत आदि में जीव का सब कुछ हार जाना पड़ा कुमारपाल के राज्य में ऐसा जुआ द्यूत समझा था। जिस मद्य के कारण समस्त यादवकुल विनाश को प्राप्त हो गया उस

लाग कुमारपाल क राज्य में स्पर्श करना भी पाप समझने लगे। मास भक्षण से जिस प्रकार सुलास और श्रेणिक नामक राजाओं को दुख मिला उसका कुमार पाल ने दृढ निषेध किया। गणिका गमन घोर पाप था। वेश्याएं सती स्त्रिया की भाति बन गइ और जिन पूजन करने लगी। चोरो का उपद्रव सम्पूर्ण देश में कही भी नही था। पानी नगर म तीन बार वितरण होता। विविध प्रासादो तथा विहारो स राजा ने अनहिलवाड की शोभा म अपूर्व वृद्धि की। कवि न इस वर्णन को अत्यत सरल भाषा म प्रस्तुत किया है। काव्यगत सरसता शब्द चयन और वर्णन की चमत्कारिता उल्लेखनीय है। उक्ति का अनूठापन काव्य की सरसता म और अधिक वृद्धि कर देता है —

पारधि जीवन पोसीय ए बहु पावइ नागु
पारधि खेलन दसरतह हूउ पुत्र वियागु
कुमर नरसेर नियरज्जि आहेडउ वारइ
जलचर थलचर, खचरजीव इम कोइ न मारइ

जूअ वसणि हूउ नल नरिन्द दमयति वियागु
अडविभमता बार वरिस पाडव मनि सागु
दपी दूषण जूअ तणउ नवि पनइ सारि
जूआरि नवि जय रमइ, नवि बानइ मारि
मसवसणि सोदासराय पामिउ दुहसणीय,
दीठी नरगह तणीय भूमि नखइ पुण सणिय
आमिष भोयण तणइ दडि वतीस विहार,
राय करावइ कुमर पाल जगि तिहूअण सार
दूषण मदिरापान तणइ जायव कुल नामा,
किरिउ दीवायणि दुटठ दवि बारवइ विणामा
राया दमइ नीच सव हिम मन्दिरा मल्हइ
मतवाला नवि मधु करइ मू मन्ती पेलइ
गणिका गमणु निवारइ ए नरवइ निय राजि
छडवि वशावसण लोग लागमवि काजि
वेशा कोधी माइ सरिस तइ कुमरड राय
ता पण पूजइ जिणह मुत्ति वदइ गुरुपाय
वशावसणिइ गमइ अरथ जा पुरिस अहन्नउ
पाछइ झूरइ मनह माहि सिम बणाय कयनउ (११–१७)

नगर वर्णन और सघ वर्णन म कवि अपना सानी नही रखता। भवना

की निर्माण रचना उस समय अपनी उत्कृष्टता को प्राप्त थी । विविध वार्ता से निनादित नगर राजाओं से गुणजित कुमार का संघ ऐश्वर्य प्रशंसनीय था । विविध नृत्य-गान, लय ताल और गुत मागधी गणों का जयजयकार संघ की शोभा बढ़ाने लगे । लोगों को उसके स्वरूप को देखकर भरत की स्वार्थिमद को आकृष्ण, मन या स्वयं इन्द्र है इस प्रकार का भ्रम होने लगा । अंत में इस प्रकार संघ धीरे धीरे शत्रुंजय पहुँचा । यात्रा पति नेमिनाथ का गिरनार में, धनरयनी में महावीर का, सागनोर में पार्श्वनाथ का तथा शान्त कालानार में शामनाथ तथा पाटण में पार्श्वनाथ की पूजाएं का और संघ पुनः लौटा ।

वर्णन का प्रामाणिकता भाषा की सरलता जन भाषा होने के कारण उक्ति का अनुरंजन तथा विविध लोकोक्तियों का सम्मिश्रण प्रस्तुत रास का महत्व बढ़ा रहे हैं । कुछ वर्णन देखिए —

नगर वर्णन—

> मावन धभे पूतली ए आरण जामंती
> निरुपम कविहि मारण्ड ए निहृयण मार्न्ती
> हार माणिक्य सूनडा ए पाथर नंड जडिया
> निम्मतवंता बिवरामि अइनिउण घडिया
> मंतिय मारनि रमि रमि बहु संघ मनावर
> धामी बहु आमीम दिए राउ जान चलावइ (२३-२४)

वाद्य नृत्य गान वर्णन—

> बहूय भेसह बहूय देसर मघ मनवि
> जिण भतिन्नि णगमणि भूमि नाटु मनु जि वच्चइ
> गाइ थाइ कवित्य मरी संघ लार आगणि नच्चइ
> ठामि ठामि आधाविर दिव हूर मगन धार
> अरथहि वरसइ मेह जिम दानि मानि भुवि धार (२७)
>
> मिलिय मावगनगा नार धनि धनइ समाणा
> गावीय वन्ती गागरमति गुर गुरणी आणा
> मरा भूगन दान घणा घमघमइ नीसाणा
> तेवा नाचइ रग भरे नरनवा सुजाणा
> धामिणि तरणि दिद्वि रामु करि गयइ आगे
> मधुरी वाणिहि मगइ मामविवि वंन सूनावी

बंदी जयजयकार करइ कइ गहिर गाजि
गायइ गायण सत्त सर कवि किनर सादि (२८–२९)

अनुप्रास और सन्देह अलंकारों का विविध सुन्दर चित्र खींचा गया है मनुष्यों को कुमारपाल के इस रूप को देखकर भ्रम उत्पन्न हो जाता है कवि ने इसी भ्रम का दृश्य प्रस्तुत किया है —

धारीय गयघड मान्हती, ए भारती मद वारि
खाणी मणता तुरय लाप करहा सइ च्यारि
राउत पायक राजनाक अनइ मागणहार
सख विवज्जिय मिनिय लोक काइ जाणइ सार
कि अह धानिउ भरत राउ ? कि सगर नरिन्दो,
राया सपइ दमन भद्दा कि मन्द गोविन्दा ?
कि वा नेसइ नल नरिन्दु कि देवहराउ
भ्रति उपज्जइ जायता ए नरवइ समुदाउ (३०–३१)

कवि ने पूरा काव्य रोला छन्द में लिखा है। बीच में वस्तु छन्द का भी सुन्दर प्रयोग किया गया है। वस्तु छन्द का एक उदाहरण देखिए —

मारि वारीय मारि वारीय देस अडढारि
देस विदेसह मेलि करि भविय लोक जिणी जत्त कारिय
चऊ दमह चालीसह राय विहार किय रिद्धि सारिय
मोगड मूकी जेण हिव जगि लीधउ जसवाउ
हूउ न होसिइ चिहु युगे कुमरड सरिसउ राउ (३६)

वस्तुत पूरी रचना को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह काव्य कुमारपाल का चरित काव्य है जिसमे उसके जीवन की विविध घटनाओं और महत्वपूर्ण कार्यों के सुन्दर चित्र कवि ने उतारे हैं। काव्य में अहिंसा की विजय सर्वत्र परिलक्षित होती है। कवि ने अहिंसा राज्य का विविध उदाहरणों और स्वाभावगत शत्रुओं के पारस्परिक मेल से स्पष्ट किया है जो सामाजिक शान्ति का प्रतीक है। सांस्कृतिक दृष्टि से तथा धर्म और इतिहास की दृष्टि से भी प्रस्तुत रचना महत्वपूर्ण है। कवि ने रचना में काशी कोशल मगध कोशाम्बी वत्सा, मरहठ मालव लाट, सोरापुर, कच्छ, गुजरात सिंधु सवालप, काश्मीर कुरु कंति मामरि कन्हउ जालंधर आदि देशों तथा नगरों के राजाओं का उल्लेख किया है। संघ उत्सव वर्णन जैन समाज का सदैव में ही सांस्कृतिक पर्व रहा है। कवि ने पूर्ण कौशल के साथ इस छोटे से काव्य मे उसको सजाया है। रचना की भाषा सरल राजस्थानी है जिस पर अपभ्रंश का यत्र तत्र प्रभाव

परिलक्षित होता है। मदिरा, पान जुआ, वेश्यागमन आदि आदि सामाजिक कुकृत्यों का भी कवि प्रकाश में लाया है। अतः रास समाज हितैषिता में महत्वपूर्ण है। इस काव्य को कवि ने यद्यपि 'रास' संज्ञा दी है परन्तु रास के नाम पर परवर्ती कालान्तर में परिवर्तित प्रवृत्ति अर्थात् चरित प्रधान को छोड़कर अन्य बातें नहीं मिलती हैं। सम्भवतः १५वीं शताब्दी तक रास शब्द रचनाओं के लिए ही चरित काव्यों का ही स्थान दिया जाता होगा। यद्यपि रचना में रास, नृत्य तथा युगल नृत्य आदि वर्णन नहीं मिलते तो कोई रास छंद ही मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि रास शब्द का युगल-नृत्य-वर्णन तथा रास छंद की कालान्तर में उपेक्षा होना प्रारम्भ हो गई होगी और रास रचना प्रबन्ध सामान्य चरित आख्यानक काव्यों का ही बोधक हो जाता होगी। साथ ही उनका नामकरण भी पहले के रास काव्यों की भांति रास ही किया जाता होगा।

रचना के अन्त में कवि ने भरत वाक्य के रूप में कुमारपाल के इस रास काव्य को युगों युगों तक प्रचारित रहने और अमर होने का आशीर्वाद दिया है। जब तक सुमेरु पर्वत अचल रहता है, जब तक सूर्य चंद्र रहें जब तक शेषनाग भूमि और सागर का भार धारण करता रहे, और जब तक संसार में धर्म विद्यमान है तथा जब तक ध्रुव तारा निश्चलता को प्राप्त है तब तक कुमारपाल राजा का यह रास संसार में आनन्द को प्राप्त करे —

> मरु रायह न चलइ जाव जा चंदि दिवायर
> सपुनागु जा धरइ भूमि जा गाजइ सायर
> धम्मह विगउ जा जगह महा, धार निच्चल होए
> कुमरह रायह तणउ रासू ता नंदउ लोए

इस प्रकार इन वाक्यों द्वारा कवि ने रास को निर्देश किया है। पूरी कृति सरस तथा रोचक है। भाषा शैली प्रवाहपूर्ण है तथा वर्णन प्रभाव पूर्ण है और यथार्थ अर्थ प्रदान करता है। कुछ मिला कर रचना छोटी होते हुए भी रास संज्ञक रचनाओं के लिए में विशिष्ट प्रस्तुत करता है। अतः कृति का महत्व और भी बढ़ जाता है।

कुमारपाल रास [1]

(श्री वीतरागाय नम)

दोहा

पढम जिणिन्दह नमोय पाय भनइ वीरह सामी,
गायेम पमुह जि सूरिराय मुणि सिद्धिहि गामी,
समरवि सरसति कवडि जक्ख वरदेवि अ बाई
कुमरनरिन्दह तणउ रासु पभणउ सुहदाई, ॥ १ ॥

वस्तु

चच्चनन्दन चच्चनन्दन गुणह सम्पन्न
पाहिणिन्वा उवरि धरिउ माढवसि उपन्न सुणीइ,
पुप्फवृष्टि सुरवइ करइ ए जाम जनमि उवतार,
चगदेव चिर जाविजिउ जिणिसासणि साधार, ॥ २ ॥

बालकालि सजम लियउ गुरु विनय करन्ता,
हमसूरि गुरु नाम दिन्न जगि जस जयवता
मति थाडी गुणतणो रासि हउ कहवि न जामउ,
हमसूरि गुरुतणउ चरित किम करीअ वक्खाणउ, ॥ ३ ॥

मधु पडी फरसिय जाव मसि कीजइ सायर
अन्त न लाभइ गुणह तणउ जिम चन्द दिवायर,
पहिलउ धरीइ धजपताक गिरि मेरु समाणा
कुमरविहारह करउ भगति सवि मडलिकराणा, ॥ ४ ॥

सावनयमे पूतली ए मइ मयगल दीठा,
सम्भलि कुमरनरिन्द राउ जिनपडित बइठा,
रायह कुमरनरिन्द राय हेमसूरि बूझावइ
भ्राहडउ वारिउ सयलदेसि राय धम्म करावइ, ॥ ५ ॥

अरिट्ठनमि जिम कुमरपालि डागरउ दिवारिउ,
छाना बाकड वरइ वात, गाडरि वधावइ,

---

[1] विवरण के लिये देख पृ० १०१ ।

ममता नाचर नियमरे अजरामर हुआ
[illegible] [illegible] वरर मानि पारजर [illegible] ॥ ६ ॥

भरमा अनर हरिण राक मुयर अनर मवर
चोआ कुमरा[illegible]राजि रगि नाचर तातर
तूअ न मातुण नाक वार वहवि न मारर
हरिणा [illegible] वैरर वनि मुपि [illegible] ॥ ७ ॥

नावा नवरपजर निया मणि [illegible] मनति
मृरहा नवि पजरर थिया पुग नाचर मातनि
वाबरि अनर [illegible] मगार मामनि नृ मारर
पागा मानि जि [illegible] [illegible] नाधा नवि मारर ॥ ८ ॥

मारमरी मरि हाम नवर मारहाम वधानर
[illegible] हाज कुमरपान [illegible] न आवइ
धार मरप अनर मुगार धार वार नवि नानर
न मरर कुमरनरि[illegible] राजि मणि [illegible] माचर ॥ ९ ॥

वरमरि चामइ [illegible] मानति तर मानगि
त्रुटि न [illegible] नगाय वान अनि[illegible] [illegible] गावगि
[illegible] आसगार चिनि याका आवाचा
[illegible] मनिमर त्रिमर रामि [illegible] न [illegible] ॥ १० ॥

नानानार [illegible] ग व पहगि पत्ना
[illegible] न आमिय तगा आम [illegible] वाकुन पना
वानीनार [illegible] गाम [illegible] [illegible]
मनर नाहर वरर मानि अनर [illegible] ॥ ११ ॥

पारवि जावन पाता ग [illegible] [illegible] जाग
पागधि [illegible] [illegible] [illegible] पुत्रविनाणु
कुमरनमर निरगत्रि [illegible] नारर,
[illegible] [illegible] मवर नाव [illegible] वार न [illegible] ॥ १२ ॥

[illegible] [illegible] परगि [illegible] जावगधार
मूअर मवर [illegible] नवि विरइ जर निम मगार नावर
[illegible] तीनर मावनि [illegible] [illegible] [illegible] आवर
छाता बोकड गानरन वार र नार नार
राहु वरर जा मरगिनि कुमरड [illegible] ॥ १३ ॥

रासा

जूअ व्यसनि हूउ नरनरिन्द न्मयति विश्रामु,
अडवि भमता चार वरिस पाटव मनि सोगु
दपी दूपण जूअतणउ नवि पेनइ सारि
जूआरो नवि जूय रमइ, नवि वानइ मारि ॥ १४ ॥

समवसरणि सामाम राय, पामिउ दुरूमणाय,
दाठा नरगह तणाय भूमि नरवइ पुण सणिय
श्रामिषभायण तणइ दटि वत्तीस विहार,
राय करावइ कुमरपाल जगि तिहुअणसार, ॥ १५ ॥

दपण मन्दिरापान तणइ जायवकुलनामा,
विरिउ द्वारावयणि दुटठ नेमि बारनइ विणासा
रायान्मिर नाच सन हिव मन्दिरा मल्हइ
मतवाला नवि मधु करइ, भूमला न पेलइ, ॥ १६ ॥

गणिका गमणु निवारिउ ए नरवइ निय राजि
छटविवसारमगण नाग लागा सवि काजि
क्या काधी माइ सरिस तइ कुमरइ राय
ता पग पूजइ जिणह मुत्ति वन्दइ गुरू पाय ॥ ११ ॥

वेनावमणिर गमइ श्ररथ जा पुरिस श्रहन्नउ
पाछइ भूरइ मनहमाहि जिम वणीय क्यन्नउ,
जारह जणणी स्म भणाह ए साभलि वछ वात,
निरचइ आवडउ जाइसइ ए जइ पाडिमि पात, ॥ १८ ॥

गौमइ चार न देसमाहि जिम सुसमइ रकु,
धरि ऊघाडे वारणइ लोग सूयइ निसकु
परस्त्रीदासिंहि रावणइ ए दिउ नरगि पीआणु
स्मरथनन्गि रामदवि किउ श्रवह कहाणउ ॥ १६ ॥

नियसिय मन्दिरि भणइ नारी, साभलि परतार
नारि नियारिय जा श्रत्तउ हिव जाणिसि मार
रगन्द धरणी भणह नाह, सुणि धम्म विचारो
मनुसुन्दिहि हिव करि न मामि, परस्त्री परिहारो ॥ १० ॥

वस्तु

जूय वारिय जूय वारिय मससजुत्त
गुरासाणु नवि जाणीइ, वमवसण नयणा न गौमइ,

कामागनारि कुमारि करि पालिंगि पल्लउ हर ॥ ३५ ॥

भलाइ कुमरह भलाइ कुमरह विगइ मवधारि
करि जाण हू थानयह नामि नागि हू कार न मागउ,
जिहां कुम तिण तरि उत्तरिउ तिण पामइ मग्गउ,
गिरि गपु जह गिरिगिहरि घर पंथाउ करइ, ॥ ३६ ॥

रासा

मानिधि मालगारि तणुह गपि काधा जाम,
पा गि माता नारि करह धरि धरि गम वाम,
कांधी जंगम जाम मगह पहु नामि पगाउ
प्रनपउ कारि मावानियह हमगुरि गिउ राउ ॥ ३७ ॥

काना कानन मगध गम कामधा वन्दा
मरहट मालव ताल्म मारापुर वन्दा
सिन्धु गवालग कागमार गुर कनि गद भरि,
काहिल्म काहिलिय मगुह जागिय तालंधरि ॥ ३८ ॥

वस्तु

मारि वाराय मारा वाराय गम महकारि
गम विग्गह मनि धरि मवित नाह जिगि जत्त कारिय
महग्गंह पालागह राज विहार किय रिद्धि गारिय
मोगड मू ११ जग हिव जगि साधउ जगवाउ
वूउ न हासिर पिह पुगे कुमरउ गरिमउ राउ ॥ ३९ ॥

रासा

विह भुवण जगु कीति महइणि गूजरराइ
कृतयुग पय प्रवतारि नेय गंजह कनिवाइ
गन्धि विभावति वम्मगाणि जिम वम थवागरि
दरगूमि गिर मिद्धवर अर्यामहु नरामरि ॥ ४० ॥

गुनिरपवगा तिहुणपाल–गुनम वर–भागू
विकम वन्दुरि वरतन ण गगार नवागू
पाणि वल्लउ कुमारपालु वनि भाममगागउ
मंडइ रणरंगह जागु तणाइ काइ राउ न राणउ, ॥ ४१ ॥

भग टामन न घनह जाव जा घन–न्विायर
गयनागुजा धरइ भूमि जा सालइ सायर

पंचपाण्डव चरित रासु [1]

१४वीं शताब्दी में प्रबन्धात्मक शैली में लिखे गये समरारास के पश्चात् १५वीं शताब्दी की सबसे प्रमुख कृति श्री शालिभद्र सूरि विरचित पंचपाण्डव चरित रासु है। रास परम्परा का यह रास एक प्रमुख कड़ी है। विद्वानों ने इस कृति पर विवेचित प्रकाश डाला अवश्य है [2] परन्तु स्वतन्त्र रूप में हम इस रचना का पाठ हाल ही में प्रकाशित गुर्जर रासावली में प्राप्त होता है। सम्पादकों ने इस पाठ को बड़ौदा की एक प्राचीन प्रति में उपलब्ध होने वाले पाठों में से एक कहा है। रचना की प्रति महाराज जसविजय के पास सुरक्षित है।

ये शालिभद्र सूरि भरतेश्वर-बाहुबली रास के रचयिता से भिन्न कवि हैं। अब तक उपलब्ध रचनाओं में पंचपाण्डव चरित रासु ने वर्ण्य विषय, कथा वस्तु, छन्द और भाषा सब दृष्टियों से नवीन योग दिया है। शालिभद्रसूरि पूर्णिमा गच्छ के थे। यह रास नर्मदा के किनारे स्थित नान्दोद नामक नगर में लिखा गया। कवि ने स्वयं भी अपने समय के लिए परिचय दिया है जिसका उल्लेख सम्पादकीय में भी मिलता है। [3]

आदिकालीन हिन्दी जैन रचनाओं में अब तक हम धार्मिक कथाओं, चरित नायकों, पुराण पुरुषों एवं उपदेशों आदि से सम्बन्धित विषयों का ही विवेचन मिलता है परन्तु पौराणिक आख्यान को कथा-वस्तु के रूप में स्वीकार करने वाले श्री शालिभद्र सूरि ही हैं।

१—पंचपाण्डव चरित रासु गुर्जर रासावली G O S CXIII बड़ौदा पृ० १—३४।

२—आपणा कवियो श्री क० का० शास्त्री पृष्ठ २६६।

३—गु० रासावली पृष्ठ ३—It was composed in V S 1410 i e 1354 AD and the matter of the poem is based as the poet says on 'वडुअ कथानायकु' Thus the date of the composition is mentioned by the poet himself

प्रस्तुत रास में पाँचों पाण्डवों के चरित के रूप में सम्पूर्ण महाभारत का सार है। पाण्डव चरित जैनियों द्वारा विरचित संस्कृत काव्यों में भी मिलता है। गुजराती विद्वानों ने भी महाभारत लिखा है। पंचपाण्डव चरित रासु की कथा महाभारत की कथा से मेल तो खाती है, परन्तु कुछ घटना स्थलों, घटनाओं और प्रमुख पात्रों को कवि ने अपने जैन धर्मानुसार मोड़ा है तथा उसी के अनुसार उसकी सृष्टि भी की है। रासकार ने प्रद्युम्न चरित्रों को जैन परम्पराओं के ताने बाने में उलझाकर कथा सूत्र प्रस्तुत किया है।

पूरी कथा १५ ठवणि में विभक्त है। ठवणि शब्द सर्ग विभाजन का सूचक है। भरतेश्वर-बाहुबली रास,[1] मयणरेहा रास[2] आदि में ठवणि का प्रयोग मिल जाता है। प्रत्येक ठवणि के बाद रासकार ने वस्तु छन्द दिया है। सिर्फ अन्तिम ठवणि को छोड़कर जिसमें उसने वस्तु छन्द अलग नहीं रक्खा। कवि ने ठवणि और वस्तु को मिला दिया है।

कवि ने रास की कथा का प्रारम्भ नेमिजिनेंद्र तथा सरस्वती की वन्दना करने के पश्चात् द्वितीय ठवणि में ही किया है। गंगा और शान्तनु का प्रेम तथा गंगा का उनकी अन्दरी प्रकृति से रूठ जाना व अपने पुत्र गांगेय के साथ रूठ कर अपनी माँ के यहाँ चले जाने का वर्णन मिलता है। गांगेय आश्रम में शान्तनु के शिकार के लिए विरोध करता है —

> नरिणि एक हरिणी सु मेलइ,
> कामन वशगि हरिणी आवइ, पछि पछि प्रिय पारधीउ
> निनु निनु राउ अहेडइ चलइ
> रागि चढ़ी रानी इम बुल्लइ, प्रियतम पारधि मन करेउ
> धनुष कना आउतउ पढावइ
> जाव त्या नियचिति रहावइ, बोधि चारण मुनि तणइ[3]

वस्तुतः जिनधर्म ही सच्चा मार्ग है यह जानकर गंगानन्दन ने अहेरी पिता को मना कर रोका व उनसे युद्ध करने को तैय्यार हो गया। गंगा ने आकर झगड़ा शान्त किया। गंगा के न आने पर शान्तनु एक धीवर कन्या पर मुग्ध हो जाता है और राजा को प्रतिश्रुत करा कन्या सत्यवती का विवाह उनके साथ कर देता है। वर्णन की सरसता दृष्टव्य है —

१–भरतेश्वर बाहुबली–रास श्री गांधी।
२–हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६ अङ्क १–४, पृष्ठ १००–१०३।
३–G O S CXIII, पृष्ठ ३८।

सामलि सामी ग्रम्ह घर सुनो, तुम धरि ग्रच्छइ गंगा पुत्तो
मइ वेटी ज्उ तुम्हन्ह देरी, तउगइ हयि हुग भरेवी
युधरंसह परउ मडणु, राज करेसि गगा नन्दणु
धीय महारी तणा जिवान, त सवि पामइ दुग करान [1]

सत्यवती म न्मा नहका म स पहना कर्मों के दोष स बचपन म ही मर गया व दूसरा कुमार विचित्र वीर्य हुआ जिसन काशीराज की अंबा, अंबाली और अंबालिका तीन कन्याओं स विवाह किया। जिनक क्रमश विदुर, पाण्डु व धृतराष्ट्र हुए। धृतराष्ट्र न गाधारी स और पाण्डु न माद्री स विवाह किया। कुन्ती के कर्ण कुमारी ग्रवस्था म उत्पन्न हुआ इसकी ग्रन्तकथा जैन महापुराण में [1] एक विद्याधर का ग्र गूठी स सम्बन्धित है। यहा कवि न इतना ही वर्णन किया है कि किस प्रकार पुण्यवती भी पाप करती हैं। कर्ण मंजूषा म डाल कर गगा म बहा दिया गया —

मरिगीय श्रावी पइ कुमरि ग्रापणीय जि करणी
मन्दिर वति पर्वति हुई पुनू जायउ रमणी
गग प्रवाहिउ रयण मान्हि घातेउ मंजूसं
कीजइ पातक पुण्यवति कई लाज कि दीसं

इधर गाधारी क १०० कौरव पाण्डु क ५ पुत्र पाडवो स ईर्ष्या रखन लगे। अर्जु न धनुर्विद्या और राधावेध" (मत्स्यवेध) में सफल उतरे।

चतुर्थ ठवणि में कवि न ग्रखाडे म राजपुत्रों क शौर्य प्रदर्शन का ग्रच्छा जन मन पर किया। युधिष्ठिर तो ग्रजातशत्रु थे, भीम दुर्योधन म गदा युद्ध हुआ, ग्रर्जु न और कर्ण में द्वन्द्व युद्ध ग्रर्जुन क इन बाण-वाणों स नहीं हो गया —

ग्ररजुन वाण, र ग्रजुनीन, ग्ररजुन भूमिगि मइ गु हीर
ग्ररजुन मरणी मेहि न कीजइ, नियकुल मानि गरव वहीजइ
इम ग्रापणपु घणू वखाण, जाति न नियकुल तणू प्रमाणू
मइ गगा उगमतइ दीस लाधी रतन भरी मंजूस [2]

ग्रखाडे म भी ग्रर्जु न विजयी हुए। इधर द्रौपदी का स्वयंवर होना है और पाचो पतियो स विवाह होने का कारण चारणमुनि द्रुपद का पूर्वजन्म म

१—वही, पृष्ठ २।

२—उत्तरपुराण, पृष्ठ ३५५, श्लोक सं० १०४, श्री गुणभद्राचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

३—G O S CXIII, पृष्ठ १३।

सम्बन्धित बनजाते हैं। प्रत्येक पाण्डव की नारद द्रौपदी के साथ अवधि बाध देते हैं उल्लंघन पर अर्जुन को १२ वर्ष वन में रहना पडता है जहाँ वे वैतद्य पर्वत पर आदिनाथ का अभिनन्दन करते हैं। वहाँ अपने मित्र चन्द्रचूड की बहिन की वे सहायता करते हैं। आगे कवि ने पाण्डवों का जुआ में अपकर्ष व वनवास दिखाया है। सभा मे द्रौपदी का वस्त्र हरण होता है। आगे वनवास में भीम का राक्षसों को मारना, लाक्षागृह में बचना, भीम का हिडिम्बा से विवाह आदि का वर्णन मिलता है।

दुर्योधन पाण्डवों में प्रियवद को भेजकर पुनः सहायता मागता है द्रौपदी क्रुद्ध होती है। फिर अर्जुन विमाना। विद्याधर के लडके को हराकर इन्द्र से शस्त्र प्राप्त करता है। दुर्योधन की बहिन के पति ने द्रौपदी का हरण किया अर्जुन उसे भी हराता है। दुर्योधन ने पाण्डवों के विनाश की घोषणा की। एक पुरोहित के लडके ने कृत्या राक्षसी उन पर छोडी। नारद की आज्ञा से पाण्डव साधना में लग गये। विराट के पास पाण्डवों का अधिवास रहा। कृष्ण दूत बनकर दुर्योधन के पास गये। दुर्योधन ने माना। भयंकर युद्ध हुआ। असंख्य योद्धा काम आये। अंतिम अवस्था में सब पाण्डव जैन दीक्षा लेते हैं। नमिनाथ उनको प्रवज्या देते हैं। परीक्षित को हस्तिनापुर का राजा बनाकर धर्म घोष उन्हें शिक्षा देकर उनका पूर्व भव, सुरक्षित, सतन देव सुमति और सुभद्र आदि नामों से स्पष्ट करता है। उन सबने गणधर के समक्ष साधु वृत्ति स्वीकार की तथा अनुत्तर स्वर्ग से च्युत होकर पाण्डव वन और अब पूर्णता को प्राप्त हुए।

इस प्रकार सम्पूर्ण महाभारत को कवि ने ७८५ छन्दों में सजाया है। भाषा की सरलता जन-साधारण के लिए राम को बोधगम्य होना तथा पौराणिक कथानक को नई रेखाओं में बांधना कवि की प्रतिभा के द्योतक हैं। पात्र थोडे हैं। पात्र पाण्डव द्रौपदी, कुन्ती दुर्योधन कर्ण आदि। पात्रों में यह ज्ञात होता है कि कवि ने साधु असाधु दोनों प्रकार के पात्रों का वर्णन कर असत्य पर सत्य की विजय दिखाई है। कवि के प्रयोग मौलिक हैं। जो भाषा की दृष्टि में मध्यकालीन गुजराती या राजस्थानी के मौलिक प्रयोग एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण प्रस्तुत करते हैं।

जहाँ तक कथा रूढि और कथा परम्परा का प्रश्न है कवि ने दोनों का सम्यक निर्वाह मौलिक अनुष्ठान के रूप में किया है। पाण्डवों की कथा परम्परा का प्रारम्भ अपभ्रंश साहित्य से ही हो जाता है। आरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना में सुरक्षित हरिवंश पुराण के यादव, कुरु युद्ध और उत्तर **इन चार** काडो

में गुणभद्र के उत्तरपुराण में पाण्डव चरित वर्णित मिल जाता है। [1] जैन महापुराण में [2] भी पाण्डवों की कथा का नेमिनाथ के प्रसंग में आंशिक उल्लेख मिलता है। आमेर भण्डार में यश कीर्ति की लिखी महाकाव्य लगभग का मिला है जिसमें कवि ने ३४ संधियों में पाण्डव कथा का वर्णन किया है। इस प्रकार कथा परम्पराओं (Cycles) के रूप क्रमशः परिवर्तित होते रहे हैं। प्रस्तुत रास में रचनाकार ने अनेक स्थलों पर कथा में मौलिक घटनाओं का नवानयन किया है तथा अनेक अनावश्यक अंश छोड़ दिये हैं जो घटना वैचित्र्य तथा कथा में मौलिकता की सृष्टि करते हैं और वैष्णव महाभारत से भिन्न हैं। कवि ने कथा का आधार महाभारत को रखा है पर इसकी परिवर्तित कथाओं पर जैन धर्म व अहिंसा का प्रभाव स्पष्ट लगता है। कुछ नवीन घटनाएँ इस प्रकार हैं —

१—गंगा का शान्तनु की अन्य प्रवृत्ति का विरोध करना तथा रूठ कर पितृगृह गमन, गांगेय का अहिंसा प्रेमी होना व जैन धर्म स्वीकार करना तथा अपने पिता से युद्ध करना। कुन्ती व पाण्डु के पूर्व प्रेम व सन्तानोत्पत्ति का प्रसंग तथा कुंवर करांगना ने राधावेध का प्रसंग।

२—द्रौपदी के स्वयंवर में उसके हाथ से जयमाला पांचों पाण्डवों के गले में जा गिरना और चारण मुनि का द्रुपद को द्रौपदी का पूर्व भव समझाकर सन्तुष्ट होना। [3] हरिवंश पुराण में कवि ने अहिंसा से प्रभावित हो मत्स्य वध के स्थान पर धनुष चढ़ाने की ही कल्पना की है [4] पर प्रस्तुत रास में मत्स्य वध भी है व जयमाला वरण भी।

३—अर्जुन का वनवास में वैताढ्य (वेयड्ढ) पर्वत पर जाकर आदिनाथ को नमन करना और मणिचूड़ की बहिन को छुड़ाकर पुनः उसके पति को देना।

१-अपभ्रंश साहित्य श्री हरिवंश कोछड़ पृष्ठ ६८।

२-महापुराण-उत्तरपुराणम् श्री गुणभद्राचार्य भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण पृष्ठ ४८० श्लोक ७३-८०।

3 Then the reference as to this strange incident is made to चारण sage, who was there He narrates the previous births of Draupdi and informs how she staked all her merit for a foul determination of realizing five husbands in the next birth -G O S CXIII page 352

४-अपभ्रंश साहित्य श्री कोछड़ पृष्ठ ६८।

—युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ मे शान्ति जिनेन्द्र की प्रतिमा का अवस्थापन करना¹ प्रियवन्द का प्रसग तथा पाण्डवो का पुन अपने असली स्वरूप को ग्रहण करना।

—पाण्डवो के जाने पर कुन्ती व द्रौपदी का नमोकार मत्र का ध्यान करना। पुरोहित का पाण्डवो पर कृत्या छोडना तथा पुलिन्द का आकर कृत्या से उनकी रक्षा करना। कानकुमार व जीवयशा का अग्नि विसर्जन।

६—पाण्डवो का नेमिनाथ के उपदेश से निर्वेद होना तथा दीक्षा ग्रहण। धर्मघोष का पूर्व भव बताना व उनका निर्वाण प्राप्ति होना आदि घटनाए मौलिक हैं।

रास मे अनेक वर्णन मिलते हैं जो जन भाषा म हैं। सरलता और सहज अभिव्यक्ति ही इस काव्य की कसौटी है। राजपुत्रो के द्वन्द्व युद्ध एव उत्साह मूलक मुद्राओ के चित्रण बड प्रभावशाली बन पड है —

कवि निखाडइ खाडा सरसु, कवि तुरगम जाणइ मरमु
चक्र छुरी किवि साबल मालइ, किवि हथियार पडता झालइ
पहिलु सरमइ धरमह पूता, जेह रहइ नवि होइ धात्रा
अठिउ भीमु गदा फेरतउ, तउ दुर्योधन मिउइ तुरतउ

लोह पुरष छइ चक्रि भमतउ, पवन वाणि आहणइ तुरतउ
राधा वधु करीउ निखाडइ तिसउ न काई तीणु अखाडइ
तीह्र हू का अठइ करणू अरजुनु पामइ मूकरि मरणू
रोसि ऊपइ बेउ भूझता, रणरसु जोइ दवी देवा
धरणि धमक्कइ वाजइ गयणू हारिइ जीतइ जय जयरयणू
हीया धसक्कइ कायर लोक, सततणा मन करइ सशोक
जाणे वीज पडि (अ) अकालि, जाणे मुद्र खुस्या कलिकाल
(ठवणि ८ पृ० १३)

कवि का स्वयवर, नगर तोरण, अनेक वाद्यो और उत्सवो का वर्णन बडा प्रवाहपूर्ण बन पडा है —

वाजीय अवक गुहिर नीसाण, दिणयरो रेणिहि छाईउए

1—According to the Jain Tradition the Rajsuya ceremony consist in raging a temple dedicated to one of the Tirthankaras where the kings are invited G O S CXIII page 354

पहुतउ जागाउ पहु नरिंद द्रुपदु पहूचा सामहा ए
तमाया तोरण वदरवाल, नयर उनाविहिं ध्वाज्ज ए
मणि मय पूतला माजन थंभ, मातिउ चउक पूराविया ए
कुंकम कन्गि छडउ दिवारि, घरि घरि तारण उभाया ए
नयरि पइसारउ पहु नरिंद विरि ग्रमराउरि मयतरा ए

कवि का रंगा और पुष्प माला के रूप वर्णन में कलात्मकता मिलती है। पाचाली का शृंगार वर्णन अत्यन्त स्पृहणीय है। गजगत नयन, सुरभित कवरी, सिन्दूरी तिलक गुंथर कंकण नूपुरों का स्न मुन और तांबूल की भांति लाल अधर सभा में नृपगता है। रंगा और पुष्प माला के रूप वर्णन देखिए —

द्रुपद राय नंदन रायह तणी कुंयारि
तसु रूपह जामनिहि विहउ मूयणि धर नारि नत्थाय
मामा मजु परि कुसुमह मूड वानि कनेउर अनहुतह ए
नयण मजूणाय काजल रह तिलउ धमतूरा यम निपडीय
करयले कंकण मणि मयकाह जास्कर फाताम पहिरणु ए
अहर तंबोलाय द्रुपदा वाल पाय नेउर रणमुणइ ए

और पुष्प वर्णन में —

सोहि भमर झबाल मनु वंकि कुसुमह मान
मनुवंठि कुसुमह माल विरि गु मयणि धागणि धावाइ
हार रुमु मन नरिन्द महयरि, पहुतु इम गभावीयइ
(ठवणि ४ पृ० १५)

द्यूत क्रीडा में हार हर पाडवों की और सभा में द्रौपदी को केश पकड कर लाने की कवि ने अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन किया है। भाषा की सरलता और वर्णन की चित्रात्मकता में वर्णन और भी सजीव हो उठा है —

राखिउ ए राउ जूठिठु विदुरह वयणु न मानीउ ए
हारीया ए हारिय धाड भाइय हाराय राजि सउ ए
हारीय ए द्रुपदह धीय उन्तालिय सवि ग्रामरण ए
ताणीय ए केसि धरवि, दवि दुसासणि द्रुजणिहिं ए
आणीय ए सभा ममारि, दुराय द्रुयोधन इम भणइ ए
'आविन ए मावि उतसगि द्रुपदि बइसिन मुमतण ए''
इम भणाए स्पिद मराभु द (—) हुज तु कुलि सउ ए
कुपीउ ए काम्बा चार ग्रन्ठोत्तर सउ साडीय ए
(ठवणि ६, पृ० १७)

और भी अनेक काव्यात्मक स्थल है। द्रौपदी का करुणाजनक वर्णन कवि ने किया है। कृष्ण के दूत बन कर जाने पर भी दुर्योधन उन्हे "मुइ लद्धी भूयबलि एक चास हिवए न पामइ" रूप्य उत्तर देता है, तो महायुद्ध की तय्यारियाँ होती है सारा दृश्य युद्ध म बदल जाता है। युद्ध वर्णन, वीरता एव उत्साह के अच्छे चित्र कवि ने उरेह ह। सैन्य वर्णन और युद्ध की अतिशयोक्तिया की चमत्कारिता दृष्टव्य है —

दुरयोधनु प्रति मत्सरि चडीउ, जाई जरासिधु पाए पडीउ
'मुझ रहइ पहिलउ न्उि अगेवाणु पडव कन्ह दलउ जिममाणू''
ईहा सेनानी गमेउ अह निहसी जुडिया न्ल वउ (पृ० ३०)

हाथी घोडा और असख्य पैदल सेना का युद्ध वर्णन, सिरो का कट कट कर गिरना और नाचना, सामतो की गव मिश्रित हसी कुरुक्षेत्र को और भी उत्साहपूर्ण बना न्ती हैं। वर्णन की अलकारिता तथा अनुप्रासात्मकता देखिए —

दलमिलीया कलगलीय सुहड गयवर गलगलीया
धर धसकीय सलवलीय सेस गिरिवर टलटलीया
रणवणीया सवि सख तूर अबरु आकीउ
हय गयवर खुरि खणीय रेणू ऊडीउ जगु भपीउ
पडई बध वलवलइ चिध सोगिणि गुण साधई
गइ वरि गइ वरु तुरगि तुरगु राउत रण रूधइ
भिडइ सहड रडवडइ सीम धड नड जिम नच्चइ
हमइ धुसइ ऊमसइ वीर मेगल जिम मच्चइ
गयघडगुड गडमडत धीर धयवड धर पाडइ
हममसता सामत सरमु सरमेलि लिखाडइ

जयद्रथ के लिए प्रतिज्ञा अर्जुन का शौर्य और द्रोण की वीरता दृष्टव्य है। कहो कही वीभत्स के भी दशन होते हैं। कवि ने कर्ण, शल्य, शकुनि, दुर्योधनसबके वध का वर्णन किया है —

पाडइ चिध कबध बध धर मडलि रोलइ
वाणि विनाणि विवाणि केवि अरियण घधोलइ
कुइ कराउ गाविद्धि दवि रथु धरणिहि खूतउ
मारीउ अरजुनि करणू बूडि रणि अणाभूभतउ
शल्यु शकुनि वउ हणाय वेगि नकुलि सहदेवि
सरवरमाहि कढावीयउ दुरयोधनु दैवि
राइ संनाहु समोमीयउ भोमिहि सु भिडउ

गन्धारानि गणाय जाय मनि गातु गु पहिन

मागु निवडा तणुन तामु दुगाउ दलु गाधाउ
पाप परामव न प्रगमि मनि माणु निरापान (पृ० ३०-१२)

इस प्रकार शृंगार करुण वीर रौद्र वात्सल्य आदि भावों में चित्र खींच कर अन्त में धार्मिक भावना द्वारा सम्पूर्ण रास का समापन शांत और निर्वेद भाव में कर दिया है। धर्मघोष का वर्णन उल्लेखनीय है —

उपनु वरन माणु गामाय ण नमि जिणवरन ण
मानना गामि रयाणु रिरना ण मारयवनु परइ ण
वरनाय गमि प्रमारि नागिर ण जा झि जिणु नमर ण

गामाय गणन्र पामि पावन ण नरिमिमि व्रनु रिन ण

वारर गुरु धर्मघातु पुर भरि ण पाच ण श्रुणवाय ण
वनइ नि प्रचरन गामि दवर ण पाच ण भाविया ण
गुरइन मनतु नरु गुमतिऊ ण गुमइ गुचागु ण
गुणर यगाधर पामि हरमिनि ण पाच ण व्रतु धरण
वणगावनि नतु गकु वाजइ ण वरर रयणावना ण
मुकुनावनि नतु मार चन्दउ ण मिननिवानिउ ण
पाचमु धाविरथमानु नर रा ण पणूनरि मविगिया ण
धरापना तुमिन रया दवर ण नवि ण मिरवरि पामिनन ण
मानना नमिनिरवाणू वारणु ण मवगुन गुणि वयणि
मवुजि तायि चइ पाचइ ण पाइव मिदि गयाण
(ठवणि ११ पृ० ३१)

इस प्रकार इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने कई घटनाओं का परम्परित वर्णन करते हुए भी मौलिक सृजन किया है।

प्रस्तुत रास के छन्दों में बड़ा वैविध्य है। सम्पूर्ण रचना को ११ ठवणि[1] में विभक्त किया गया है। इस रास की ठवणि में विशेषता यह है

---

[1]-ठवणि is derived from Skt स्थापनिका Pkt ठवणिआ It forms the narrative part proper, and in that sense resembles a कडवक of Ap and OG poetry while वस्तु छ

दि उसका अनुगमन वस्तु छद करता है। भरतेश्वर बाहुबली रास के छन्दो से इसका पर्याप्त साम्य है। प्रथम ठवणि या ठवणि म २२ कडिया मे १६+१६+१३ मात्राए है तथा २३वी कडी म वस्तु छद है। द्वितीय ठवणि मे चौपाई तथा उसके साथ द्विपदी भी, अत यह छद मिश्र बन्ध कहा गया है।[२] तृतीय म रोला है। चौथी पाचवी म दोहा चौपाई है। छठी ठवणि के सम चरण म दोहा तथा विषम मे चौपाई है। समचरण के अन्त मे ए मिलता है। देशी सवैया की भाति प्रयुक्त चार कडियाँ भी इसी ठवणि मे मिलती है। पुन समचरण मे दोहा और चार चरणो के साथ एक हरिगातिका भी मिलती है और अन्त म वस्तु छद है। जिसके नाम मे ही कथा का बोध होता है।[3] ७वी म सोरठा और ८वी म २३ कडिया तक शुद्ध सोरठ मिलते है, जिसके विषम पद म अनुप्रास मिलता है।[४] ९वी से १४वी ठवणि तक चौपाई ही मिलती है। वस्तु छद सबके साथ मिलता है। इस प्रकार कृति मे छद वैविध्य स्पष्ट है।

सूक्तियाँ —रास मे अनेक प्रसिद्ध सूक्तियाँ है, जो उल्लेखनीय हैं।

(१) किम रयणायर हीयइ तरीजइ
(२) क्रमि क्रमि जुवणि तिणि पसरीजइ बीजतणी ससिरेह जिम
(३) कीजइ पातकु पुण्यवति कइ लाज कि रोस
(४) बाधइ पचइ चद जिम पडव गुण गभीर
(५) मच चडया सोहइ जिमचद
(६) कु डल सरिसउ लाधा बाला रकु लहइ जिम रयण भमालो
(७) किमु न कीधइ रात्रि अवसरि लाधइ परमवह
(८) दवु न गिणई दैवु गिणइ पुण्यनइ पापु
सताप सुयणह करई पुण्य हीन जिमराय रोलई
दारिद्र दुक्खु केह भरई तृष्णा किज्जि गिरि सिहव ढोलइ

✲ is a conclusive link verse, which sums up the contents of the previous ठवणि and the ठवणि to follow G O S CXVIII भूमिका पृ० ७।

२–गुर्जर रासावली पचपडव चरित रासु पृष्ठ १२–१४।

3–The वस्तु metre as its very name expresses to a song of the outline of the story It is a miniature itself, the first half of the first line always being repeated to signify that it is a ध्रुवपद। G O S CXVIII page 7

४–वही ग्रन्थ पृष्ठ २०–२२।

(६) मिटइ मा^ रन्वहर माम धन नम जिम नश्चर
हगन घुगन मगगर धार मगन जिम मश्मइ

प्रस्तुत रास का भाषा सरल ह्निा है जिसम प्राचीन राजस्थाना, कुना गुजराता आदि भाषा का बहुतायत मिलता है। सरल भावा का सरलता म ध्यान धरन्ना और भावी अभिव्यक्ति म पूर्ण ईमानदारी रखना तथा उस क्लिष्टता स बचाकर जन साधारण क लिए सुगम बना दना ही सच्चे कवि व कविता का पहिचान होती है। इस कृति म मनोवैज्ञानिक आलंकारिकता तथा बना-बाजियाँ नहीं ... जा भा है वह जनता का वाक्य है। जिसम मानव मात्र क लिए सन्दश है। (२) धनाड्य क राम म भरत्नर बाहुबला राम क बाद यह रास सबस महत्वपूर्ण है। भाषा म तत्सम शब्दों का प्रभावता विशाल पैमान पर मिलता है। साथ म ही अपभ्रंश क शब्दों क तत्भव उदाहरण मिल जात है। सरल हि । क कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

(१) आगइ द्वार माहि जु आता पंचइ पाण्डव लगाउ घराता
(२) हरिणु पर हरिणा सु ... कामन वयणि हरिणी बोलइ—
पणि पणि प्रिय पारधाउ।
(३) पुण्डर राजा महिमणि वयणि इणि वणि वसाइ कारणि
वनणि बारइ गम मना गईय
(४) नाचउ जागइ जिण धम मार्गे तउमनि कुवण लगइ विराग
गगार्ग्यण वणि वसए
(५) ए अम्हारा पुत्र निरुणारा नामा प्रथइ भवन कुमारा
कुरु वमह करउ महणू राज करमि गगानदणु।
(६) हथिणापुरि पूरि कुर नरिन्द करा कुल मंडणु
मनजिहि मनु सुगाण साउ दुमनरवण सतणु
(७) जनम महोउ गुरुवरइ नाचइ अपछर बार
दु दहि बाजइ गयणयल करणिहिं तान कमाल
(८) विसु नाषउ दुरयोधनिहि भामइ भोजन माहि
अमृत हुइ परिणामिउ पुन्निहि टरिउ पुनाइ
(९) अरजुन बाजइ र अनुतान अरजुन अभिनिसि मद सु हान
धिणु । र विदुर व्व विरागु पंचइ पदरा हुइ वणवामु
(१०) रे रावस भ्रम आगलि बान मारिणि वज्नू पूगउ बान

वस्तुत आदिकालीन हिन्दी भाषा का शास्त्रीय रूप धीरे धीरे किस तरह किन किन इकाइयो (Units) म बनता गया, उन सब स्रोतो की सूचना हमें इस कृति म उपलब्ध हो जाती है। रास का उद्देश्य पाण्डवो के चरित पर प्रकाश डालना है। इसके अतिरिक्त कवि ने रास रमण व क्रीडा के लिए भी बनाया है —

पडव तणउ चरीतु जो पढए जो गुणए सभलए

पूनिमपखमुणीद सालिभद्र ए सूरिहि नीमिउ ए
देवचद्र उपरोधि पडव ए रासु रमाउलु (१५ ठवणि, अतिमाश)

इस प्रकार प्रस्तुत कृति को कवि की शैली और भाषा की दृष्टि से एक उत्कृष्ट कृति कहा जा सकता है।

पचपंडव चरित रासु [1]

(रचयिता—शालिभद्र सूरि)

[वि० सं० १४१०]

नमिजिणिन्द पय पणमवी
सरसति सामिणि मनि समरवी
श्रु चिति माही धरणउ ॥ १ ॥

आगइ द्वापर मांहि जु वाता
पचइ पडव तणउ चरीता
हरसि हिया नइ हुं भणउ ॥ २ ॥

रासि रसाउलु चरीत सुणीजइ
जिम रयणायर सायर नराजइ
सानिधि सासणदेवि तणइ ॥ ३ ॥

10 आदि जिणेसर करउ नरालु
कुरुनरिंदु हूअ कुरुमहणु
तासु पुत्तु हूअ हथियउ ॥ ४ ॥

तीणइ थापिउ तिहुयणसारा
बीजउ अमरापुरि अवतारा
15 हथिणाउरपुर वसीयउ ॥ ५ ॥

तिणि पुरि हूअ संति जिणेसर
सयर सतिकरउ परमसर
चक्कवट्टि सिरि पंचमउ ॥ ६ ॥

१—प्राचीन-गुर्जर रासावली—गायकवाड़ ओरिएण्टल ग्रन्थमाला बड़ोदा सं० १८ पृ० १-३८।

(8) रयणायर a slip, the MS makes use of Padi matra

तिणि कुलि मुणीय सतणु राम्रो
20 भूयबलि भजइ रिउमडियाम्रो
दाणि जगु ऊरिणु करए ॥ ७ ॥

अन्नदिवसि आहेडइ चल्लइ
पारधिवसणु मु विसइ न मिल्हइ
ग्लु मेल्ही दूरिहि गयम्रो ॥ ८ ॥

25 हरिणु एकु हरिणी मु खेलइ
कोमलवयणि हरिणी बोलइ
'पखि पेखि प्रिय पारधीउ' ॥ ९ ॥

मग साधी राउ केडइ धाइ
हरिणउ हरिणी सहितु पुलाइ
30 ऊजाईउ गिउ गगवणे ॥ १० ॥

नयणह आगलि गयउ कुरगू
राय चीति जा हूयउ विरगू
जाग वामू दाहिणउ ॥ ११ ॥

ता वणि पेखइ मणिमइ भूयणु
35 तीछे निवसइ नारीरयणु
खणि पहुतउ राउ धवलहरे ॥ १२ ॥

जह्नरिन्ह केरी धूय
गगा नामि रइसमरूय
ऊठइ नरवइ सामुहीय ॥ १३ ॥

40 पूछइ राजा 'कहि ससिवयणि
इणिवणि वसीइ कारणि कमणि"
बोलइ गग महासईय ॥ १४ ॥

जो अम्हारु वयणु मुणेसिइ
निश्चि सो वरु मइ परिणेसिइ

---

(19) The MS writes स and म similarly, thus मुणीइ can be read सुणाइ, ओ in राम्रा and भडियाम्रा of the next line is written as उ

(27) MS writes प for ख and प is written like ष

(43) reads मुणेमइ cf footnote 1 19

45 खेचर भूचर भूमिधरा" ॥ १५ ॥

त जि नयणु राइ मानाजइ
जहराय वंगी परिणीजइ
परिणी पट्टन्ड नियघरे ॥ १६ ॥

ए पुत्तु तसु श्रुणि ऊपनउ
50 विद्यारत्तणगुणसंपन्नउ
वजा बाहुत्तरि सा पढए ॥ १७ ॥

गगनाभि गमेउ भणाजइ
क्रमि क्रमि जुव्वणि तिणि पगरीजइ
बाज तणा गमिरइ जिम ॥ १८ ॥

55 नितु नितु राउ ग्रहेहेड चल्लइ
राणि चढि राणी इम बुल्लइ
प्रियतम पारधि मन करउ" ॥ १९ ॥

राइ न मानी गया राणी
ताणं दूखि मनि गुरमाणी
60 पुत्तु लेउ पीहरि गईय ॥ २० ॥

धनुपारा माउनउ पढावइ
जावन्या नियनिति रमावइ
बांधि चारणमुनि तणइ ॥ २१ ॥

माचउ जागइ जिणधर्ममागो
65 तउ मनि जूवण नगइ विरागो
गगनत्णु बगि बगए ॥ २२ ॥

वस्तु

राउ मतणु राउ मनणु वयणु सुणेवि
ग्राम्हइ चलाउ पारसरि मनि माहि धूमीउ

---

(45) च and व become similar through the inadvertance of the scribe

(46) तजि is repeated in the MS through the scribe's slip

(67) MS has राम्मतणु २ which is written twice in the text above for clarity

पूत्तु लेउ पीहरि गई गग तीरा अवमाणि दूमीय
वात सुणी पाछउ वलइ जा नवि देखइ गंग
चउवीस [वास] रहइ जिमु रहहीणु [असंगु] ॥ २३ ॥

[ठवणी ॥ १ ॥]

आह मनमाहि नरिन्दो पारधि संभावइ
मइ दलि रमलि करतउ गगातडि आवइ ॥

गगतडा तडि अछइ ओयणु
75 वित्थरि दीरधि बारह जोयणु
पासहरा वागुरीय बहुय
पइस वगि कानाम्लु हूय ॥

दह दिसि वाजइ हार बहु जीव विणासइ
एकि धुसइ एकि धायइ एकि आगलि नासइ ॥

80 दह दिसि इम जा वनु आरोडइ
जीव विणासइ तरुयर मोडइ
जा इम रुलवइ पारधि नागइ
ताम अमममु पेखइ आगइ ॥

विहु खवे टा भाया करयनि कोम्डा
85 बानीनेसह बाना भुयन्डपयडो ॥

राय पासि पहिलु पहुचेई
पय पणमी वीनती करेई ।

'सामलि वाचा मुझ भूपाल
इणि वणि अछउ अम्हि रखवाल ॥

90 जेती भुइ तू राआ तेती तू सरणि
मुझ मनु का इग दूमइ जीवह मरणि" ॥

तासु वयणु अवहनइ राओ
अतिवणु घल्लइ जीवह घाउ
कोपि चडिउ तसु वणरखवाला

---

(71) The first Pada of the line is defective, वास is left out in the MS

(79) एक धुसइ repeated

95 धनुष नडासइ जमविरराता ॥

नारा भर उनाल्ल ग्रागता नि पाल्ल
गरग जणउ ढान्इ रान्त कगान्इ ॥

वन्ठ कपु करतउ जागा
तामरिंग ग्रारा गगाराणा
100 वन पनि भुभु करना रागइ
नियप्रिय ग्रागनि नरगु नागर ॥

रवा गगारागा राजा जागन्दि
मन्ना मनि नदियार वन्ड ग्रानिगिन ॥

रान भगार मर रिमउ पनारन
105 न्नि नुम्नि मर ग नरि पान्धारा
गजु नुम्नार पूनु नुम्नारन
ग्रन्नाउ गग रिग रिनारउ' ॥

पूनि भगारिनि नवा ग्रनिपग गाारा
पूनु गमारराउ गय ग्रानिग नरि ग्रारा ॥

110 रिना पूनु रन रगि मिनीया
नरि मुरावा पान्दा वनाया
ननिगाउरि पुरि गजु गरे
नाग जिम नान्ना वन्न गमे ॥

ग्रननिगनरि रागनि करनउ
115 जमगनरा नन्नि गाउ पहुनउ ।
जन मनंनी नागा वार
वना वन्ना कनरिमार ॥
पुन्दर ननावान्ना नगी
ग कुग नागर वन्नी वडा ।
120 वनावान्ना नग उ गामा
नाय पानि पनगर गिन नामा ॥
ग मन्नारा कुनमिगगारा

---

(102) MS has मंगा for रंगा
(111) मुरावा पान्दारा पान्दा नराग in the MS

सामी अछइ अजीय कूयारी ।

कोइ न पामु वर अभिराम
125 सफलु करू जिम नैवह कामु" ॥

तमु घरि बइसी राउ मा बानी मागइ
वात स वेडीवाहा पुण चीति न लागइ ॥

'साभलि सामी अम्ह घरसूत्तो
तुम्ह घरि अछइ गगापूत्तो
130 मइ बेटी जउ तुम्हह देवी
तउ मइ हथि दूख भरेवी ॥

कुरवत्रसह वरउ मडणु
राजु करसि गगानदणु
धीय महारी तणा जि बाल
135 ते सवि पामइ दूख कराल ॥

मुझ पामि तुम्हि किसु कहावउ
तुम्हि अम्हारा धीय न पामउ' ।

इम निसुणीउ घरि पहुत नरिन्द
जिम विध्यानलि हरीउ करिन्द ॥

मनि चिंतइ सा बात कुणहइ न कहेई
140 अगे लागी भात जिम न्हु दहेई ॥

कूयर वेडीवाहा मन्दिरि
जाइउ मागइ सा इ जि कूयरि ।

वेडीवाहइ त जि भणीजइ
145 तीणि कूयरि प्रतिना कीजइ ॥

मत्रि मउन्उधा महुइ तडइ
वडोवाहा प्रति सु फेडइ ।

"वयणु अम्हार म पडउ पाखइ
देवादेवी महुयइ साखिइ ॥

---

(129) Indefinitely reads सूत्रो or सूत्तो same way in the next line पुत्तो or पुत्रो

(139) Perhaps हरिउ a slip for गारिउ

150 निसुणउ मइ जि प्रतिमा कीजइ
चाटुरन्द सिय तासु निवाजए ।
गृ राज्ञु भनइ परिणेवु
मए अनरए जनमि करवु ' ॥
निसुणाए नयणु गभेनउ बानइ
155 काए न तिहुयणि जा तुम नानइ ।
निसुणउ टिव एए कम वृानू
गइ रएए हाए संतणु धनू ॥

॥ वस्तु ॥

नयर अच्छुए नयर अच्छुए रयणाएर नामि
रयणमिएए नरवर समए तासु गेहि गइ थान जाईद
160 सिवानरि अरएगाय जानमात्र नहि जमणु मिल्लाय-
माय ताए गएणाए पवा नए मए सिद कुमारि
गयवना नामि हुणिण गतणयरनारि ' ॥

[ठवणि ॥ २ ॥]

पणमाउ भामाउ नमिनाहु अनु अ विवि माही
पभणिणु पंहव गणउ चरितु अभिनवसरिवाहा ॥
165 हयिणाएरि पुरि कुरनरिए करा धुनमंडणु
मएजिरि मंनु गुणागमालु हूए नरवर मतणु ॥
तसु घरि राणी अएए दुन्नि एक नामि ग ॥
पुनु जाउ गणउ नामि निणि निहुणि धणा ॥
गयवना छुए अवर नारि तसु नएणु हुन्नि
170 गरे गनागणु करवन अनु संगणुवन्नि ।
पल्लिनउ वएउ गरमएाणि वाएणणि विवनउ

---

(158) नयर अच्छुए २ The repetition is represented by the figure 2, by the scribe We have in the text systematically repeated the expressions rather than writing 2 after the scribe

(170) गनागण in MS for गनागण

विचित्रवीर्य बाजउ कुमार बहुगुणमपनउ ॥
राउ पहूतउ सरगलाकि गगयकुमारि
तउ लघु बधवु ठविउ, पाटि तिणि वयणविचारि ॥
175 कासीसरधरि तिनि धूय अ विकि अ बाला
आजी अ बा अछइ बाल मयणह जयमाला ॥
परिणावेवा ताह बाल मयवर मडाविउ
गगानदणु चडीउ रामि अणतडिउ आया ॥
समरि जिणीय सवि राय बाल लेउ त्रिण्हइ आयो
180 पडउ महाच्छउ करीउ नयरि बधवु परिणाव्यो ॥
अ विकि बटउ धायराट्ठ सा नयण आधउ
अ बाला नउ पुत्तु पडु विहु भुयणि प्रसिद्धउ ॥
अ बालग्णु विदुर नामु नामि जि सरीखउ
खइ खीणइ पुणु विचित्रवार्य पडु राति प्रतीठिउ ॥
185 कुतान्वि नउ लिखिउ रुपु दखीउ चित्रामि
माहिउ पडु नरिदु चाति अति नीधउ कामि ॥
विद्याधर वनि कुणिहि एकु मन्दिउ छइ बाधी
छाण्डिउ पडुकुमारि पामि तमु मुद्रा लाधी ॥
एतइ अ धकवृष्णि नामि मारीपुरसामी
190 दस बटा तमु एक धूय कुंतान्वि नामी ॥
पाणी आपणपार पुण्पु मारियपुरि पहुतउ
"पडु वराउ' पिय पासि कुयरि मभलइ वहुतउ ॥
नवि जामइ नवि रमइ रंगि नवि महीय बालावइ
बालावा ता पहीय जाइ अणनडा आवइ ॥
195 खाजइ मू कइ रडइ बाल जिम मयह सतावइ
कमलिणिवाणगि मण समाधि सा किमइ न पामइ ॥
चडु य चन्दणु हीयइ हार अ गार समाणउ

---

(181) आधउ in MS for आपउ
(183) नातु in MS for न मु
(197) MS has चडु न

'कुगहइ काइ ेहइ दूगु जागाइ तु जागउ ॥
नानखु निधिगु मइ अजाग़ु काइ मारइ मारा
200 ईगि जनमि मुभ पनुमर निगु नहा य मतारा ॥
विरहि विरागाय वग मभारि जान मगि भायइ
नवगिम जूवगु नपरन ता भ्रानिनि जाइ ॥
व ठि टनर जा पागु टान तग्यर गा
भ्रानिन मू दप्रभानि ताम मनि चिनिउ सामि ॥
205 परिगाय भ्राना पनुमरि भ्रागगाय जि थनगा
सहायर वनि नकनि हुन पुनु जायउ रमगा ॥
गग प्रनानिन रयग मानि धानिन मन्नम
वाजइ पानकु पुग्यवति वइ नाग नि राम ॥
जागाउ राइ पु तिनिगु पनु जु परिगानइ
210 निनिउ जागु निनाहि जाम त मुजु भ्रावन ॥
॥ नस्तु ॥
मवनु नरवन मवनु नरवन नमि गधारि
कु यरि तगु तगग भ्राठ धाय गधारि पहिनाय
कुनन्वनिभ्रानमि धायरनन नरनान नि हीय
नववनरनइ ननगा नुमुनगि विटरवुमारि
215 बाजी मद्रनि मद्रूय पनुनगान घरनारि ॥
गभु धराऊ गभु धगाज ननि गधारि
दुनरत्तगि हानन्उ कून वननि जगा मुभि गनइ
पुन्पवमि गरवरि चनन मुनइ जम मनि गमन मनजन
गानि रनता वनायगा पवान हरिमु कानइ
220 मामु गमरा वुगानि मु भ्रननिमि कनन वरइ ॥
[टवगि ॥ २ ॥]
पुनप्रभाविनि पामायउ पनिनु वु तानवि
पुनमगारद्र पून पुग मुमिगा पच नहवि ॥
नाठउ गुरगिरि क्षारहरा मुमिगुन मिरिरविचन

---

(204) MS has प्रभाति for प्रभावि
(112) गधारिन in MS for गंधारि

जनमि युधिष्ठिरराय तणइ मिनीया गुरवइनि" ॥
225 गयणगणि वाणी पडीय 'खमि न्मि सजमि णडु
धरणपूतु जगि ऊपनउ सत्यसारि सुचित्तु' ॥
रायीउ पवणिहि कलपतरा सुमिणइ जु तिहूयारि
पवणह नदणु वज्जमय्रो भीमु सु भूयण मभारि ॥
श्रीसे माम जाईयउ दूमीय न्नि गधारि
230 न्विसि भ्रवुरे ऊपाम्रो दुर्योधनु समारि ॥
दसह दसारह बहिनडीय ग्रीजउ धरइ ग्राधानु
'दाणव दल सवि निद्दलउ मरि एवड़ु ग्रभिमानु
'धनुपु चडावीउ भूयणि भमउ' इच्छा ठइ मन माहि
बइठउ दोठउ हाथिणीय गुरवइ सुमिणा माहि ॥
235 जनममहाछवु मुर करइ नाचइ ग्रपछरवाल
दुदुहि वाजइ गयणतले धरणिहि तार कसाल ॥
गयणह वाणी ऊछलीय ग्ररजुन इद्रह पूतु
धनुपवलि धधानिसाण दुरयाधन घरसूतु' ॥
नकुलु ग्रनइ सहदेवु भडा जुग्रनइ जाया वेउ
240 प्रभु चद्रप्रभु थापीयउ नामिकि कुतादेउ ॥
सउ बेटा धयराठघर पडु तणइ धरि पच
दुर्योधनु कउतिग करए कूडा कवडप्रपच ॥
ग्रनन्निणतरि गिरिमिट्टर राजा रमलि करेइ
कुतीवरयल ग्रदवन्डिउ रडयड भीमु रडेइ ॥
245 पाहणि पाहणि ग्राफनाउ वान न दूमीउ दहु
पाहण सवि चूनउ हूयए कवडु कउतिगु एहु ॥
गयणह वाणा ग्रापीयउ ग्रागइ वज्रसरीर
वाधइ पचइ चन्द जिम पडव गुणगभीर ॥

---

(225) गयणगणि in MS
(234) दाठउ written twice in MS
(238) धधानिसाए in MS for धधानिसाए
(243) ग्रना for ग्रन
(245) पाहणि २ in MS

मीमु भाडतउ जमणन्द कुन्द कुरवबार
250 पाडइ द्रउडइ भेडवइ बाधाय बानइ नीरि ॥
दुरयाधनु रासिहिं चडाउ बोलइ सामलि भीम
तु मुभ बधव कून्तउ म मरि ग्रखून्द इम" ॥
भामि भिडिउ मन्नु पाडावउ बाधाउ वालिउ नारि
जागिउ आटइ वध वनि ननि तूमिन्द मरारि ॥
255 विगु नावन्द दुरयाधनिहि भीमह भाजन माहि
ग्रमृनु हूइ नइ परिणमिउ पुनिहिं टरिइ पुनाद ॥
ग्रतिरथि सारनि तहि नमए राय तगाइ घरिमृनु
राधा नामिहि तमु घरणि करणु मणु तमु पुनु ॥
तान कूयर पचमानउ विनहरि पढिवा जाइ
260 धीन बाह मति ग्रागनउ करणु पन्न तिणि ठाइ ॥
दडा लगइ गुरू भन्नउ द्राणु मु बमणवमि
तह पामि विद्या पन्इ कूयगुर नइ उपन्मि ॥

॥ वस्तु ॥

तीह कूयरह ताह कूयरह माहि दो वीर
इकु ग्ररजुनु आगनउ ग्रनइ करणु हायइ हरानउ
265 गुरकूनन विगायह नगइ धन्नवण नाधउ मरानउ
विसु न हूइ गुरभगति नगन माहि नउ गुन विद्धु
ग्रहनिमि गुन आराधवउ एकन यु हून सिद्धु ॥
गुन परिक्वन गुन परिक्वइ ग्रतनाहमि
दुरयाधनप्रमुन सवि रायहयर वण माहि लेविणु
मारागु मिल्हि करि तानन व मिरि नवु दविगु
तीगु पराश्या गुर तगा पुगउ एकु जु पग्नु
राहावहु तउ सिखवन मन्डह नविणु हनु ॥
एक वामरि एक वामरि कूयर नन माहि
गुरि सरिसा जलि तरइ द्राणचनगु जनजावि लिढउ
275 कूयरपरीग्वा तणन मिमि गुरिहिं कून पाकान किढउ
धायउ ग्ररजुनु धगुन्धह ग्रवर नधागा कइ

(259) म in पचमानउ is written peculiarly in M3

मेल्हाविउ गुरुचरणु तसु गुरु किम नवि तूमिइ ॥

[ठवणि ॥ ४ ॥]

गुरि वीनविउ अवसरि राउ "सविहु वैठा करउ पसाउ
तुम्हि मडवउ नवउ अखाडउ नव नव भगि पूत्र रमाडउ" ॥ १ ॥

280 आइसु विदुरह राधउ राइ न्ह निसि जणवइ जावा धाइ
सोवनथंभे मच चडावइ राणा राणि तं सहू य आवइ ॥ २ ॥

पहिलउ आवइ गुरु गगेउ धायरटठ धुरि वइसइ राउ
विदुर कृपा गुरु अवर नरिन्द मचि चड्या साहइ जिम चन्द ॥ ३ ॥

कवि खिलाडइ खाडा मरमु कवि तुरगम जाणइ मरमु
285 चक्र तुरा किवि सावल मानइ किवि हथीयार पडता भालई ॥ ४ ॥

पहिलु सरमद धरमह पूत्र जइ रहइ तवि कोइ नाथ
ऊठिउ भीमु गदा करतउ तउ दुयोधन भिडइ तुरतउ ॥ ५ ॥

मनि मावीअह मत्सर रहीउ पाडइ अरजुनु अति गहगहीउ
भीमु दुजोहण जा वे मिलिया ता गुरुनदणि पाछा करीआ ॥ ६ ॥

290 गुरु ऊठाडइ अरजुनु कुमरो करणहि सरिसउ माडइ वयरा
व भाया बिहु सन वहई करयति विसमु धणुहु धरइ ॥ ७ ॥

लाहपुरपु छइ चक्रि भमतउ पच बाणि आहणइ तुरतउ
राधावधु करीउ खिलाडइ तिमउ न कोई ताण अखाडइ ॥ ८ ॥

तीछ हूया उठइ करणु 'अरजुनु पामइ मू करि मरणु'
295 रासि ऊठइ वड भूभवा रणरमु जाइ देवी देवा ॥ ९ ॥

वउ हूयइ वउ वाररवाइ राय तणा मनि रीमु उपाइ
धरणि धमरवर गाजइ गयणु हारिइ जीतइ जयजयवयणु ॥ १० ॥

हीया धमधमइ कायर लोक मत तणा मन करइ सणोक
जाणे वीज पडि (अ) अकालि जाणे मु द्र खुल्या कलिकालि ॥ ११ ॥

300 क्षणि नान्हा क्षणि मोटा दीसइ माहामाहि खुमए वड रीसइ
बथवि वीटीउ राउ दुजाहणु विहुपखवि वीटीउ राणु ॥ १२ ॥

---

(281) मत्त in MS for मत्सर

(297) जयवयणु in MS for जयजयवयणु

(300) रीसं in MS रोसइ

तिसु पहार शारि प्रत [illegible] [illegible] तार उर प्रम्य धरि विरउ
भरत्ता बारर [illegible] प्रतुतार भरतन नसिगि मर मु हीन ॥ १३ ॥
भरतन मरमा मर्ति न रावर निन्दुनमानि तरतु वनजर
305 रम प्रावगर धगु नगाग थाविन नावतुन तगु प्रमागु ॥ १४ ॥
रम प्रगन्ति नरि जा ररगु पुन्द परामरि मार मरगु
तुरन्तरनि तर दसर रगावर वारानारि पुत्र जागुावर ॥ १५ ॥
गतर प्रतिरथि गारथि धावर ररगग नगु पुतु गार नगावर
मर गगा उगमार शाम नाधा ररनभरा मनुम ॥ १६ ॥
310 वृ र तरिम्य ता र धाना रतु तरर जिमरवग भमाना
तिगि तिगि शरर नृसिगार तूरा प्रभु धरि मवित्र पुतर पूरा ॥ १७ ॥
धान नरि धर वरिर उ गृनर नर प्रति वनावर ररगु निरनर
रमाय यान मन भावरि ज्ञाना गृकू त वनाउ कृ ना रागा ॥ १८ ॥
वरगु दुनारगु वर मित्र पवर पटव वरा शत्र
315 लमु शतु गर कपर राजा गा मरमार जिगि हुर राजा ॥ १९ ॥
रागगुरि नृसना तारा तर वगा वदुमानि नारा
रम नरा रा दूर प्रमारर पु भरतुन मना पवानर ॥ २० ॥

॥ वस्तु ॥

प्रतवासरि प्रतवासरि रायप्रमयानि
परिवारि मु प्रदर तान रनु पारि परगउ
320 परिनारिरि वानरि नरार मातु चारि वरग्उ
पद पगमा रम वनतर दुपरनरिरन धाय
धरन वा नरान राधार वरार ॥
दुपरनारन दुपरनादर नगा कृ धारि
रनु नरर गानतिरि तिरन नृपति वर नारि ननाय
325 पाथारन तुमरि मनाय धार चक्र धर थमि थमाय
वार मनि रि पुनशा तिरर म सुत्रि मंगारि

(306) नरि in MS नरि
(315) म in मउ and रा in राजा are both eaten in MS

तामु नयण वहा करा परिणउ द्रुपदि नारि" ॥

[ठवणि ॥ ५ ॥]

पडु नरसरा सइ वरि जाइ हथिणाउरपुर सचरए
राइ दले सरिसा कू यर लेउ तारे सु जिम चादुलउ ए ॥
330 वाजीय ववक गुहिर नीमाण निणयरा रेणिहि छाईउ ए
पहूतउ जाणीउ पडु नरिदु द्रुपदु पहूचण सामहा ए ॥
तनीया तारण वदरमार नयर उलार्थिहि छाईउ ए
मणिमय पूतना सावनयभ मानीय चउक पूराविया ए ॥
वकूय चन्दणि छडउ दिवारि घरि घरि तोरण ऊभीया ए
335 नयरि पइसारउ पडु नरिन्द किरि अमराउरि अवतरी ए ॥
पालि पहूतउ पडु तजि तरणि पयट्टु
सोनि चमर ववान अनु कठि कुसुमह मान ॥
अनु कठि कुसुमह मान किरि सु मयणि आपणि आवीइ
काइ इदु चदु नरिदु मइ वरि पहूतु इम सभावायइ ॥
340 चडीउ चचनि नयणि निरयन वयणु बोनन सउ सही
पच पडव सहितु पहूतु तउ पडु नरवन हुइ सहा ॥
मिलिया सुरवण काडि सेत्रास गयणे दु दुहि द्रहद्राय
मडे बइठना रायकू यार आवण कू यरि द्रूपनीय
सामि वनु वरि कुसुमह खू पु वानि कनउर भलहलइ ए
345 नयण सनूणीय काजलरह तिलउ कमतूरी यम णिवडीय
करयले ककण मणि भमकार जान्र फालीय पहिरण ए
अहर तबालीय द्रूपसा वान पाण नउर रणमुणइ ए
भाईय वयणिहि राधावधु नरवर साधइ सवि भला ए
कुणिहि न माधीउ पडु आएसि अरजुनु ऊठइ नरनीउ ए

(327) After this line MS २ ॥छ॥ indicating the number of the second Vastu and the close of the section Jain MSS express the close by ॥छ॥

(330) MS has जाईउ for छाईउ

(335) MS has किरि for किरि

(341) A the end of the line ॥१

(349) MS has only नरनरीउ and not नरनराउए at the end of the line there is ॥२

350 'भति धणु; झनु तन नृप गामि सयनु दहु
दम भणा रन्ति भामु गा धनुष नामइ कामु'
सा धनुषु नामइ कामु कान्ति धरणि भ्रामरि धडहडा
चमह गइ बिगड थाइ ति गगि गयन वि रडरडा
नन्नाय गायर गन गुरगिरि न गु न गि गडसडा
355 गगु गगु मगरण हुउ तिहुयण रान गयन वि धरन्ना
गतइ हूयन जयजयकार गुर पगग गवि हूरमाया ए
धनु धनु रायन नुपन्नाय नाग मगभम वर यरिया ए
धनु धनु रागाय तु तान्ति जगु कृहिहि न उरना ए
पचम गनि रन्न मरनया दन पनगाग जिगा जगि हूया ए
360 पानन गा य गर गुरनागि गुर नग गिर घुणाविया ए
मनायन मन्नायचरन गिरान चरणु थाउ तनु द्रुपनाय
थान न तिहू जगि हूनय नारि नित पद्मा थाइ न हाननि ए
गन म नाय पन मनार सनाय गिरामगि गाई ए ॥
राधारधु गु मरज्ञुगि माधिन मनमातिउ नर नानाय नाथउ
365 जा मन्नि गनि मरजुन मार नागन पाचन गनि समकान
रान युधिष्टिरि मनि नाजाजन तिगि मागि चारणि मुनि बानाजइ
तिगुणन नानाय लयन प्रमाणु पुरयिनइ भवि वियउ नियाणु
भवि पन्निरन नभगि हूला थनुउ नूबु मुगिनर न्ता
नरग गना वनि मा गि हून पाचन पुरिम प नियाणु धर्न
370 गन न काईय करन विनार नपन्रागायपन मनार
गान वना नइ गयगि पहूनउ पनु नराहिंनु हूयउ सयतउ
अरन्नि नाजइ मगन चार जगि गयराचरि जयजयकार
नाउाय कान कुगमन मान नान्हय नाचन भ्रनि भ्रणायान
नानाय नयणु कानरन महजिहि लान्ना मावनन्
375 तु ता मद्राय मानन मन्न धनु धनु पडव द्रुपनि जान
पचइ पडव वइगा चन्ना नरवइ भ्रागानन्नन मउरा

---

(352) काम in MS for कामु

(355) घरडा in MS for घरन्डा

(370) काइयरन in MS for कान्य करउ

(376) At the end of this line there is in MS ठनगि instead of वरु

॥ वस्तु ॥

पच पडव पच पडव देवि परिगेवि
सउ परिवारिहिं मु दलिहिं हस्तिनागपुरि नगरि आनइ
अन्नन्विसि रिपि नारन्ह नारि वज्जि आन्मु पामई
380 समयधम्मु जा लधिमिइ तीरण पुरपि वनवासि
बार वरिस वसिवु अवसि अहनिसि तीरथवासि ॥
सच्च वज्जिहिं सच्च वज्जिहिं अन दीहमि
उल्लविउ गुरुवयणु इ दपुत्तु वनवासि चल्लई
गिरि वेयड्ढह तलि नयऊ पगामिउ नामि मल्हारु
385 निव मणि चूडह राजु दिइ पहिनउ उपकारु ॥
वार वरिसह बार वरिसन चडिउ विमागि
अटठावयपमुह सवि नमीय तित्य जा घरि पहुच्चई
मणिचून्ह मित्तह भयगि राउ गरु परिहरीउ वच्चई
गहीय पभावइ रिउ हणिउ मजिउमारग कूडु
390 धरि पहूत्तउ वेउ मित्त लेउ हेमगडु मणिचूडु ॥

[ठवणि ॥ ६ ॥]

एतल ए रङ्गु नरिन्द जूठिना पाटि प्रतीठिउ ए
बधवि ए विजयु करेवि राय सव वसि आणीया ए
सोवन ए रासि करेवि बधव आगलिउ गिरा ए
मित्तह ए रईय मणिचूड राय रहइ सभा रयणम ए
395 राइहिं ए सति जिणद नवउ प्रासादु करावीउ ए
कचण ए मणिमय थम रयणमइ विंब भरावीया ए
तेडीउ ए देवु मुरारि राउ दुरयोधनु आवीउ ए
इन्द्रीय ए दीजइ दान विवप्रतिष्ठा नीपज ए
वरतीय ए नेसि असारि ऊरिग वीधी मन्नी ए
400 हसिऊ ए सभा मझारि राउ दुरयाधनु पराभवी ए

---

(381) धरिस in MS for वरिस
(383–384) Between these two lines there ought to be one more line rhyming with चल्लई—according to the formation of the Vastu metre

माउन ॥ मणिाउ मनु तानह ग्रग ग्रागनि वीनय ॥
नारिउ ॥ निटुरि तागग नयग न मानइ कृडाउ ॥
ग्रागाय ॥ गमागिगग पडय ।गर गा गउ ॥
कृनि ॥ नटार मात नयनि मान जूरन्त ॥
105 गानिउ ॥ दार कृतिउ निनर नयग न मानाउ ॥
हागाया ॥ नाथिय थार भाप हागाय गाजि गउ ॥
हागिय ॥ दुवन्न धाय उनानिय गनि ग्रामरग ॥
नागीय ॥ तमि धयनि नरि नगागगि दुजगिनि ॥
ग्रागाय ॥ गमापमानि नाय नाधन नम ग्रग ॥
419 ग्रानिन ॥ ग्रानि नगनि दुवनि उनगिन मुभ नगा ॥
नम भगा ॥ नियर गराग्र र [–] हज न वृनि गउ ॥
उयाय ॥ वानया नार ग्रनानर गउ गानाय ॥
नाय ॥ ग्रुर गगर नुगनि दनायनु ताजिन ॥
नउ मगा ॥ पनन पर नयग मनारन पहिनत्र ॥
415 नारन ॥ नगग नगानाग नार नानित्र तरमर्न ॥
ग्रनि निम ॥ जागिग नविउ वानाग्र ज ननवु ॥
नन ॥ नियर नगनाग गग्माय नरनाय दुवनाय

॥ वगन ॥

हैय नैवर नैय नेयर नरर पगिगामु
पिय ।नर पगना दुवन्थाय नन्धिार पन्दाय
120 द्रागा निन्न गगय ग्रना न ि न वानगि नहदाय
ग्रम ग्रागमुर धरनि धगिय नगनइन कन्थारि
हाराज नन जिम नानाइन ग्रायमनर गृनि ॥

[नवगि ॥ ৬ ॥]

ग्रन नैवर नमि ननि पन ॥ पनन वगि चनिय
नगिगनवि जागवि मुननारन निय माय पाय ॥ ॥ ॥
425 पय पगमाय निय नाय न ना मद्रा पय नमाय

---

(401) MS has वानर for नानर

(409–410) ग्रग in the final Anusvara... is omitted at several places in the MS. See also 401 above

(412) MS has वानर for नानर नार

सच्च वयण निरवाहु करिवा कारणि सचरइ ॥ २ ॥
लेई निय हथियार द्रोण नियमहि अरणगमीय
कुतान्वि भरतार नयण नीर नीभर भरइ ए ॥ ३ ॥
सच्चवई पिय माय अबा अबाली अबिका
430 कुती मुद्री जाइ बउनावरा नन्दणह ॥ ४ ॥
पभणइ जूठिलु राउ माइ म अरगइ तुहि करउ
निय घरि पाछा जायउ लाकु सहूयइ राहवउ ॥ ५ ॥
दाणवि कूरि कमीरि पचाली बीहारीयउ
भूकिउ मारीउ बीरू भीमिहिं तु दुरयाधनह ॥ ६ ॥
435 तउ वनि कामुकि जाइ पचहू पडव कुणवि सउ
मनह तणइ उपाइ अरजुनु आणइ रसवती य ॥ ७ ॥
पणमीयतायह पाय पाढउ वालीउ मद्रि सउ
विद्या वुद्धि उपाइ आणीय पहुतउ पीत्रीयउ ॥ ८ ॥
पचाली नउ भाउ पच पचाल नेउ गिउ
440 एतन्न क्षेमवु राउ कुती मिलिवा आवीयउ । ९ ॥
बलु बालीउ बनबधु सुभद्रा लेइ साचरए
हिव पुणु हूउ निवधु कुती थु सरमा सात ज ग ॥ १० ॥
एहु तु पुरातन नामि पराहितु दुर्योधनह
तुम्हि बीनविया स्वामि राय सुयाधनि पय नमीय ॥ ११ ॥
445 मइ मूरखि अजागि अविणउ काधउ तम्हा रहइ
मू माटा मुहकारिणि तुम्ह खमउ अवगहु मुझ ॥ १२ ॥
पाधारिसिउ म रानि वारणवति पुरि रहण करउ
ताय तणइ बहुमानि हु अराधिमु तुम्ह पय ॥ १३ ॥
कूडु करी तिणि विध्रि वारणावति पुरि आणीया ए
450 विसु न कीजइ नत्रि अवसरि नावइ परभवह ॥ १४ ॥
विदुरि पढाविउ लखु दुरयाधनु मन वीमिसउ
एसु पुरोहितवेषु कालु तुम्हारउ जागिजउ ॥ १५ ॥

---

(443) MS reads मामि for नामि

(451) In MS पढाविउ might also be read पढाडिउ (caused to be read) ro पढाविउ which has no s nse

दइ घरि मुक्कइ मत्तु ताम तणउ छइ पवतन्तो
माणि पत्ताण्ड नाम गगगा मवि मण्ण्ड ॥ १६ ॥

455 बाला मडण्णि णाइ तुम्म कण्ण जाण्णड
णउ टुयालनु माइ थाण उ णाण माणिणि" ॥ १७ ॥
भासु भणइ 'सुणि माय णाण्ण वयण वाधनउ
पुत्त पुत्तदगु जाण णरि गुणवनि मण्णइ" ॥ १८ ॥
गणरिणि नगाय गुण्ण विहुणि णिणाय हूर नगद

160 हूं उगाण्ड थण ण्ण ण्णाण 'दवइ ॥ १९ ॥
रवि णाहरि निणि णणि घार पुत्र रवि रण्यमण
पु ॥ नर थाराणि णण्णाण णागमिया ॥ २० ॥
गनि थावइ णाण माणि गुणण्ण गुणवि मउ
णियर पुणाणिनु णाण णावण्णर विगनर णवर ॥ २१ ॥

165 गार्थाण पण्णराग नामि पुणाणिनु मामण्ण
मण्णाण णाथ पायाण णण्ण थाथा पणु मिनाण ॥ २२ ॥
णयाण वण्णतु णाण णमी णाथा माणुमण
जायण पुणरभाण ।ण्ण जाथा णण्णा ॥ २३ ॥

॥ वण्णु ॥

मेनु न गिणइ णनु न गिणइ पुणु नर णानु
70 णनानु मुण्णाण वण्ण पुण्यणान जिम गाय गावद
णाद्वि टुम्मु णण भण्ण तुणा वजित गिरि गिण्ण दाण
जाण मणि निमण्णा पवर पवर नत्रि
रानु ण्दाण्ठा वणि विण्ण धिगु धिगु दुम म ति ॥

[ण्डणि ॥ ८ ॥]

धिगु रि धिगु रि विग णेवविनाग पवर पवर हूर नगवागु
175 णनर नामण्ण परिजनर णनर नामु तु णण्ण मिनाण ॥ १ ॥
गनि मुण्न पण्ना णाट वयण न मण नगि पुनाण
न जाणना जागण विमर कण मनण नण माण्ण निमर ॥ २ ॥

(471) टुम्मु has its म्मु not written in the MS म्मु is supplied as it suits the context aptly

(472) MS has नण for नाण

सासू वहूय न घालइ पाउ ऊभउ न रहइ झूठिलु राउ
माडी बोलइ "साभलि भीम वेती मुइ वयरी नी सीम ॥ ३ ॥
480 इणि वयरी ना परिभव सह्या लहूया नदण पाछलि रह्या
हू पापी मनु पापी वहू दिणु ऊगिउ तऊ मरिसइ सहू" ॥ ४ ॥
वासइ बाधा बधव बउ माडी महिली खधि करेउ
तरयर मोडतु चालिउ भीमु देव तणु बलु दलीइ ईम ॥ ५ ॥
एक बाह साहिउ राउ बीजी साहिउ लहुडउ भाउ
485 जा महिमडलि ऊगिउ सूर ता वणि पहुतउ पडव वीर ॥ ६ ॥
सहू पराधु निद्रा करीइ पाणी कारणि वगि वणि फिरइ
भीमु जाम लेउ आवइ नीर पाछलि जोअइ साहसधीर ॥ ७ ॥
एक असभम देखइ बाल पहिलु दीठी अति विकराल
बोलइ राख्वसि 'साभलि सामि हुं जि हिडबा कहीउ नामि ॥ ८ ॥
490 राख्वस हिडब तणी हू धूय तइ दीठइ मयणातुर हूय
वइठउ ताउ अछइ नीय ठाणि वाइ आवी माणुसहाणि ॥ ९ ॥
मुझ रहि आइसु दीधु इसु काई आन्यु छइ माणसु
खाधि करी लेउ वहिली आवि उपवासी मइ पारणु कराविं ॥ १० ॥
कर जोडी हु पणमउ पाय मइ तुम्हि परणउ पाडवराय
495 तुम्ह उपकार करिसु हुं घणा दूख दलिसु वणवासह तणा' ॥ ११ ॥
'उभी उभी इसु म बोलिइ पडव बीजा मगूअ म तालि
जग उद्धसिवा घर अवतरइ रूठा जगनु जीवीउ हरइ ॥ १२ ॥
ए माडी ए अम्ह घर नारि ए अम्ह बधव सूता च्यारि
ईह तणे तू चलणे लागि भगति करी मनवछितु मागि ॥ १३ ॥
500 एतइ राख्वसु रासि जलतु आवइ फुट फेकार करतु
वेगी झूसट मारइ जाम पीमु भिडेवा ऊठिउ ताम ॥ १४ ॥
'रे राख्वस मुझ आगलि बाल मारिसि तउ तू पूगउ कालु
रख उपाडी वई विन्हइ तरु रिसि वाजइ डूगर रडइ ॥ १५ ॥

(488) MS has वन for बाल
(495) MS has दूप instead of दूप-दूख
(500) The MS has रेसि for रोसि
(501) In MS झूसट–a light word–reads like तूसठ

धनगनिहाइ जागिउ गहू पगुमी बागइ हिइवा वहू
505 "माइ माइ उगान्ड राउ न स्टउ ग्रम्हारउ ताउ ॥ १६ ॥
इणि मारीगर मुन्द भिडु बीजउ काई थाउ तुरतु"
इमु गुणी नर धायउ प गु कुभइ भीम मिनिउ महगंडु ॥ १७ ॥
पन्डिउ भामु ग्रागागिउ राइ गन्ग नेउ थनि माम्हउ थाइ
ग्ररजुनु जा मूभना जाइ रागगु भामि रगानिन टाइ ॥ १८ ॥

॥ वस्तु ॥

510 ग्रन निवना ग्रन निवा गलि धनोइ
कु ना ग्रनु द्रौपदी ग्र नधि नरान मागगि धनाइ
कु नी जन मिगू नृपार नजि निन्न जमु नेन थावइ
ए निग धग जामती भानाग नथानि
आई जाई उगता नइन वणि विनराति ॥ १९ ॥

[ठवणि ॥ ६ ॥]

515 नान मान गज द्वं टि पइन गनाय मयरि त नवि ग्रामिन्ड
राति पन्ति पन्य रन्न वनि नणि मू र्गी भूमि पन्ड ॥ २० ॥
नालनि मार्ग गान्नि रानु ग्रागा नू पनि नारू मानु
भीमगन गनि गन्नी मान गुगावि मिनी परिगारी वान ॥ २१ ॥
भाजनु ग्रागान मारगि वन्न नन्न भगनि गम्मी नगन गन्ड
520 नरउ ग्रवागु नगा नन रगइ पवन पन्न मरगा ममन ॥ २२ ॥
गन चक्रागि नन गया नगामबमग घरि रया
नीन्न थानन बमगानि जिग नानगाइ नीग नमि ॥ २३ ॥

---

(505) The MS has no ग्रम्हारउ
(514) At the end of the line the scribe not only does not conclude the ठवणि but also continues, the verse enumeration the same as it is
(515) The MS not only does not note the end of the previous ठवणि but also keeps on the enumeration We have separated the thavani but kept the stanza-enumeration as found in the MS

राइ बोलावी बहू हिडब "अम्हि वसीसइ वेस विडबि
तुम्हि सिधावउ तायह राजि समरी आवे अम्हह काजि ॥ २४ ॥
525 करि रखवालु थापणि तणु अजीउ फिरेवु अम्हि वनि घणु"
नमी हिडबा पाछी जाइ बापराजि धणियाणी थाइ ॥ २५ ॥
अन दिवसि बभणु सकुटब रल जिम विलवइ पाडइ वु ब
पूछइ भीमु करी एकतु "आविउ दूखु किसु अचितु ॥ २६ ॥
बडुया साभलि" बाभणु भणइ "ए विवहारू नयरि अम्ह तणी
530 विद्यासिद्धी राखसु हूउ बक नामि छइ जम नउ दूउ ॥ २७ ॥
विद्या जोवा तीणा पलासि पहिलु सिना रची आकासि
राजा भाडी अवग्रहु लीउ "पइदिणि नरू एकेकउ दीउ ॥ २८ ॥
चीठी काढइ निनू कू यारि आवइ वारउ जण विवहारि
आजु अम्हारइ आविउ दूउ आजु न छूटउ हु अणमूउ ॥ २९ ॥
535 केवलि वयणु जु कूडउ थाइ जउ नवि आ या पडवराय"
पूछीउ भीमि कथा प्रवधु वणि जाई बग राखसु रुद्धु ॥ ३० ॥

॥ वस्तु ॥

बगु विणासी बगु विणासी भीमु आवेइ
वद्धावइ जणु मयलु 'जीवन्तु तइ देव दिद्धउ
केवलिवयणु जु सच्चु किउ अिहु भुयणि जमवाउ लिद्धउ"
540 पचइ पडवटा वसइ तीछे बभणवेसि
वान गइ जण जण मिली दुरयोधा नइ दसि ॥ ३१ ॥
राति माहे राति माहे हुई प्रच्छन
तउ जाइ द्वैतवगि रमइ वामि उडवा करी नइ
पुष्प प्रियवटु पाठविउ विदुरि वान बक नी सुणी नइ
545 पय पणमी मा वीनवइ दुरयाधनु नु मत्रु
'तुम्ह पामि ए आविसिइ करणु दुरयाधन मत्र ॥ ३२ ॥
ईम निसुणीउ ईम निसुणीउ भणइ पचाति
"वणि रहता अम्ह रहइ अजीय मत्र सिउ सिउ करसिइ

---

(540) The scribe has missed वसइ in the MS - some such word वसइ or रहइ is metrically necessary. The sense too needs it वसई is therfore

राजिसिद्धि अम्हह तणी लइय जेण ह्वि सिउ हूरैगिइ
550 पचानी मनि परिभवी बात्तइ मल्ही लाज
पाचइजण कइ हूगिइ तुम्हि रिमाइ काज ॥ ३३ ॥

माइ हूई माइ हूइ काइ नवि वभि
अन्न जाया नवि मूया तुम्ह राजु काई वबि न्हिउ
पुत्रगत नारी अदइ ताह माहि तुम्हि अजमु लिद्धउ
555 बमि धरानइ ताणाउ दु मामगि दुरचारि
बाताचगि हु नवि मूई काइ तुम्ह नारि" ॥ ३४ ॥

रायु नामाउ रायु नामाउ भामि अनु परिय
राउ भणइ ता नमन मुभ वयणु जा अरधि पुज्जई
पचानी रामर्वास अनमि अ ति अम्ह कानु सिन्भई
560 गच्च वयणु मनि परिरउ मानउ जिणधर्ममूलु
सत्यवयणि रुनु पामाइ भवसायर परकूलु" ॥ ३५ ॥

रयवयणि दूअवयणि राउ जूरिनु
गिरि गधमायण गिया रत्नानु तमु मिहर निरठऊ
मुवनामी अरजुनु नन्द नमीउ तिणु तमु मिहरि वइरठऊ
565 विद्या सवि मिलिनि गइ जा पभइ वणराइ
आहुडी आरानाउ ता पहु मूअस भाइ ॥ ३६ ॥

(ठवणि ॥ १० ॥)

मूयर त्वा मनिउ बाणु अरजुन मिउ कुणु करइ संधाणु
तिणि खिणि मनिउ वणचरि बाणु उडिउ गयणि हूउ अप्रमाणु ॥ ३७ ॥

अरजुन वनचर नागउ वादु करउ भूकु उतारउ नादु
570 एकमर बारगि भूझइ बउ करइ पराशा ईसर देउ ॥ ३८ ॥

सूरा अर्जुन सवि हथायार मानमूक बउ करइ अपार

---

(559) The MS has मिमर्इ for मिभर्इ

(561) The first letter of the word रुनु is moth-eaten It might be but one cannot be certain

(567) The MS continues the enumeration without separating a thavani I have separated the thev ani and preserved the enumeration

साहिउ अर्जुनि वनचरु पागि प्रकटु हूई बोलइ "वरु मागि" ॥ ३६ ॥
अर्जुनु बोलइ "वर भडारि पाछइ आवइ लउ उपगारि"
खवरु बोलइ साभलि 'सामि गिरि वेयडढु सुरणीइ नामि ॥ ४० ॥
575 इन्द्र मघइ रहनू पुरराउ विज्जमालि त लहुडउ भाउ
षपलु मणा नइ काढिउ राइ रोसि चडिउ राखसपुरि जाइ ॥ ४१ ॥
इ द्रवयणु इकु तुम्हि साभलउ करीउ पसाउ नइ दाणव दल
हरखिउ अरजुनु जा रथि चडिउ दाणवघरि कु वाखु पडिउ ॥ ४२ ॥
असुर विणासी किउ उपगारु इ द्रि लोकि हूउ जयजयकारु
580 इ द्र तणु ए कीधु काजु असुर विणासी लाधउ राजु ॥ ४३ ॥
कवच मउड अनइ हथीयार इ द्रि आप्या तिहूयणि सार
धनुषवेदु चित्रगदि दीउ पुत्र भणी इ द्रि परठाउ ॥ ४४ ॥
पाछउ आवइ चडीउ विमाणि माडी बधव पणमइ रानि
एतइ कमलु अगासह पडीउ वडठी द्रुपदि करयलि चडिउ ॥ ४५ ॥
585 सवा कमल ना इच्छा करइ भीमसनु तउ वनि वनि फिरइ
असउण देखा बोलइ राउ भीम पासि वछदिइ जाउ ॥ ४६ ॥
माग न जाणइ खोजिउ सहू समरो राइ हिम्बा वहू
कुणवु ऊपाडी मेलिउ भीम जाणे दूखह आवा सीम ॥ ४७ ॥
मुखु देखी सवि घडुया तणु पडव कू यरु लडावइ घणु
590 जाम हिडवा पाछी गई वात अपूरव ता इरुहुई ॥ ४८ ॥
द्रुपदि वयणि सरोवर माहि पइठउ भामु भनेरइ ठाइ
भामु न दीसइ वनतउ विमइ तउ अपावइ अरजुन तिमइ ॥ ४६ ॥
कैडइ नकुलु अनइ सहदेउ पाणी वून्ना तेई वउ
माइ मोकलावी पइठउ राउ सविहू हूउ एकु कु ठाउ ॥ ५० ॥
595 काइ रोउ न लहइ रानि द्रुपदि कुती रही क ध्यानि
मनह माहि समरइ नवकार एहु मत्रु अम्ह करिसि सार ॥ ५१ ॥
बीजा दिवमह दिणयर उदइ ध्यान प्रभावि आव्या सइ

---

(575) भाउ is not in the MS
(589) The MS has कु to which some reader has added मु thus making up मुखु
(592) The MS has वनउ metrically it ought to be वनतउ

अग्गइ सावयावाकज हाथि एतु पुस्तु आविउ छइ गाथि ॥ ५२ ॥
भाइ नमा मनि हरिगु धरिउ पुस्त पासि बहाबइ वरीउ
600 एक मुनि पामइ बवनन्तनु गयणि पहूचइ इन्द्र विमानु ॥ ५३ ॥
तुम्ह उपरि खनहिउ जाम जाणा गुरवइ वानउ ताम
इ पाम्विउ बगि परिहार तन्त्र पयानिवाउ उपगाह ॥ ५४ ॥
गताय वउ छइ कारणि रनी इन्द्रह आन्मु तु अम्ह वहा
मन्त्र पढन वढर वद्धनि निगु हथियारह बाधा भेनि ॥ ५५ ॥

॥ वस्तु ॥

605 नागरागह वध नागपामर बध छोटिनि
नहारमि पन्नर नागराइ निजराजु दिद्धउ
हार गमापार नरवरर गनाय रमि अनु वमनु निढउ
अरजुन गगनि मूभना गपदूर मानिद्ध
मागाउ आवा तुम्ह पय पंमर निया मिद्ध ' ॥ ५६ ॥
610 वरमि छन्नर नरमि छन्नर हैतवणि जार
दुजानण घर घरणि मामि मित्त रहताप मगाइ
धम्मपुत्त वयणाणु पुण इन्नपुत्तु निगि मणि लगार
दुरयाधन चित्रगन्न मल्लाया उनि पतिय
विजाम्नरराय नमर दुरयाधनु नउ गतिय ॥ ५७ ॥

(ठवणि ॥ ११ ॥)

515 लोर उपानि घानिर पार पूछिर कुसलु युधिष्ठिर राइ
भगुर दुरयाधनु अतिघ गुआया तुम्ह पाय जउ मइ पणमाया ॥ ५८ ॥
घर उपरि दुरयाधनु चनइ एतर जयद्रथ पाडर वनर
निउ आउ कृता रहिर मार अरजुनि आणी मंत्र रगाइ ॥ ५९ ॥
नाचन वंची कृन करन घानिउ पाना द्रूपदि लउ
620 अर्जुनु भामु मिढया अह वन कन्तु विगुत्तामिउ द्रूपदि लउ ॥ ६० ॥
पाच पार मद्दिउ ( ) भामि मिढा उपाम्ग रास

---

(599) MS धरे for धरि
(606) The line is metrically defective
(621) This line is very corrupt Metrically it seems ❀

नवि मारिउ छइ माडी वयणि जिम नवि दीसइ राडी मयणि ॥ ६१ ॥
एतइ नारदु रिषि आवऊ दुर्योधन सु मन्नु करेउ
न।र माहि वज्जाविउ पडहू वालिउ दूजणु इम पडवडहू ॥ ६२ ॥
625 "पचह पडव करइ विणासु तह तणी हु पुरु आस"
पूज्ञु पुरोहित नउ इम भणइ 'कृत्या नउ वरु छइ अम्ह तणइ ॥ ६३ ॥
कृत्या पासि करावु कामु वयरी नु हु फडउ ठामु"
कृत्या आवा घाई 'सकल वइ माए वइ वरु विकल ॥ ६४ ॥
नारदु पहुतउ सिख्या देवि पडव बइठा ध्यानु धरेवि
630 एक पाइ निगवर द्रेठि हीयडइ मन्नु पच परमेठि ॥ ६५ ॥
निवम सात जा इण परि जाइ ता अच्चभू को रणवाइ
एतइ आविउ कटकु अपारु पडव घाया लई हथीयार ॥ ६६ ॥
घाइइ धानी द्रूपदि देवि साटे मारइ कटकु मिलेवि
अरजुनि जामु दलु निरन्तु राय तणु ता सूकउ गलु ॥ ६७ ॥
635 कृत्रिम सरवरि पाणी पोइ पाचइ पुहवा तनि मू छीयइ
सरवर पानि द्रूपदि मिना एकि पुलिन्दइ आणी वनी ॥ ६८ ॥
कृत्या रालमि तणाय जि सही भीलि बाली ऊभी रही
मणि माला नु पाया नाम पाचइ हुया प्रवटसरीर ॥ ६९ ॥

॥ वस्तु ॥

पच पडव पच पडव चिंति चिंतति
640 कुणु नरवइ आणीऊ कुणि तलावि जिमनीरु निम्मिउ
कुणि द्रूपदि अपहरीय कुणि पुलिन्दि, इम चिंति विम्हिउ
अमरु एकु पयडउ हुय बोलइ 'साभलि णाह
ए माया सवि मइ करी कृत्या रावबाह ॥ ७० ॥
एतइ भाजनवेला हुई द्रूपदि देवि करइ रसवई

※ two letters or 3 Matras rhyming with रीम seem wanting Again the MS has नवि मरि repeated defore नवि मारिउ of line 622, obviously the scribe s mistake

(631) Two lette s मूव and मूकउ are moth eaten and hence conjuctural

(644) MS has सवई instead of रसवई

645 मासगमणपारणइ मुणिन्द वेला पहुतउ बारि नरिन्द ॥ ७१ ॥
पचइ पंडव पय पणमति अतिथिन्नागु त मुनिवर न्ति
बाजा दुंदुहि अनु दुडदुडी अवर हूती बाचा पडा ॥ ७१ ॥
मत्स्यन्सि जाई नइ रमउ ए तरमउ वरमु नागमउ
या वइराग्ह राय असथानि वस विडव्या नाम अभिमानि ॥ ७३ ॥
650 वव भट्टु वल्लवु सूआर अरजुनु हूउ कावावाह
चउथउ नकुलु अमधउ थाइ सहन्द वारइ नरवइ गाइ ॥ ७४ ॥
प्रथम पवान्न कीचक मरइ बाजइ दक्षिणगाग्रहु करइ
आनउ उत्तरगाग्रहु हून पडिनि वरमु न्म परि गमिउ ॥ ७५ ॥
अभिमनु उत्तरह परि नरिन्द आवा कृष्णि बाराहु मु वरिउ
655 पहुतउ सहूइ ब्रह्मपुरि च्यारि वरस चिहु पडव वरा ॥ ७६ ॥

॥ वस्तु ॥

दुयमाविं दूयमावि गयउ गावालु
दुजाहण वयणु सुणि एव बारमहं भणिउ किज्जइ
निय अवधि आवाया पडवाह बहु मानु न्जिजई
इंद्रपत्थु तिलपत्थु पुरु वारगु विसा च्यारि
660 हस्तिनागपुर पाचमु आगउ मत्सर वारि ॥ ७७ ॥
भणइ कुरवु भणइ कुरवु 'न्व गाविन्न
मन्ह महीयलि वगि फिरिया ण्ह मनु पडव न मानइ
मुझ नही भूयबलि एक चाम हिव ए न पामइ
इसर महिलापच जणं तीह मिलिउ तु पविख
665 ए उग्रहाणउ सच्चु किउ कूडउ कूडा सविख ॥ ७८ ॥
कन्हु बालइ कन्हु बालइ 'भीमवलु जान
विसखप्पर कीचका बकु हिडुबु कमार मारिउ
नन्ह बधवि अर्जुनि दुनि वार तुह जाउ उगारिउ
विदुरि कृपाग्गुरि द्राणि मइ जउ न मिनइ ए राय

---

(656) The enumeration of these वस्तु st is begun afresh in the MS naming st 77 as st 1 While the st 81 is then marked as st 82 and the last st 82 as st 83

670 तउ जाणु नियकुल नु हिव कउरव नु घइ जाइ" ॥ ७९ ॥
पहु पुच्छीउ पहु पुच्छीउ विदुरि घरि कन्हु
रोसारणु चल्लीयउ मग्गि मिनाउ सहूइ नावइ
"दुरयोधनु दुटठमणु किम इव दव अम्ह सलि न आवइ
हिव एकु अम्ह मानु दियउ बिहु पखउ तु छडि
675 कउरववस विणासिवा काइ कूडु म माडि" ॥ ८० ॥
मानु न्हिउ मानु दिन्हउ कन्ह गनेष
एकतु वरि अखीउ कन गुरु कुन्ती पयासीउ
"इह सतिय काइ तु मिनिउ जाइ जाइ तु मनि विमासीउ'
करणु भणइ 'सच्चु कहउ पुणु छह एकु वि नाणु
680 दुरयोधन रहि आपणा भइ वल्ला छइ प्राण" ॥ ८१ ॥
भणइ कन्हडु भणइ कन्हडु "कन जाणेजि
नवि मानिउ तुम्हि हु एह वात अति हुई विरूई
अम मुझ घरि अविया पडुपुत्र इह वात गरुई
दुरयोधनि हु पडवह छन्डउ कीधउ तोइ
685 रणु खेडिसु अरजुन तणउ ज भावइ त हाउ" ॥ ८२ ॥
(ठवणि ॥ १३ ॥)
अतु लेउ विदुरु गयउ वन माहि कन्ह वली द्वारावती जाइ
बिहु पखि चालन्ह दल सामही बिहु पखि आवइ भड गहगही ॥ ८३ ॥
जरासिध नउ आविउ दूउ कानकुमर जई लग्गइ मूउ
वणिजारा ना वात माभता जरासिधु आवइ तुम्ह भणी ॥ ८४ ॥
690 उत्सव माहे उत्सवु एहु सविहु वयरा आया छहु

(670) The MS has निकुलनु for नियकुनु
(685) MS gives up its enumeration of ठवणि from the VIII If it had kept it up, following its practice upto that point, it is probably that it would have placed the end of ठवणि IX at st 22, of the X at st 36, the XI at st 57, of the XII at st 70 and at st 82 of the XIII This is one of the many points which another MS of the रास if found, will help to clear up

धमरा ना पणमाय पाव एनइ गा नु मु परि न्त जाइ ॥ ८५ ॥
'फरगु स्हइ न्डि ग्रुमानणा व इमा वान निणि जानइ भणी
पाघि पचाने नि मनाटु ग्रानिन नहृउ वृ वन्न ग्रमाटु ॥ ८६ ॥
इ न्चटु ग्रनु चन्नाघटु चिश्रगटु ग्रमन्न मणिचूटु
695 ग्राविउ उत्तम ग्रनु वन्राम मिनिन्न वाग पहन नउ घाटु ॥ ८७ ॥
धूप्रधमनु मनानी काउ बानन्न वन्न्हन्न सामह्मड
पनिग्र भूमि मरमनि नन्न ध्रानि दनु ग्रानन्न निणि कुन्नवग्नि ॥ ८८ ॥
वउरव नइ नि गुम मगउ कृनु टुग्याधनु गानु मिनेऊ
गनुनि टुमामणु नयन्नु पुत्रु गम्हउ भूरिश्रवा भगन्नु ॥ ८९ ॥
700 मिनाऊ जरामिनु नान्नवन्नरि मन्न नगउ णम हून्न मद्दरि
टुरयाननु ग्रनि मन्मरि चनाउ जार्न जरामिघ पाण पर्नीउ ॥ ९० ॥
मुभ रन्न पहिनउ न्डि ग्रन्नानु 'डव नान्न न्नउ निम मालु
न्न मनाना गगन्न ग्रन्न विन्ना नुन्पिा न्न वउ ॥ ९१ ॥
न्न मिनाया वनगनाय मुन्न गयवर गनगनाया
705 घर ग्रमनाय मनवनाय मम मगिन्निन टनन्नाया ।
रगनगाया मन्नि मन्न नूर ग्रवन्न ग्रानवान्न
हय गयवर ग्वुरि मगाय रगू उन्ना जणुनपाउ ।
पहन्न वघ चनवनन्न चिन माणिणि गुणु माघइ
गन्न वरि गइ वन्न तुरणि नुरगु गाउन रग न घन्न ।
710 भिन्इ मन्न रहवडन्न माम घन्न नइ जिम नच्चइ
न्मइ घुमन्न उग्ममन्न वार मगन जिम मच्चन्न ।
गयघडगुड गडमन्न धार घयवइ नर पान्न
इममनना मामत मग्गु मरमनि न्निान्न ।
मऊ मउ रानन्न न्निमि न्निमि गगउ विणामन्न
715 तउ ग्राग्मन्न न्निमि वन्नु मन मानि विमानइ ।
मन्नाउ गन्निनि मवनि वृ ग्रन्न उना रगू पानाऊ

---

703) This stanza is numbered 92 in the MS and there is ॥९२॥ showing the loss of the metre The new metre begins thereafter and stanza-enumeration ceases

ताम सिखडीय तणीय बुद्धि तऊ काहि ग्विाडीऊ।
अरजुनु पूठि सिखडीयाह बइसी सर मकइ
पडीऊ पीयामहु समर माहि किम अरजुनु चूकइ।
720 त्रिगवा सरू रहावीयऊ सरि गगा माणी
कऊतिग्र दाखीऊ कऊरनाह पीऊ पायु पाणी।
इग्यारमइ ग्विसि दाणि ऊठवणा काजइ
माडु अपडवु कइ अदाणू इम मनि चीतीजइ।
काहल कलयल ढक्क बूक अथक नीसाणा
725 तऊ मल्हाऊ भगन्ति राइ गजु कराऊ सढाणा।
चूरइ रहवइ नरकरोडि दतूसलि डारइ
अरजुन पाखइ पडवटु हणतु कुणु वारइ।
दाणव दलि जिम दडवडतु दती देखी नइ
धायऊ अरजुनु धसमसंनू वयरी मूकी नइ।
730 दिणि आथमतइ हणिऊ हाथि हरि पडव हरखीया
ग्विणि तेरमइ चक्रव्यूहु गऊ कऊरवि माडीय।
अजुनु गिऊ वनि भूझिवा तिणि अभिवनु पइसइ
मारीऊ जयन्थि करीऊ भूमु तऊ अरजुनु रूसइ।
करीऊ प्रतिना चडीऊ भूमि जयन्थु रणि पाडइ
735 भूरिश्रवा नऊ तीण समइ सरि बाहु विडारइ।
सत्यकु छेदिऊ बलिहि सीसू तसु दिणि चऊदमइ
रोतिहि भूझइ विसम भूझि गुरू पडइ कीमइ।
कूडऊ बोलइ धरमपूतू हथीयार छडावइ
छेग्दिउ मस्तकु धृष्टद्युमनि क्रमु सिउ न करावइ।
740 बार पहर तऊ चडाऊ रामि गुरनन्गु झूझइ
रणि पाडिऊ भगदत्तु राऊ कऊरव दल मभइ।
करि करवालु जु करीऊ करणू समहरि रणू माडइ
फारक पायक तूरग नाग नवि कोई छडइ।
धूलि मिलीय भलमलीय सयल ग्विसि ग्विायरु छाईऊ
745 गयणे दुदुहि दमद्रमीय सूरवरिजसु गाईऊ।

(724) The MS has ढक instead of ढक्क

पाइइ चिच वदध वध घरमर्टीन रोनइ
वाणि विनाणि विजगि वंवि ग्ररायग्ग धधानइ ।
कुहु करोज गाविनि नरि रणु धरगणि बनऊ
माराऊ ग्ररजुनि करणू कृहि रणि ग्रणमूमनऊ ।

750 नपु गाइनि वऊ हणाय वगि नकूनि सहनवि
सरवरमाहि वनायाघउ दुरयाधनु देवि ।
राइ मनाइ ममायायउ भीमिहि मू भिडऊ
गन्गहारि नगाय जाव मनि मातु मू फडिऊ ।
नठउ राम मनानिगा जा पहत जाइ

755 इपु कृतवर्म ग्रामगामता निन्दर धाइ ।
पाटगानि पार्था वरण कूह नाधउ रतिनउ
निहगाय पन पचान वार श्रनु रावमि जाऊ ।
भीमू गिवडा तगऊ नामु छनाज दनु मायाऊ
पाप परामन नर प्रवमि गनिमाणु विराधीऊ ।

760 वन्हटि वाधीऊ मूयण नाइ मह माणु निवागाउ
पन्नु मून्नाय नयरि परायणि परिवाराय ।

॥ वस्तु ॥

नानु निन्ज नानु निन्ज वाह उत्तर्णमि
तहि ग्ररजुणि मिनिज ग्राणिगाय सह ग्रंग उन्डाय
वह इस्नु मणि चिनवाय नम्मन धग्ग नयणि वुन्नीय

765 वन्हन सूरज पराठवीर कृणवि निवारा रामु
हथिणान्रपुरि ग्रावीया ग्रनि ग्राणन्दि नाइ ॥

---

(746) वन after ववध is not in the MS the addition is conjectural

(764) स्नु in इस्नु is moth-eaten, hence it is conjectural

(765) The MS has पराजवाउ for परोन्वान

(766) The MS has उवणि and not the number written in it

(ठवणि ॥ १४ ॥)

यापीऊ पडव राजि क्हइ ए उत्सवु अति करए
कूणविहि ण्वि गधारि धयरहू ए राऊ मनावीऊ ए ।
हरीयग्ग दूर्पाि दवि इकू दिणू ए नारद परिभवि ए
770 वेह रहइ क्हु जाएवि सुद्रह ए माहिं वाद्डी ए ।
श्राणीय धानुकी पडि देवीय ए अरि वसि चानीया ए
पहुतना पासि गगेय जय तणी ए साभनइ वानडी ए ।
ऊपनु केवलनाणु सामीय ए नमि जिणेसरह ए
साभनी मामि वखाणु निरता ए सावयव्रतु धरइ ए ।
775 वरतीय दसि अमारि नामिक ए आईऊ जिणू नमइ ए
दिणि दिणि न्हीजइ दाव पूजीय ए जिण भूयण ऊपनऊ ए ।
ऊपनऊ भवह् वइरागु बेग्ऊ ए पीरीयखि पाटि प्रतीठिऊ ए
सामीय गणहर पासि पाचह ए हरिखिहि अनू लिइ ए ।
साभली बलिभवि वात नियमवू ए पूठए पूछइ प्रभु क्हइ ए
780 बोलइ गुरु धर्मघापु 'पुवभवि ए पाच ए कूणबीय ए ।
वसइ ति अचलह गामि बधव ए पाच ए भाविया ए
सूरदेऊ सतुन देवु सुमतिऊ ए सुभद्र सूचामु ए ।
सुगुरु यणाधर पासि हरिखिहि ए पाच ए व्रतु धरए
कणगावलि तपु एकु बीजऊ ए करइ रयणावली ए ।
785 मुकतावलि तपु साम्ह चऊथऊ ए सिहनिक्कीलिऊ ए
पाचमु आविनवधमानु तपु तपी ए अणूतरि मवि गिया ए
चवीयत्ना तुम्हि हूआ पचइ ए भवि ए सिवपुरि पामिसऊ ए
साभली नेमिनिरवाणु चारग ए सवणह सूणि वैयगि
सेत्रुजि तीथि चडेवि पाचह ए पाडव सिद्धि गिया ए
790 पडव तणऊ चरीतू जा पढए जो गुणइ सभलए

---

(772) The MS has पमि for पासि obviously an error, the metrical final ए dropped in this line and also in lines 775, 776

(777) The MS has वाटउ for बेग्ऊ

(779) The MS has पुठ्ए for पूठए

पाप तणउ विण तगुागु रहइ ए हेना होइसि ए
नीपनऊ नयरि नान्ऊनि चच्छरी ए चउन्न्होत्तर ए
तदुननेपानीयसूत्र मामिना ए भव ग्रम्हि उधर्या ए
पुनिमपक्ष्मुणिन मालिभद ए सूरिहिं नामीऊ ए
देवचन्द्रउपराधि पढन ए रासु रमाउतु ए ॥

॥ इति पचपंन्वचरित्रराम । समाप्त ॥ छ ॥ १ ॥ ❀

---

(791) The MS has पार in thaplace of पार

❀ (ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, से प्रकाशित 'गूर्जर रासावली' से साभार)

गौतम रास [1]

१५वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे पचपाण्डव चरित रासु के पश्चात् काव्य सौष्ठव तथा कथा प्रवाह की दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति गौतम रास है। भाषा भाव तथा काव्य इन तीनो रूपो मे यह कृति अपने मे पूर्ण है। ६०० वर्ष की प्राचीन रचना होने पर भी कृति का पाठ इतना अधिक लोकप्रिय है कि आज भी मारवाडी जैन श्रावक (खरतर गच्छीय) इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं। रास कई बार प्रकाशित हो चुका है। सर्व प्रथम श्री नाथूराम प्रेमी [2] और पश्चात् श्री कामताप्रसाद जैन [3] ने इस कृति के महत्व पर प्रकाश डाला। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी अपने आलोचनात्मक इतिहास मे इसका उल्लेख किया था। [4] इन विद्वानो ने [5] 'उदयवन्त मुनि इम भणे और कही विजयभद्र मुनि इम भणे पाठ मिलने मे रचयिता का नाम ही उदयवन्त या विजयभद्र रख दिया पर वास्तव मे ऐसा नही है। स्वर्गीय देसाई मोहनलाल [6] तथा श्री अगरचन्द नाहटा ने [7] इस भ्रम का परिहार कर दिया है। रास की स० १४३० की सबसे प्राचीन प्रति बीकानेर बडे ज्ञान भण्डार मे सुरक्षित है जिसकी पुष्पिका मे —इति श्री गौतम स्वामी रास श्री स्तम्भ तीर्थ विहारे श्री विनय प्रभोपाध्याये कृत पाठ मिलता है। अत यह बहुत सम्भव है कि रास

१–साहित्य बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् श्री अगरचन्द नाहटा का लेख 'गौतम रास व उसके रचयिता पृष्ठ २-६।

२–हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास श्री नाथूराम प्रेमी पृष्ठ ३२। ३–वही।

४–हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डॉ० रामकुमार वर्मा, द्वि० स० पृष्ठ १३५–१४२।

५–जैन सिद्धान्त भास्कर भाग २० किरण २ मे प्रकाशित–अपभ्रंश साहित्य पर प्रो० रामकुमार जैन का लेख।

६–जैन गुर्जर कवियो श्री मोहनलाल देसाई भाग १ पृष्ठ १५।

७–साहित्य बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, गौतमरास, श्री अगरचन्द नाहटा का लेख।

पाप तणउ विणु तमुाणु रहइ ॥ हेला होइसि ए
नीपनउ नयरि नान्डनि वच्छरी ए चउन्न्हाणर ए
तद्गुनवानीषमूत्र मामिना ए भव भ्रम्हि उधर्या ए
पुनिमपक्षमुणिन्द गानिमन ए सूरिहि मांमीउ ए
त्वचन्द्रउपराधि पदर ए रासु रमाउतु ए ॥

॥ इति पंचपंडवचरित्ररास । समाप्त ॥ छ ॥ १ ॥ *

---

(791) The MS has पार in thaplace of पाप

* (ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, से प्रकाशित 'गूर्जर रासावली' से साभार)

गौतम रास [1]

१५वा शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे पचपाण्डव चरित रासु के पश्चात् काव्य सौष्ठव तथा कथा प्रवाह की दृष्टि से एव अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति गौतम राम है। भाषा, भाव, तथा काव्य इन तीना रूपा मे यह कृति अपने मे पूर्ण है। ६०० वर्ष की प्राचीन रचना होने पर भी कृति का पाठ इतना अधिक लोकप्रिय है कि आज भी मारवाडी जैन श्रावक (खरतर गच्छीय) इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं। राम कई बार प्रकाशित हो चुका है। सब प्रथम श्री नाथूराम प्रमी [2] और पश्चात् श्री कामताप्रसाद जैन [3] ने इस कृति के महत्व पर प्रकाश डाला। डा० रामकुमार वर्मा ने भी अपने आलोचनात्मक इतिहास म इसका उल्लेख किया था। [4] इन विद्वाना ने [5] 'उदयवत मुनि इम भणे और कही विजयभद्र मुनि इम भणे पाठ मिलन मे रचयिता का नाम ही उदयवत या विजयभद्र रख दिया पर वास्तव मे एसा नही है। स्वर्गीय देसाई मोहनलाल [6] तथा श्री अगरचन्द नाहटा ने [7] इस भ्रम का परिहार कर दिया है। राम की स० १४३० की सबस प्राचीन प्रति बीकानेर बडे ज्ञान भण्डार मे सुरक्षित है जिसकी पुष्पिका म —इति श्री गौतम स्वामी रास श्री स्तम्भ तीर्थ विहारे श्री विनय प्रभोपाध्याये कृत, पाठ मिलता है। अत यह बहुत सम्भव है कि राम

१–साहित्य बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, श्री अगरचन्द नाहटा का लेख 'गौतम रास' व उसके रचयिता पृष्ठ २-६।

२–हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास श्री नाथूराम प्रमी, पृष्ठ ३२। ३–वही।

४–हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डा० रामकुमार वर्मा, द्वि० स० पृष्ठ १३५–१४२।

५–जैन सिद्धात भास्कर भाग २०, किरण २ म प्रकाशित–अपभ्रश साहित्य पर प्रो० रामकुमार जैन का लेख।

६–जन गुजर कविया श्री मोहनलाल दसाई भाग १ पृष्ठ १५।

७–साहित्य बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, गौतमरास, श्री अगरचद नाहटा का लेख।

की रचना सं० १४१२ मे गौतम स्वामी के केवल्य ज्ञान प्राप्ति दिवस पर खभात म श्री विजयप्रभ उपाध्याय न की हो। कृति क प्रया मे भी अनेक पाठातर मिलते ह तथा विभिन्न प्रतिया म पद्य की सख्या भी भिन्न भिन्न है।

रासकार स्वय प्रसिद्ध मुनि और कवि थे अत १४३१ की कृति म उपलब्ध पाठ म ज्ञात होता है कि रासकार न यह पाठ भी स० १४१२ मे ही गौतम स्वामी के कवल्य महोत्सव पव पर लिखा हो। प्रति की प्रतिलिपि अभय जैन ग्रथालय बीकानेर म उपलब्ध है।

प्रस्तुत रास चरित मूलक है। प्रसिद्ध जैन तीर्थङ्कर महावीर के प्रथम गणधर गौतम की साधना का इसम विस्तृत वर्णन है। रास घटना प्रधान और भाव प्रधान दोनो का समन्वित रूप है। रास की कथा विचित्र घटनाओ स सजाई गई है, जिनक वणना म कवि का काव्य-कौशल परिलक्षित होता है।

गौतम का मूल नाम इन्द्रभूति था व गौतम उनका गोत्र। मगध प्रदेश म राजगृह क समीप गुब्बर गाव म उनका जन्म हुआ। उनक देह की ऊचाई ७ हाथ था। इन्द्रभूति ५०० शिष्यो क प्रतिभाशाली एव असाधारण विद्वान् गुरु थे। एक बार श्री महावीर स्वामी पावापुरी आये वहा उन्होने समवसरण बनाया। हजारो स्त्री–पुरुषो व देवताओ को वहा जाते देख गौतम को अपन ज्ञान पर दम्भ हुआ। व ५०० शिष्यो सहित महावीर स्वामी स शास्त्रार्थ करने पहुँच। महावीर न उनका समाधान वेदो के प्रमाणो स किया। इन्द्रभूति न महावीर स दीक्षा ग्रहण करली। ५०० शिष्य भी दीक्षित हुए और गौतम प्रथम गणधर कहलाये। अनुक्रम स ११ प्रधान वद ज्ञाताओ ने महावीर का शिष्यत्व स्वीकार किया। गौतम क अतिरिक्त जो भी महावीर स दीक्षित होता उसे कैवल्य ज्ञान प्राप्त हो जाता था। आष्टिापद क मन्दिरो एव जिनालयो म दर्शनकर गौतम ने रास्त म एक पात्र म अमृत सचारकर सब तापसो को लाड घी व खीर खिलाई अत व ५०० तापस ही केवली हो गये। ५०० को महावीर का समवसरण देखत ही कैवल्य हो गया। इस तरह १५०३ तपस्वी केवली हो गये पर गौतम को कैवल्य ज्ञान नहीं मिल सका क्योकि महावीर क प्रति उनक मन म राग था। ७२ वष की आयु म गौतम को निकटवर्ती ग्राम में उपदेशाथ भेजकर महावीर न निर्वाण प्राप्त किया। गौतम को वज्र पात सा हुआ उन्होन सोचा महावीर न अन्त समय म मुझ यह सोचकर कि गौतम बालक की तरह पीछा पकड कर मुझस कैवल्य मागगा दूर भेज दिया। मुझे भुलावे में डाल दिया सच्चा स्नेह नहीं किया। विलाप करत हुए उनक मनम यह बात आई कि महावीर तो वीतरागी थे, उनक साथ राग भाव कैसा? और ज्ञान

प्राप्ति के साथ ही वे केवली बन गये। गौतम ५० वर्ष तक गृहस्थ रहे। ३० वर्ष तक संयमी रहे और १२ वर्ष तक केवली रूप मे विचरे और ६२ वर्ष की आयु में मोक्षगामी हुए। कथा का सार यही है।

सम्पूर्ण काव्य मे कवि ने घटनाओ का चयन, तथा गौतम का चित्रण उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के उत्कृष्ट वर्णन के साथ किया है। प्रकृति वर्णन में भी कवि की सानी नहीं है। पूरा काव्य चरित मूलक आख्यान है। जिसकी कथा वस्तु धार्मिक है। तथा गौतम व महावीर की साधना से सम्बद्ध है।

गौतम रास एक ऐसा खण्ड काव्य है, जिसका उद्देश्य जीवन को आध्यात्मिक और साधना की ओर उन्मुख करना है। विहार के ही नहीं, समस्त मानव समाज की प्रवृत्तियो से निवृत कर सद्प्रवृत्तियो की ओर आह्वाहन ही प्रस्तुत रास का सन्देश है। एतदर्थ रास के प्रमुख–प्रमुख काव्यात्मक स्थलो का निरीक्षण किया जा सकता है।

कवि ने समवसरण की रचना में पर्याप्त उत्साह दिखाया है। इन्द्रभूति की स्पर्धा और पाच सौ शिष्यो सहित समवसरण मे जाकर महावीर से साक्षात्कार करना और महावीर का वेद उक्तियो से उसे समझाना गौतम का दीक्षित होना, प्रथम गणधर बनना तथा गौतम द्वारा सूर्य किरण पर चढकर २४ तीर्थङ्करो के मंदिर मे जाना और पुन अनेक तपस्वियो को कवली बनाना आदि अनेक स्थल गेयता और काव्यमयता के उत्कृष्ट प्रमाण हैं —

> जोजन भूमि समोसरणू पेखइ प्रथमारभि
> दसनिसि देखइ विबुधवधू आवति सरभि
> मणियम तोरण दड धज कउसी मे नववाट
> वयर विवज्जितु जतुगण प्रतिहारिज आठ
> सुरनर किन्नर असवर इद्र इद्राणिराय
> चितिय मुक्कि चीतउ ए सेवता प्रभुपाय
> सहस किरण जिम वीर जिणू पेखवि रूव विसालु
> एहु असभं भुमभवण साचउ अन इदियालु
> तउ बोलावइ भिजग गुरो इद्र भुइ नामेण
> श्री मुख ससा सामि सवि फेडइ वदू पएण
> मानु मेल्हि मन्ठलि करे भगतिहिं नामइ सीसु
> वधव सजम मुणिव करे अगनि भुइ आवेइ
> नाम लेइ आभासि करे त पुण प्रति बोधेई

गन्द शनि श्रभिमानि तारागजा मनि घातवर
सा मुनि पहिउ वनि श्रावविव निकर विरण
कंचन मणि निपम ट्ठकतम धयवउ सहिउ
पसइ परमाणुनि जिणहम भरदगद विहुइ ट
निय निय काय प्रमाणि चउ दिसि संठिय जिणन बिउ
पणमवि मन ल्लासि गायन गणहर तहि वसिउ (२६-२७)

रास का प्रकृति वर्णन कवि के काव्य कौशल का जागरूक प्रमाण है। कवि ने गौतम स्वामी की साधना और गम्भीरता का वर्णन प्रकृति के उपमानों द्वारा किया है। कवि ने श्री गौतम गणधर में महापुरुषों के सभी अनन्य गुणों का समावेश किया है। उनका व्यक्तित्व कवि ने यहाँ बड़ी कुशलता से तथा बड़े विविध उपमानों से निर्मित किया है। उपमा और उत्प्रेक्षाएं सरस हैं। वर्णन का क्रम सुन्दर है तथा विविध उदाहरणों से पूर्ण है —

जिम सहकारिहि कोयल टहुकइ
जिम कुसुमह वनि परिमल बहकइ जिम चन्दन सोगंध निधि
जिम गंगाजलु लहरिहि लहकइ
जिम कणयाचलु तेजिहि भलकइ तिम गोयम सोभागनिधि
जिम मानस सरि निवसइ हंसा
जिम सुरवर सिरि कणयवतं सा जिम महुयर राजीव वनि
जिम रयणायर रयणिहि विलसइ,
जिम अंबरि तारागण विकसइ तिम गोयमु गुण केलिवनि
पुनिम निसि जिम ससिहर सोहइ
सुरतरु महिमा जिम जगमोहइ पूरव दिसि जिम सहसकरा
पंचानन जिम गिरिवरि राजइ
नरवइ घरि जिम मयगल गाजइ तिम जिन सासनि मुनिपवरा
जिम सुरतरुवरि सोहइ साखा
जिम उत्तमि मुखि मधुरी भाषा जिम वनि केतकि महमहए
जिम भूमिपति भुयवलि चमकइ
जिम जिनमंदिरि घंटा रणकइ गोयम लबधिहि गहगहए (३८-४१)

साधक की एक करुण स्थिति का चित्रण बड़ा मार्मिक है जब महावीर निर्वाण को प्राप्त होते हैं और गौतम को समाज के पास में प्रतिबोध को प्रेषित कर देते हैं। गौतम उन्हें जान कर बालकों की तरह फूट पड़ते हैं और इसी

विलाप मे उहें महावीर क वीतरागा होने का ज्ञान होता है तथा उनका जितना राग महावीर के साथ था, वह सब छूट जाता है और केवली बन जाते हैं। उनके मन के अन्तर्द्वन्द्व को कवि चित्रण करना चाहता है। महावीर के जाने के बाद गौतम क मन मे उठन वाले सकल्प विकल्प—"मुझे दूर भेज दिया, लोक-व्यवहार का पालन नहा किया।' हे प्रभो! आपने सोचा होगा गौतम बालक की तरह पीछा पकड कर मुझसे केवल्य मागेगा। आपने मुझे भुलाव म डाल दिया, सच्चा स्नेह प्रकट नही किया' आदि—बडी ही मार्मिकता प्रस्तुत करते हैं। कारुण्य हृदय गौतम विलाप करते हैं —

> प्रयोउ ए गायमु आमि देवसमी प्रतिबोध किए
> आपणि ए त्रिशला देवि नन्दण पत्तउ परम पए
> वलतउ ए देव अकासि पेखवि जाणिय जिम समउ
> तउ मुनि ए मनिहिं विषादु नादमद जिय ऊपनउ
> तउ मुनि ए सामिय देखि, आप कहा हउ टालिउ ए
> जाणतई ए तिहूयण नाहि लाक विवहारु न पालियउ
> अति भउ ए भोधउ सामि जाणिउ क्वलु मागिसिए
> चीतविउ ए बालक जम अहवा केडइ लागिसिए
> हउ किमवीर जिणिन्द भगतिहि भालउ भोलविउ
> आपण एउ चियउ नहु नाहि न सपए सूचविउ (३३–३५)

और कृति इस तरह निर्वेदात होकर निखर उठी है। भाषा की दृष्टि से कृति की भाषा पर अपभ्रंश का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है इसका कारण यह है कि सम्भवत यह कृति १४वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध म लिखी गई है। क्योकि जिस समय यह रास लिखा गया, उस समय कवि बहुत वृद्ध होगये थे। अत बहुत सम्भव है कि इसका लेखन काल १४वी शताब्दी रहा हो।

रचना गेय है। रासकर्त्ता ने रास के सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ भी नहा कहा। रचना का दखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह रास गीति तत्व प्रधान है तथा चरितमूलक खण्ड काव्य है।

प्रति क अन्त मे पुष्पिका इस प्रकार है स० १४३० कार्तिक सुदि प्रतिपदायाा देव ॥ स्तवन पुस्तक ॥ (बडा ज्ञान भण्डार, बीकानेर की प्रति)

इस प्रकार १५वा शताब्दी की उपलब्ध प्रमुख रचनाओ मे श्री विनयप्रभ उपाध्याय विरचित गौतम रास का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है।

कलिकाल रास[1]

हीरानन्द सूरि १५वीं शताब्दी के प्रमुख कवियों में से रहे हैं, जिनकी इस शताब्दी में कई महत्वपूर्ण कृतियाँ मिलती हैं। जिनमें वस्तुपाल तेजपाल रास (सं० १४८४) दशार्णभद्र रास जम्बूस्वामी वीवाहला सं० १४९५ विद्याविलास पवाडा स्थूलिभद्र बारहमासा आदि प्रमुख हैं जिन पर यथावसर प्रकाश डाला जायगा। कलिकाल रास भी अलग ढंग/प्रकार की रचना है। कलिकाल रास कलियुग की परिस्थितियों और दुर्गुणों पर प्रकाश डालता है। इस शताब्दी में रास संज्ञक रचनाओं में यह अपने प्रकार की पहली रचना है। कलियुग की लोक-स्थिति का वर्णन महाभारत में मिल जाता है। हिन्दी में बाण कवि का कलि चरित्र सं० १६३८ सर्वप्रथम मिलता है। सं० १७०० में गंगा चन्द्रकृत कलिचरित्र और सं० १८९५ में रसिक गोविन्द कृत कलियुग रासा में आदि ग्रन्थ मिलते हैं।[2] परन्तु प्रस्तुत रास बाण के कलिचरित्र से भी २०० वर्ष पुरानी रचना है। इसकी प्रति जैसलमेर के जैन भण्डार में है तथा प्रतिलिपि अभय जैन ग्रन्थालय में उपलब्ध है। प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर के एक गुटके में भी इसकी प्रारम्भिक २८ गाथाएँ मिली हैं। रचना प्रकाशित है।

श्री हीरानन्द सूरि की यह रचना १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की है। जिसमें इनकी भाषा सरल राजस्थानी या प्राचीन हिन्दी है। कवि ने वर्णन में यथार्थ का सहारा लिया है तथा कलियुग के कटु सत्य अनुभवों को भविष्य वक्ता के रूप में स्पष्ट करने में बड़ा सफल रहा है। १५वीं शताब्दी में मुसलमानी राज में हुए अत्याचार कलियुग के ही प्रभाव बताये गये हैं। प्रस्तुत रास लाजवाब है, जिसमें कवि ने जीवन के हर पहलू पर कलि का प्रभाव दिखाया है। पृथ्वी की स्थिति, राजा, माता-पिता, बन्धु, इष्ट, साधु, गुरु, नाथ, ब्राह्मण, दान तथा मुनिवर आदि सबकी परिवर्तित स्थिति पर प्रकाश

१—हिन्दी अनुशीलन वर्ष १० अंक १, सन् १९५७ में श्री अगरचन्द नाहटा का 'कलिकाल रास' शीर्षक लेख पृ० ५८–५९।

२—वही।

डाना है। इस तरह की कलिकाल सम्बन्धी रचनाएं परवर्ती राजस्थानी कवियों को अनेक मिलती हैं।

कवि की यह रचना भास, वस्तु ठवणि, ठउणु फाग आदि नायका के अन्तर्गत विभाजित करके लिखी गई है। कवि ने वीर जिनेन्द्र तथा सरस्वती का स्मरण कर रास प्रारम्भ किया है।

प्रारम्भ में ही कवि कलियुग की सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख करता है तथा कलियुग के प्रभाव कहता है। वर्णन सरल वाक्य छोटे भावपूर्ण तथा भाषा अत्यन्त सरल है —

> वार जिणेसर पामियनाणु कहिउ कलियुग तणउ प्रमाणु
> समइ ममइ बहुगुणती हाणि ईणिवचनि सहूइ हिव जाणि
> पृथ्वीय वरसइ थोडामेह थाडा आयु घणा सदेह
> रासिस रुपि हुआ भूपाल भयाली नह अति विकराल
> नकरइ सार तणा सुरसार, लाक हूआ हिव सविनिरधार
> अति निधधन दीसइ दातार कृपणह धरि लिखिमा अवतार
> पुण्यवत हुई क्षयउ ततकाल पापी नर जीवइ चिरकाल
> औषध म कूअ अप्रमाण, खारिय विधा नहिय सुजाण
> म तरग गयउ नह विसाल, विरला दीसइ भ्रत सुगाल
> दव सवि हुआ निप्रभाव के न दीसइ सरल सुभाव
> काइ न पालइ बाल्या बोल सहूइ नासत हूउ निटोल
> काई न गैसइ गुणि गभार सहूइ हुआ अबल अधीर

विनय विवेक, छोर लाज सब दूर हो गई। साहस तत्व संसार म नहीं रहा। कलियुग के प्रभाव स दान और दानशील दोनों मिट गए हैं। परमार्थ का विनाश और पाखण्ड का प्रचार बढ़ रहा है। क्षमा हीन होगई और कटु वाणी का क्रम बढ़ गया है —

> लीला लाज गई अतिदूर परिनदा छइ एकइ पूरि
> विनय विवेक गया अचार दयातणी कोइ करइ सारि
> साहस सत्व नहा ससार रगरली नही हिया मभार

> दान दाविन दान दाविर गया परदेसि
> कृपान पउ हुउ धणु छतइ द्रव्य खाइन पीइ
> ज चचइ घट आपणउ किमु दानते कृपण दीह

हा मन रचावणा माराय वान करति
धरि ग्रावतइ ग्राहगाइ नामत नामाय जति (वस्तु ११)

चारा वर्णों का स्थिति भा कवि न बडा न्यााय किया है। पसे क प्रमा स्वार्थी मित्रा तथा किए हुए उपकार का न मानन वाला की स्थिति भी उल्लखनीय है —

वभग कुन ग्राचरहिं हीण विप्रीयराव प्रवत्रिहिं लागा
सूग साक मनि नवि धरइग
पाणि तगइ मिसि द्राहइ सहूम वणिइ साहिन हुग्रा वहूम
निरन्य वर्म समाचरइग

ग्राप सवारथि महूइ काई परतजू टर निरनउ काई
काज विणमगा प्रति घगाए
ग्रार ग्ररथि मइ वनहू माहर ग्ररथ निखानइ छेहू
ग्ररथ मित्र ग्रमुनामणाए
काइ न जाणइ हनाकाया कृतघन नाव सव हिव हुग्रा (वस्तु १४)

कुछ ग्रद्भुत तथ्या के द्वारा भी कवि न काव्य-कौशल एव कलियुगी प्रभावा का परिचय दिया है। कान्य का रस नाना मति का निष्ठुर हाना धर्ममार्गों म हुए ग्रनेक प्रचलित मत मतानतरा का वर्णन तथा सत्य मे दूर कूटवाणा वाला का सम्मान ग्रादि चित्र कवि न बडे हा माहक शैला मे प्रस्तुत किय हैं —

मेर समान किया उपगार सरसव समवटि गणइ गमार
ग्रवगुण एक न वीसरइ ए
परि परि जोइ छिद्र ग्रपार नवि जोई ग्रापण ग्राचार
ग्रम्हि कुण मारगि ग्रनुसरउ ए
डूगरि ग्रपरि बलतउ दाई पा हस्इि त गणइ सहु
ग्रापण पु मावइ बलउ ए
न्याय मारग नाय ग्रनरउ निम्नारीय महि कहिइ ग्रनरउ
ज गुण हुई त ग्रावर ए

धरम मारग धरम मारग हुग्रा वहु भउ
ज पुच्छि जई त कहिए धर्म्म माग्रु ग्रम्हि दहउ सचउ

मापि प्रशसानगि सहूम्र भंवर धम्म मुहि कहउ कचउ
म धउ म फा बाहुडी म्राविय वेडि लग्ग
जाग नयरह मरणी वउरण दिखाउइ मग्ग
साच कोई माए कोई बोनति
सावइ राचइ कोइ नवि कूड कपट सहूइ पतीजइ
वडा म्रभयकुमार जिम धरम दभि वधीय लीजइ
कूउ वचन वानड जिके माया रचिह मपार

घडइ वेगिहिं वडइ वेगिहि गयउ वेसास
द्रोह मित्र मनत्र सुत माइबाप गुरु किसइ लेखइ
देव द्रव्य धरि वावरइ, लोम म ध नयरणे न देखइ
माय वार कुल गुरु तरणी मानइ नवि म्रासक
सरल भाव विहि थानता हेलहिं चडइ कलंक
दोहिलि घरणीय सहतडा उपति किसी न होइ
दूमर पेट हूम्रा घरणउ तिरिण दुखिउ सहु कोइ (वस्तु ३७–३८)

कवि के वाक्य छोटे, शैलो उपदेशात्मक म्रौर रुचिकर है। प्रस्तुत काव्य जन-काव्य है म्रत कलियुग सम्बन्धी समस्त स्थितिया म्रौर मर्यादाम्रा का लोप कवि ने बताया है। व्यवहारिक जीवन में कवि की वाणी एकदम यथार्थ है। मुनियों के लिए कवि ने एक म्रत्यन्त उत्कृष्ट चित्र खीचा है। भाषा की सरलता म्रालकारिता तथा कथा-तत्व की भाति जनरुचि पर विजय पाने वाला प्रस्तुत रास है जिसको पढ़ने मे बडा म्रानन्द मिलता है। साहित्य का उपयोग यही है कि वह व्यवहारिक जीवन के लिए निरन्तर उपादेय व हितकारक एव मार्ग प्रदर्शन करने वाला हो। कवि ने मुनियो तथा श्रावको का कलियुगी कायाकल्प बताया है। उद्धरण उल्लेखनीय है —

मुरिणवर मछरि म्रागला ए पगि पगि करइ विरोध
एकइ मारगि म्रतरउ ए, म्राणइ म्रतिहि म्रबोध
काहि लोहि महि मोहि्या ए मारगि नवि चालति
म्राप प्रशसा तप करइ ए, परनिंदा बोलति
लोक तणा मन रजिव ए वयरिण धरइ वय रागु
साचा धरम ह उपरिई ए, नवि दीसइ म्रनुराग
पचविषय जीता नहीं ए, जिरिण हिंच्यारि कषाय
तेह तेहरइ सजमि करीए, जीवन तराउ उपाय

[illegible] मन रचावणा मार्गिय दान करंति
धरि आवंत आगत नामन भामाइ जंति (वस्तु १९)

चारों वर्णों की स्थिति भी कवि ने बड़ी स्पष्टता से लिखाई है। पैसे के प्रेमी स्वार्थी मित्रों तथा किए हुए उपकार को न मानने वालों की स्थिति भी उल्लेखनीय है —

वंभण कुल आचरहिं हीण क्षत्रियवाट अवसिहि लीण
सुग भाव मनि नहि धरंति
पालि तणइ मिसि द्रव्य संग्रहं वणिय माहि हूआ बहुम
निरन्तर कर्म समाचरइ

माय मयारथि महइ [illegible] परवइ दूर विरत्त काइ
काज निगुणगण अति घणाए
माय मरथि महइ [illegible] आप अरथ निवाहइ [illegible]
अरथ मित्र अनुरागनाए
काइ न जाणइ उपगारा, कृतघन ताह मन निव हुआ (वस्तु १८)

कुछ अद्भुत तथ्यों के द्वारा भी कवि ने काव्य-कौशल एवं कलियुगी प्रभावों का परिचय दिया है। काव्य का रस जाना, मति का निष्ठुर होना, धर्ममार्गों में हुए अनेक प्रचलित मत मतान्तरों का वर्णन तथा सत्य से दूर झूठ बोलने वालों का सम्मान आदि चित्र कवि ने बड़ी ही सरल शैली में प्रस्तुत किए हैं —

[illegible] समान दिसा उपगार सरथव मनवहि गउइ [illegible]
[illegible] एक न वाहरइ ए
[illegible] आर अधिकार नवि [illegible] आधार
अन्धि हुआ नारी अनुसरइ ए
[illegible] हरिहि [illegible]
[illegible] पु [illegible] ए
[illegible] वहिड [illegible]
[illegible]

धरम [illegible] हूआ [illegible]
[illegible] धर्म्म [illegible]

मापि प्रगसानगि सहूम्र भ्रंवर धम्म मुहि वहउ कचउ
ग्र धउ ग्र फा वाटूडो ग्राविय वडि लग्ग
जाएा नयरह मएाी ववरा न्हिवाउइ मग्ग
साच कोई माए कोई बोरति
साचइ रावइ कोइ नवि कूड कपट सहूइ पतीजइ
वेशा ग्रभयकुमार जिम धरम दभि वधीय लीजइ
कूउ वचन वानइ जिके माया रचिह ग्रपार

यडइ वैगिहि वडइ वैगिहि गयउ वेसास
द्रोह मित्र कनत्र सुत माइवाप गुरु किसइ लेखइ
देव द्रव्य धरि वावरइ, लोभ ग्र ध नयरणे न देखइ
माय बाप कुल गुरु तराी मानइ नवि ग्रासक
सरल भाव विहि धालता हेलहि थडइ कलक
दोहिलि धरणीय सहतडा उपति किसी न हाइ
दूभर पेट हूग्रा घराउ तिरिग दुखिउ सह कोइ (वस्तु ३७–३८)

कवि के वाक्य छोटे शैली उपदेशात्मक ग्रौर रुचिकर है। प्रस्तुत काव्य जन-काव्य है ग्रत कलियुग सम्बन्धी समस्त स्थितिया ग्रौर मर्यादाग्रों का लोप कवि ने बताया है। व्यवहारिक जीवन मे कवि की वारणी एकदम यथार्थ है। मुनियो के लिए कवि ने एक ग्रत्यन्त उत्कृष्ट चित्र खीचा है। भाषा की सरलता ग्रालकारिता तथा कथा तत्व की भाति जनरुचि पर विजय पाने वाला प्रस्तुत रास है जिसको पढने में बडा ग्रानन्द मिलता है। साहित्य का उपयोग यही है कि वह व्यवहारिक जीवन के लिए निरतर उपादेय व हितकारक एव मार्ग प्रदर्शन करने वाला हो। कवि ने मुनिया तथा श्रावका का कलियुगी कायाकल्प बताया है। उद्धरण उल्लेखनीय है —

मुरिणवर मछरि ग्रागला ए पगि पगि करइ विरोध
एकइ मारगि ग्रतरउ ए ग्राणइ ग्रतिहि ग्रबोध
कोहि लोहि मदि मोहिया ए मारगि नवि चालति
ग्राप प्रशसा तप करइ ए, परनिन्दा बोलति
लोक तरणा मन रजित्र ए वयरिग धरइ वय रागु
साचा धरम ह उपरिइ ए नवि दीसइ ग्रनुराग
पचविषय जीता नहीं ए, जिरिग हिच्यारि कषाय
तेह तेहरइ सजमि करीए जीवन तणउ उपाय

कुमति भाव आवक हुआ ए, हीयडइ अति निरभाव
समकित धर मुनि निंदइ कहइ ए, चलावइ बहुभाव
परिवरमण महिषी करइ ए कुनिगज करइ अपार
हरपाल स्वीय कविनमइ ए ऊपडउ मनि अहंकार
गुरु उपदेश सुणइ नहीं ए सीयन्हइ नवि भीजंति
पाथर पाणिय भरि वसइ ए, भीतरि नवि भीजंति (ठवणि २६)

वस्तुत पूरा रास कविज्ञान का स्वरूप चित्रण करता चला गया है। छन्द अलंकार और रस की दृष्टि से रचना साधारण है परन्तु वस्तु, शिल्प भाषा, और वर्ण्य विषय की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। रचना की भाषा में अपभ्रंश के प्रयोग ढूंढने पर ही मिलेंगे। ठेठ राजस्थानी तथा गुजराती के शब्द ही मिलते हैं। पर पूरी रचना को सरल हिन्दी की रचना कहा जा सकता है।

कवि ने मर्यादा उल्लंघन के चित्र को अनेक सूक्तियां उदाहरणों दृष्टान्तों और अन्तर्कथाओं द्वारा स्पष्ट किया है। यह स्थल रास का बहुत ही महत्वपूर्ण अंश है —

अति निरलावन टल गप मुनि वाणि कठोर
च्यारिह वर्ण इस्या हुआए धर माहि जि चोर
माय बाप बंधव कुटुंब स्यू करइ विरोध
दीसइ घरि घरि नव नवाए कारणि बिनु क्रोध

लोपीय कुल गुरु तणीय रीति मूकी मरयाद
सीख दीयता करइ राड मांडइ हठवाद
नीच मात्र उत्तम तणाए आचार मुणीजइ
माच मूच जे नवि धरइ ते कहिइ अजाण
जे घण माया केलवइ ए तीहं करइ वखाण
नगि परिनेता कन्न वात्र छइ तिनि विगाने
एहे सारणि जाणीइ ए आयउ कलिकाले (३९-४३ पृ० ५८-५९)

मुंकिम लाचन चम्म मए मन लाचन जोउ
अंतरग अरि निरजाणए मन मसमल धाउ
दान सील तप भावना ए च्यारइ जिन भाषइ
सहुइ निसमन हाइ धर्म मन सुधी पालइ
इसुइ सुणी मन सुधि राइ श्रा समकित पालउ

भगाइ हाराराण भवीय नाय भव श्रजूग्रालउ (४४–४६)

वस्तुत रास की वस्तु से ही स्पष्ट हो जाता है कि १५वीं शताब्दी तक आते आते रास को कथा–वस्तु सीमित नही रहा तथा उसम विविध विषयो का भी विवेचन होने लगा। जैसा कि पूर्व पृष्ठो मे अन्य रासो मे विविध विषय वस्तु रासो मे वर्णित हुई है उसी भाति प्रस्तुत रास मे भी कवि ने अपनी स्वच्छा मे कलियुग का सागोपाग वर्णन किया है जो इस पैमाने पर अन्यत्र दुलभ है। साथ ही कवि ने रास लिखने के अन्य उद्देश्यो को भी स्पष्ट किया है —

> चउद्द छीयासीय वरसि एहकलिकालह रासो
> तोणिह रचीउ भवीय लाय कजि उपदेश निवासो
> भणइ गुणइ जे सुण भवि खेलइ नर नारि
> ते मन वाछित सुख लहइ ए जाह भवपारे

इस प्रकार १५वी शताब्दी की रास संज्ञक कृतियो मे भाषा और विषय की दृष्टि से 'कलिकाल रास' का महत्वपूर्ण स्थान है।

सोलहकारण रास

१५वी शताब्दी की रास रचनाओं में एक उल्लेखनीय रास सोलह कारण रास है जिसके रचयिता सकलकीर्ति हैं। यह रचना दिगम्बर भण्डार जयपुर की है। इति शास्त्र के भण्डार जयपुर (श्री दिगम्बर अतिशय जैन कमेटी जयपुर के भण्डार) में सुरक्षित है। प्रस्तुत रचना अप्रकाशित है तथा गुटका नं० २६२।५४ के पत्र २४२-२४३ पर लिखा है। प्रति का लेखन काल सम्भवत १५वी शताब्दी के आसपास है। सकलकीर्ति अपने समय के दिगम्बर कवियों में प्रमुख कवि हुए हैं जिन्होंने हरिवंश रास भी लिखा है। प्रसिद्ध दिगम्बर कवि ब्रह्मजिनदास के ये समकालीन थे।

प्रस्तुत रास एक छोटा-सा खण्ड काव्य है जिसमें कवि ने प्रारम्भ में मंगलाचरण के पश्चात् साधना के लिए तप और तप के लिए १६ कारणों का विधान एक श्रेष्ठि कन्या प्रियवता में किया है। प्रियवता का परिचय कवि ने एक दुर्भाग्यशालिनी गतधर्मा और पदरोगा युक्त महा कुरूपिणी के रूप में दिया है जो पूर्व भव में किये अपराध के कारण इस गति को प्राप्त हुई थी।

> जबू दीवह भरत खेत मागध उत्तमा
> राजगृह तह नगर हेम प्रभराज धनमा
> विजया सुन्दरि कनकनाम पुरोहित महासरमा
> प्रियवन्ताता सु नारि पुत्री गत धरमा
> वकाक भैरवि राग सहित छह रूपविहूणा

कवि ने पूर्व भव व कर्म सिद्धांत का प्रचार कथा के द्वारा किया है तथा सोलह कारणों में जो साधना की सफलता और मनुष्यों को निर्वाण की प्राप्ति कराते हैं उस पर करना चाहिये यही सन्देश दिया है। कथा की नायिका एक बार पूर्व भव में आहार ग्रहण करने के लिये आये मुनियों पर थूक देती है और उसी पाप से वह इस जन्म में भयंकर रोगों से ग्रसित होकर कुरूपिणी बन जाती है। इस प्रकार दो चारण मुनि उस पूर्व भव में किए पाप और इस भव में इसका उद्धार करने के १६ कारणों का उल्लेख करते हैं —

राजा महीपाल वेगवतर छइ रागी
विसालश्री पुत्रि नाम विवक विहूणी
आहार लेवा मुनि इक आया तस्यामा
आहार लेवा जाम चलिउ निरमल गुण धामा
गउखि बइठी तासु उवरि थूकिउ मन अधी
राजा छेह ललूही करा तुस घूसठ दीना
निन्दा गरहा आपु कर मुनिवन्ह लजाइ
कु वरि ते तमु लियउ अनसरण आहारो

और इस प्रकार भिक्षार्थ आये युगल चारण मुनि उसे १६ कारणा से सम्पन्न व्रत करने का विधान समझाते हैं। कथा मे धार्मिक तत्व होते हुए भी इस छोटी सी कृति मे कथा-तत्व होने से पाठक या श्रोता की रुचि बनी रहती है। इस रचना का उद्देश्य उपदेश प्रधान है कवि जन-साधारण मे किस प्रकार पूर्व भव मे किए दुष्कृत्यो से इस भव मे फल प्राप्ति का सिखावन देकर सयम व उपासना के १६ कारणो को कथा सूत्र मे बाधता है।

इन कुली तेरो जनमु हुवा पूरव विदेह
सोलह कारण वरत करी तीर्थंकर छाइ
वचन सुभना पावनसा कहि सामि विचाएे
भाद्व मासि चैत्र मासि कहिए तिहुवारा
एकाति करि मास एक सायलु पालीजइ,
परिहरि घरि व्यापार सबै मन सुद्धि करीजइ
निर्मल समकित धरि पालियइ सकारनवि काज्जइ
दर्सन नान चरित्र तपा तहि विनउ करीज्जइ
सील व्रतु दिढ पालिए सब दूषण टार
नान निरंतर सार पढउ बहु अगि विसारउ
भव भव भोग सरीर महि वर राग धरीज्जइ,
चारित्तान तप चारि भेद सकति पालीज्जइ
मुनिवर साधु समाधि वरो उपगार करज्जइ
दसविध वैयाकरन करी नेमे पालिज्जइ
अरहन्त देव भक्ति करउ सब बीजा टालउ
आचारयु गुरु भवि करी भगति प्रतिपालं
सास्त्र घना मुनि जो पढहि तिन भगति करीजइ
प्रवचन ग्यानी भगतिकरी निदचउ मानीजइ

आदर प्रवचन पालियइ नित निच्चउ आणी
सोलह भावन भाविय ए गुरु पास वखाणी
दिन दिन प्रतिमा पूजियइ निसि जाप जपीज्जइ
सामइ ध्यान उजमनउ माण्डि दानादइ
स्तवन विवेचन द्वार सार्वभिस्तु वन्दिज्जइ
मुनिवर अर्जिय सयन सघ सपूजरराजइ
चारण गुरु पय नमस्करी व्रत लिय कर नाना
अन्तकाल सन्यास करा लिइ सरगवि साधउ

इन्हीं सोलह कारणों से नायिका प्रियवता भविष्य में श्रेष्ठ योनि को प्राप्त हुई। अन्त में कवि भरत वाक्य के रूप में सभी व्यक्तियों के लिए मंगल कामना करता है कि इन सोलह कारणों को संयमी बनकर जो पाले, वह भी उस असाधारण पद प्राप्त होगा —

एक चित्तु जो व्रतु करइ नर अहवा नारी
तीर्थकर पद सो लहइ जो समकित धारी
सकल कीर्ति मुनिरायु कियउ ए सोलह कारण
जे सेवहिं तिन्ह सुह कारण

वस्तुतः छन्द अलंकार और रस की दृष्टि से कृति का महत्व सामान्य है परन्तु भाषा की दृष्टि से तथा कथा वैभिन्य या वस्तु विन्यास की दृष्टि से सोलह कारण रास उल्लेखनीय है। बहुधा दिगम्बर कवियों की रचनाएं सदा बाना में ही अधिक मिलती हैं क्योंकि श्वेताम्बर जैन मुनियों व कवियों ने राजस्थानी और गुजराती में अधिक लिखा, परन्तु दिगम्बर कवियों ने सदा बाना में ही अपना साहित्य लिखा है। अतः भाषा की दृष्टि से प्रस्तुत रास कृति का महत्व अवश्य स्पष्ट है। यों कुल मिलाकर कृति साधारण है तथा काव्य की दृष्टि से बहुत प्रौढ़ नहीं है। ब्रह्म जिनदास की कुछ और कृतियों का विवेचन करने पर उनके काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ जानी जा सकती हैं। प्रस्तुत रास एक वर्णनात्मक कथा काव्य है जिसका मूल उद्देश्य धर्म प्रचार मात्र है।

असन बसन, पसु बस्तु विविध विधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग, नरक, चर अचर, लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे ॥३॥
बिटप मध्य पुतरिका, सूत महँ कचुकि बिनहिं बनाये।
मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाये ॥४॥
रघुपति भक्ति-बारि छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद बिलास जग, बूझत बूझत बूझै ॥५॥

भावार्थ—यदि यह मन अपने विकारों को छोड़ दे तो फिर भेद भाव जनित दुःख भ्रम और भारी शोक वश हो ? मन के निश्चल हो जाने पर ये सारे द्वन्द्व भी छूट जायँगे ॥१॥

शत्रु मित्र और उदासीन इन तीनों को मन ने ही तो हठपूर्वक कल्पना कर रखी है (वैसे, वास्तव में न कोई शत्रु है न मित्र और न उदासीन) शत्रु को साँप के समान त्याग देना चाहिए मित्र को सुवर्ण की तरह ग्रहण करना चाहिए और उदासीन की तिनके की नाईं, उपेक्षा कर देनी चाहिए उसकी ओर कुछ ध्यान ही न देना चाहिए ये सब मन की ही कल्पनाएँ हैं ॥२॥

जैसे मणि में भोजन वस्त्र पशु और अनेक प्रकार की वस्तुएँ समाई रहती हैं, वैसे ही मन में स्वर्ग नरक चर अचर और बहुत से लोक सन्निहित हैं। भाव यह है, कि जब किसी के हाथ में मणि हो, तो वह उस बदले चाहे जो खरीद सकता है उसी प्रकार इस मनरूपी मणि के प्रताप से यह जीव स्वर्ग नरक तथा अनेक लोकों में जा सकता है। यदि सुकर्म करेगा तो स्वर्गादि का लाभ होगा और कुकर्मों की ओर प्रवृत्ति करेगा तो नरक वास तो है ही। अतएव सिद्ध हुआ कि यावत पदार्थों का भाण्डार यह मन ही है ॥३॥

जैसे पेड़ अर्थात् काठ के बीच में पुतली और सूत में वस्त्र बिना बनाये ही पहले से ही विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार मन में भी समय समय पर अनेक शरीर जो उसमें लीन रहते हैं प्रकट हो जाते हैं। साराश यह कि मन की वासनाएँ जन्मादि के लिए उत्तरदायी हैं। जैसी कामना होगी वैसा ही शरीर धारण करना पड़ेगा। मन के प्रभाव से मनुष्य देवता हो सकता है और मन के ही कारण खर, शूकर आदि भी ॥४॥

रघुनाथजी के भक्तिरूपी जल से जब चित्त धुलकर निर्मल हो जायेगा, अन्तःकरण से विषय प्रवृत्ति हट जायगी तब बिना किसी परिश्रम के ही सब कुछ (क्या सत है और क्या असत) दृष्टिगोचर हो जायेगा विवेक सुलभ हो जायगा। किन्तु तुलसीदास कहते हैं कि चिदानन्द, अखण्ड आत्मानन्द समझते समझते ही समझ में आता है। क्रम-क्रम से ही चिदविलास प्राप्त होता है ॥५॥

शब्दार्थ—संसृति = संसार। मध्यस्थ = उदासीन न मित्र भाव न शत्रु भाव। बरिआई = जबरदस्ती। उपच्छनीय = उदासीन। पुतरिका = पुतली, मूर्ति। छालित = धोया हुआ स्वच्छ। चिद = (चित) चन्मय।

विशेष—(१) द्वैत — राग और द्वेष — अनुकूल और प्रतिकूल संवेदन।

(२) सत्रु तजे — यहाँ क्रमालंकार है। जहाँ दो तीन या और भी अधिक वस्तुओं का जिस जिस क्रम से पहले वर्णन किया जाए उसी क्रम से उनका वर्णन अन्त तक निबाहा जाए वहाँ क्रमालंकार होता है—

श्रम सो कहि पहले कछू श्रम तें अथ मिलाय।
यों हीं और निबाहिये, श्रम भूषन सु कहाय॥

यहा ये क्रम है—

१—शत्रु	२—मित्र	३—मध्यस्थ
१—त्यागन	२—गहन	३—उपेक्षणीय
१—अहि	२—हाटक	३—तन

(३) 'नाना तनु'—विविध योनियों के अतिरिक्त इसका यह भी अर्थ हो सकता है, कि मन स्थूल, सूक्ष्म, कारण महाकारण चारों शरीरों में किसी न किसी रूप में घुस रहता है, वह पिंड नहीं छोड़ता।

(४) बूझन-बूझत बूझै—पहले कर्मकाण्ड आदि साधना द्वारा शरीर शुद्ध किया जायगा, फिर योग द्वारा मन शुद्धि होगी तब कहीं परम ज्ञान का उदय होगा। तब भक्ति का साम्राज्य स्थापित होगा।

१२५

मैं केहि कहौं विपति अति भारी। श्रीरघुबीर धीर हितकारी॥१॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥२॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥३॥
तम, मोह लोभ अहँकारा। मद, क्रोध, बोध रिपु मारा॥४॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहिं जानि अनाथा॥५॥
मैं एक, अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा॥६॥
भागेहु नहिं नाथ उबारा। रघुनायक करहु सँभारा॥७॥
कह तुलसिदास, सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा॥८॥
चिंता यह मोहिं अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा॥९॥

भावार्थ—तुम्हें छोड़कर हे रघुनाथजी! और किस से अपनी दारुण विपत्ति सुनाने जाऊँ? क्योंकि आप ही शरणागत का भला करने में धीर हैं॥१॥

हे नाथ! मेरे हृदय में तुम्हारा निवास-स्थान है। पर अब उसमें बहुत से चोर आकर बस गये हैं मेरे हृदय में जो तुम्हारा मंदिर है चारों ने उसमें अपना अड्डा जमा लिया है। अब तुम कहाँ रहोगे?॥२॥

ये लोग बड़े ही निष्ठुर हैं, हमेशा ही जोर-जबरदस्ती करते रहते हैं। विनती निहोरा भी नहीं मानते। ऐसे पाषाण हृदयवाले हैं॥३॥

अज्ञान मोह लोभ, अहंकार मद क्रोध और ज्ञान का शत्रु काम ये ही वे चार हैं॥४॥

हे नाथ! ये सब बड़ा उधम मचा रहे हैं। मुझे अनाथ जानकर कुचल डालने पर उतारू हैं। यह समझ लिया है कि मेरा कोई धनी धोरी नहीं, सो अवसर पाकर जितना अधिक उनसे बनता है मुझे सताते रहते हैं॥५॥

मैं हूँ एक, और ये उपद्रवी चोर बहुत-सारे हैं। कोई मेरी पुकार तक नहीं सुनता

(जिसे पुकारता हूँ, वही कानों में तेल डाल लेता है। कदाचित् डरता हो कि कहीं वे हमारा भी घर न लूट ले जायें) ॥६॥

हे नाथ! यदि कहीं भागूँ तो भी इनसे बचना कठिन है, क्योंकि जहाँ-जहाँ जाऊँगा वहाँ ये भी पीछा करेंगे। अब हे रघुनाथजी! आप ही इनसे मेरी रक्षा कीजिए ॥७॥

तुलसीदास फिर भी कहता है कि इसमें मेरा कुछ भी नहीं जाता, आपका ही घर चोर लूट रहे हैं। भाव यह कि यदि मेरा हृदय भवन इन चोरों के अधिकार में आ जायेगा तो फिर आप कहाँ रहेंगे? ॥८॥

मुझे तो सिर्फ यही सोच है कि कहीं आपकी बदनामी न हो (कि राजाधिराज श्रीरघुनाथजी का घर चोरों ने लूट लिया!) इसलिए शीघ्र ही इन दुष्टों को हटाकर अपने निज मन्दिर में निवास कीजिए। आशय यह है कि काम क्रोध लोभ मोह आदि शत्रुओं का नाश कर मेरे हृदय सदन में आकर आप निवास कीजिए) ॥६॥

शब्दार्थ—बरजोरा = जबरदस्ती हठ से। तम=मोह अज्ञान। बोधरिपु= ज्ञान का विनाशक। मारा=मार कामदेव। बटपारा=डाकू। सँभार=रक्षा।

विशेष—(१) तम मोह मारा—श्री शंकराचार्य ने कहा है—

काम क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्कराः।
ज्ञान रत्नापहारायतस्माज्जाग्रत जाग्रत ॥'

(२) 'बोध रिपु'—रामेश्वर भट्टजी ने बोधरिपु का अर्थ अज्ञान लिखा है, किन्तु तम शब्द पहले ही आ गया है जिसका अर्थ अज्ञान है। यहाँ बोध रिपु मार का विशेषण है क्योंकि विशेषतः काम ही ज्ञान का नाशक है।

(३) लूटहिं—क्या-क्या लूट रहे हैं? वैराग्य, विवेक ज्ञान सन्तोष, समता करुणा श्रद्धा भक्ति आदि अनमोल रत्न।

(४) कबीर साहब इस दिनदहाड़े की लूट मार से चेता रहे हैं—

तोरी गठरी में लागे चोर बटोहिया का रे सोवे।
पाच-पचीस तीन हैं चोरवा यह सब कीन्हा सोर ॥
जाग सवेरा बाट अनेरा फिर नहिं लागे जोर।
भव सागर इक नदी बहत है बिन उतरे जीव बोर ॥
कहे कबीर सुनो भाई साधो जागत कीजे भोर।

३५

मन मेरे मानहि सिख मेरी। जो निज भगति चहै हरि केरी ॥१॥
उर आनहि प्रभु-कृत हित जेते। सेवहि तजे अपनपौ चेते ॥२॥
दुख सुख अरु अपमान बड़ाई। सब सम लेखहि बिपति बिहाई ॥३॥
सुनु सठ काल ग्रसित यह देही। जनि तेहि लागि बिदूषहि केही ॥४॥
तुलसिदास बिनु असि मति आये। मिलहिं न राम कपट लौं लाये ॥५॥

भावार्थ—हे मेरे मन! मेरा उपदेश मान ले। यदि तू अपने हृदय में भगवान की भक्ति चाहता है अर्थात् यदि तुझे भगवद्भक्ति प्राप्त कर पवित्र होना है तो मेरी सीख मानकर अपने सारे विकारों को छोड़ दे ॥१॥

पहले तो, प्रभु ने तेरे साथ जो-जो भलाई की है उसका हृदय में स्मरण कर, उसके लिए कृतज्ञता प्रकट कर। फिर अहंकार छोड़कर सावधानी से प्रभु की सेवा कर। भाव यह है कि यदि तू प्रमादवश सेवा भी करेगा, तो उसका कुछ फल न होगा सारा किया-कराया मिट्टी में मिल जायगा ॥२॥

सुख दुख मान अपमान सबको एक-सा समझ। इसी समता से तेरी विपत्ति दूर होगी (राग द्वेष को छोड़ दे क्योंकि यही आनन्द का प्रतिरोधक है) ॥३॥

अरे दुष्ट! सुन यह शरीर तो काल का खेवा है न जाने कब मौत इसे अपने फन्दे में फँसा ले इसलिए इस (क्षणभंगुर) शरीर के अर्थ किसी की निन्दा न कर ॥४॥

हे तुलसीदास! जब तक ऐसी बुद्धि ऐसा विचार नहीं आया तब तक श्रीरामजी मिलने के नहीं, क्योंकि वह सकपट प्रेम करने से नहीं, किन्तु सच्ची निष्कपट प्रीति से ही मिलते हैं ॥५॥

शब्दार्थ—कृत=किए हुए। अपतपो = अहंकार। विदूषहि = निन्दा कर।

विशेष—(१) दुख सुख ° बिहार —भगवद्गीता में समभाव पर विस्तार-पूर्वक कहा गया है—

> यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
> शुभाशुभ परित्यागी, भक्तिमान्य स मे प्रिय ॥
> सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो।
> शीतोष्ण सुखदुःखेषु सम सङ्ग विवर्जित ॥
> तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येन केनचित।
> अनिकेत स्थिरमतिभक्तिमान मे प्रियो नर ॥

(२) कालप्रमित —

> माली आवत देखिके कलिया करी पुकार।
> फूली-फूली चुनि लइ कालि हमारी बार ॥'

[कबीरदास

१२७

> मै जानी हरिपद रति नाही। सपनेहुँ नहि बिराग मन माही ॥१॥
> जे रघुबीर चरन अनुरागे। तिन्ह सब भोग राग सम त्यागे ॥२॥
> काम भुजंग डसत जब जाही। विषय-नीब कटु लगत न ताही ॥३॥
> असमंजस अस हृदय बिचारी। बढ़त सोच नित-नूतन भारी ॥४॥
> जब-कब राम-कृपा दुख जाइ। तुलसिदास नहि आन उपाई ॥५॥

भावार्थ—मैं समझ गया कि श्रीहरि के चरणों में मेरा प्रेम नहीं है क्योंकि सपने में भी मेरे मन में वैराग्य का उदय नहीं होता, जब संसार से विरक्ति ही नहीं हुई तब भगवान् में अनुरक्ति कैसे होगी? ॥१॥

जिन्होंने श्रीरामचन्द्रजी के चरणों से प्रीति जोड़ ली है उन्होंने सारे भोग विलासों को रोग की तरह त्याग दिया है ॥२॥

जब जिसे कामरूपी साँप डस लेता है तब उसे विषयरूपी नीम कड़वा नहीं

मान रहा है तनिक समझ तो, उसमें वस्तुतः कितना सुख है ? (भाव यह है कि संसार में जितने भी कुछ विषय-सुख हैं, वे क्षणस्थायी हैं उनका परिणाम महादुःखदायक है) ॥ १ ॥

जहाँ-जहाँ जिस जिस योनि में—पृथिवी पाताल और आकाश में—तूने जन्म लिया वहाँ-वहाँ तूने विषय-सुख की कामना की और वह प्रारब्धवश तुझे मिला भी (क्योंकि जैसी मनशा तैसी दशा) ॥ २ ॥

अब तू अज्ञान में फँसकर मोह ममता में सना हुआ, घट-पट आकाश के सीने में क्यों प्रफुल्लित हो रहा है ? (भाव यह है कि जैसे आकाश का सीना असम्भव है, उसी प्रकार सांसारिक भोग विलासों में आनन्द की आशा करना पागलपन है), हे तुलसी ! यदि तुझे आनन्द-लाभ की ही इच्छा है, तो प्रभु रामचन्द्रजी का गुण-कीर्तन करके पीयूष पान क्यों नहीं करता ? ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—जाय=व्यय । कियत=कितना । वियत=आकाश । नियत=प्रारब्ध । लटयो=लुब्ध सना हुआ ।

विशेष—(१) प्रभु सुजस गाइ पियत—हरि-कीर्तन अमृत रूप है । उसके पान से जीव अमर हो जाता है । सूरदासजी भी इसी सुधा रस के लिए लालायित हो रहे हैं । देखिए—

'सुआ चलु ता बन को रसु पीजै ।
जा बन कृष्ण नाम अमरत रसु, स्रवन-पात्र भरि पीजै ॥'

१ ३

तोसों हौं फिरि फिरि हित प्रिय पुनीत सत्य बचन कहत ।
सुनि मन गुनि समुझि क्यों न सुगम सुमग गहत ॥१॥
छोटो-बड़ो, खोटो खरो जग जो जहँ रहत ।
अपने अपने को भलो कहहु को न चहत ॥२॥
बिधि-लगि लघु कीट अवधि सुख सुखी, दुख दहत ।
पसु लौं पसुपाल ईस बाँधत छोरत, नहत ॥३॥
बिषय मुद निहार भार सिर काँधे ज्यों बहत ।
यो ही जिय जानि मानि सठ, तू साँसति सहत ॥४॥
पायो केहि घृत बिचारु हरिन—बारि महत ।
तुलसी तकु ताहि सरन जाते सब लहत ॥५॥

भावार्थ—रे जीव ! मैं तुमसे बार-बार हितकारी मधुर पवित्र और सत्य वचन कहता हूँ । सुन मन में विचार कर और समझ तू सुगम सुन्दर मार्ग पर क्यों नहीं चलता अथवा सुन-समझकर भी तू सुगम मार्ग क्यों नहीं पकड़ता ? ॥ १ ॥

ए संसार छोटा-बड़ा अच्छा बुरा जो जहाँ संसार में रहते हैं कौन सा उनमें ऐसा कौन होगा जो अपना और अपने परिजनों का भला न चाहता हो ? ॥ २ ॥

ब्रह्मा से लेकर छोटे-छोटे कीड़ों तक सुख से सुखी होते हैं और दुःख से जलते हैं,

सुख दुःख सभी प्राणियों को एक-सा व्यापता है। परमात्मा ग्वाल की नाईं जीव रूपी पशुओं को बाँधता है खोलता है और जोतता है (मोह में बाँधता है, ज्ञान से खोलता है और कर्म रूपी हल में जोत देता है।) ॥ ३ ॥

विषयों के सुख का तनिक दख तो। वे क्या हैं मानो सिर के बोझ को कन्धे पर रखना! भाव यह है कि जैसे कोई सिर पर के बोझ को कंधे पर रखकर, क्षणभर के लिए सुख मान बैठता है और कन्धे पर से, दर्द होने पर, फिर सिर पर रख लेता है, उसी प्रकार तू एक विषय से हटकर दूसरे विषय में फँस जाता है और क्षणिक सुख को आनन्द मान लेता है? इस विषयानन्द में कोई चिरस्थायी आनन्द नहीं, केवल यह भ्रम है। रे शठ! क्या व्यर्थ कष्ट सह रहा है? ॥ ४ ॥

तनिक विचार तो कर मृग जल मथकर घी किसने पाया? तात्पर्य यह कि जिस संसार का वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं, उसमें सच्चा आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है? (यदि तुझे आनन्द ही चाहिए तो) हे तुलसी! तू उसी प्रभु की शरण में जा, जिससे सब प्रकार का आनन्द उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—लगि=से आरम्भ करके। अवधि=तक। पसु-पाल=ग्वाला। नहत=जोतता है। हरिनवारि=मृग-तृष्णा। महत=मथता है।

विशेष—(१) 'पसु लौं नहत'—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'

तथा— [भगवद्गीता

'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामगोसाईं॥'

(२) 'जाते सब नहत'—जिससे सब सुख पाते हैं, यह भी अर्थ लगाया जा सकता है।

१३४

तान हौ बार-बार दव! द्वार परि पुकार करत।
आरति, नति दीनता कहे प्रभु संकट हरत ॥१॥
लोकपाल सोक बिकल रावन डर डरत।
का सुनि सकुचे कृपालु नर सरीर धरत ॥२॥
कौसिक, मुनि-तीय जनक सोच अनल जरत।
साधन कहि सीतल भए ना न समुझि परत ॥३॥
केवट खग सबरि सहज चरनकमल न रत।
सनमुख तोहिं होत नाथ! कुतरु सुफर फरत ॥४॥
बन्धु-बैर कपि बिभीषन गुरु गलानि गरत।
सेवा कहि रीझि राम किये सरिस भरत ॥५॥
सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत।
ताको लिये नाम राम सब को सुढर ढरत ॥६॥

जाने बिनु राम रीति पचि-पचि जग मरत ।
परिहरि छल सरन गये तुलसिहुँ-से तरत ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे नाथ! इसी से मैं तुम्हारे द्वार पर पड़ा बारबार पुकारकर कहता हूँ कि तुम दु:ख नम्रता और दीनता सुनते ही संकट हर लेते हो। (तुम्हारा ऐसा स्वभाव देखकर ही बारबार कहने के लिए मेरा साहस हुआ है, नहीं तो न कहता) ॥ १ ॥

जब रावण के भय से इन्द्र, कुबेर आदि लोकपाल डर गये, तब हे कृपालो! तुम्हें नर-देह धारण करने के लिए किस बात को सुनकर संकोच हुआ था? (दु:ख, नम्रता और दीनता को ही तो) ॥ २ ॥

यह समझ में नहीं आता कि जो विश्वामित्र, अहल्या और जनक चिंता की अग्नि में जले जा रहे थे, वे किस साधन से शीतल हुए? (किस उपाय से निश्चिन्त हुए) ॥ ३ ॥

गुह निषाद, पक्षी (जटायु) शबरी आदि की प्रीति तुम्हारे प्रति स्वाभाविक नहीं थी, किन्तु हे नाथ! तुम्हारे सामने आते ही बुरे-बुरे पेड़ भी अच्छे अच्छे फल फलने लगते हैं! (भाव यह कि निषाद शबरी आदि पापियों के हृदय में धर्म और भक्ति के फल फल उठे। तुम्हारी शरणागति का प्रभाव ही ऐसा है) ॥ ४ ॥

अपने अपने भाई के साथ शत्रुता करने से सुग्रीव और विभीषण दारुण दु:ख से गल जाते थे। हे श्रीराम! तुमने किस सेवा से रीझकर उन्हें भरत के समान प्रिय मान लिया? ॥ ५ ॥

हनुमानजी तुम्हारी सेवा करते करते तुम्हारे ही समान हो गये। हे श्रीराम! उनका (हनुमान का) नाम लेते ही तुम सब पर भली भाँति प्रसन्न हो जाते हो अर्थात् तुम्हारी प्रसन्नता के मुख्य साधक हनुमानजी माने जाते हैं) ॥ ६ ॥

हे नाथ! बिना तुम्हारी (रीझ की) रीति जाने संसार पच पचकर मर रहा है अर्थात् यदि वह यह जान ले कि तुम भक्त-वत्सल और दीनबन्धु हो तो जप तप आदि अनेक दु:साध्य साधना के फेर में वह क्या पड़ने लगे? कपटभाव त्यागकर तुलसी-जैसे जीव भी तुम्हारी शरण में जाने से मुक्त हो जाते हैं, संसार सागर पार कर जाते हैं ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—नति=नम्रता। कौसिक=विश्वामित्र। सफर=सुंदर फल। गरत=गला जाता है। ढुरत=भलीभाँति कृपा करते हो। ढलने का अर्थ द्रवना या पिघलना अर्थात् कृपा करना है।

विशेष—(१) साहब अनुहरत—हनुमानजी शिवरूप माने जाते हैं और तत्त्वत: शिव और राम में कुछ भी अन्तर नहीं है। यों भी वह भगवान् का तात्त्विक स्वरूप जान चुके थे फिर उनमें अन्तर ही क्या रह सकता क्योंकि—

जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई।

(२) इस पद में पुरुषार्थहीन होने पर भी भगवत्कृपा से जीव भाव मुक्त हो जाता है यह दिखाया गया है। इसमें 'परिहरि छल सरन गये' सिद्धान्त वाक्य है।

राग सूहो बिलावल

१३५

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनिहूँ सो तनु तोहिं दियो।
दियो सुकुल जनम, शरीर सुंदर, हेतु जो फल चार को।
जो पाइ पण्डित परम पद पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरतखण्ड समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलप बल्ली चहति है विष फल फली॥१॥

अजहूँ समुझि चित दै सुनु परमारथ।
है हितु सो जगहूँ जाहि ते स्वारथ॥
स्वारथहिं प्रिय, स्वारथ सो का तें, कौन वेद बखानई।
देखु खल, अहि-खेल परिहरि, सो प्रभुहि पहिचानई॥
पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय, तनय सेवक सखा।
प्रिय लगत जाके प्रेम सों बिनु हेतु हित तैं नहिं लखा॥२॥

दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है।
छलहि छाडि सुमिरे छोहु किये ही है॥
किये छोहु छाया कमल कर की भगत पर भजतहि भजै।
जगदीस जीवन जीव को जो साज सब सबको सजै॥
हरिहि हरिता विधिहि विधिता, सिवहि सिवता जो दई।
सोइ जानकी-पति मधुर मूरति, मोदमय मंगलमई॥३॥

ठाकुर अतिहि बडो, सील, सरल, सुठि।
ध्यान अगम सिवहूँ भेटयो केवट उठि॥
भरि अंक भेटयो सजल नैन सनेह, सिथिल शरीर सो।
सुर सिद्ध मुनि कवि कहत कोउ न प्रेमप्रिय रघुवीर सो॥
खग, सबरि, निसिचर, भालु, कपि किये आपु ते वंदित बडे।
तापर तिन्ह कि सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गडे॥४॥

स्वामी को सुभाव कह्यो सो जब उर आनिहैं।
सोच सकल मिटिहैं, राम भलो मन मानिहैं॥
भलो मानिहैं, रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।
ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै॥
जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन-ग्राम रामहिं धरि हिये।
विचरहि अवनि अवनीस चरनसरोज-मन मधुकर किये॥५॥

भावार्थ—अरे! जिन्होंने तुझे देवताओं से भी दुष्प्राप्य शरीर दिया है उन प्रेमस्वरूप श्रीराम से तूने प्रेम नहीं किया! उन्होंने अच्छे वंश में सुंदर कुल में, तुझे जन्म दिया और सुंदर शरीर भी दिया है, जो अर्थ धर्म, काम और मोक्ष का कारण है

जिसे पाकर तू ज्ञान द्वारा चारो फल पा सकता है, जिसे पाकर ज्ञानी लोग शिव तथा विष्णु का परम पद प्राप्त करते हैं कैलास और वैकुण्ठ धाम पाते हैं। फिर यह देह भारत में है जो लोग ही देवलोक गया है। कैसा ही सुन्दर स्थान है! साथ ही सगति भी ... किन्तु अरे कायर! तेरी कुबुद्धिरूपी कल्पनता यहाँ भी विषले फल फला रही है। भाव यह है कि जिस बुद्धि से तुझे धर्म, ज्ञान, भक्ति आदि साधन सिद्ध करने चाहिए थे उससे तू सांसारिक विषयों को, जो विषरूप हैं, खोजता फिरता है॥१॥

अब ... समझ ले। मन लगाकर परमार्थ विषय को सुन। वही बात इस संसार में श्रेयस्कर और उसीसे अपना स्वार्थ भी सिद्ध होता है। यदि तुझे स्वार्थ ही अच्छा लगता ... तो परमार्थ विषय की ओर चित्त नहीं जाता तो समझ तो वह कौन है, जिससे स्वार्थ प्राप्त होगा, और वह जिसका निरूपण करते हैं (श्रीरघुनाथजी को पहचान) अरे देख! देख, साँप के साथ मत खेल संसारी विषयों में मन न लगा, क्योंकि एक दिन वे साँप की तरह तुझे डस लेंगे। तू तो उस स्वामी को पहचान उससे प्रीति लगा, जिसके प्रेम के कारण पिता माता गुरु स्वामी अपनी आत्मा, पुत्र सेवक मित्र आदि सब प्रिय जान पड़ते हैं। उस निष्कारण स्नेह करनेवाले प्रभु को तूने नहीं देखा! ॥२॥

वे हितकारी स्नेही प्रभु दूर नहीं हैं। देख वह तेरे हृदय में ही है। छल छोड़कर उनका स्मरण तो कर। वह तुझ पर कृपा अवश्य करेगा। भाव यह है कि परमात्मा तो पास हृदय में तो है किन्तु बीच में कपट का परदा पड़ा हुआ है इसीसे उसका साक्षात्कार नहीं होता। पर्दा हटा नहीं कि प्रियतम का दर्शन हुआ। वह कृपा करके अपने जनों पर करकमल की छाया किए रहता है सदा उनकी रक्षा करता है। जो उसे भजता है वह भी उसे भजता है। वह सारे संसार का स्वामी है। जो सबके लिए सब प्रकार की सुखसामग्री प्रस्तुत करता है जिसने विष्णु को विष्णुत्व ब्रह्मा को ब्रह्मत्व और शिव को शिवत्व प्रदान किया, अर्थात् विष्णु को पालन-पोषण शक्ति ब्रह्मा को सृजन शक्ति और शिव को संहार शक्ति जिसने दी है, यह वही जानकी वल्लभ रघुनाथजी की आनन्दस्वरूपिणी कल्याणमयी सुन्दर मूर्ति है ॥३॥

उनके ऐसा स्वामी लोकपालों का भी अधीश्वर होते हुए वह सुशील सुन्दर और सरल भी अनुपम है। जिसका ध्यान शिव को भी दुर्लभ है उसने उठकर निषाद को छाती से लगा लिया। जब उसे अपने हृदय से लगाया तब आँखें छलछला आई, प्रेम से शरीर शिथिल हो गया। तभी तो देव सिद्ध मुनि और कवि कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी के समान कोई भी प्रेम प्रिय नहीं है जितना उन्हें प्रेम प्यारा लगता है उतना और किसी को भी नहीं। उन्होंने पक्षी (जटायु) शबरी राक्षस (विभीषण), रीछ (जाम्बवान आदि) और बन्दरों (सुग्रीव प्रभृति) को अपने से भी अधिक बड़ा मान्य पूज्य बना दिया। (अब शील की ओर देखिए) इस पर भी जब उनके द्वारा की हुई सेवा को वे याद करते हैं तब सकोच के मारे गड़े से जाते हैं कि हमने इन्हें कुछ भी नहीं दिया हम इनसे ऋणमुक्त नहीं हो सकते,

सदा इनके ऋणी हो रहेंगे ॥४॥

स्वामी रघुनाथजी का जो शील-स्वभाव मैंने अभी कहा है उसे जब तू ह[illegible]
में धारण करेगा उस पर मनन करेगा तब तेरी सारी चिन्ताएँ दूर हो जायेंगी
निश्चिन्त हो जायेगा और प्रभु रामचन्द्रजी भी प्रसन्न होंगे। वह तो तभी प्रसन्न
जायेंगे, जब तू हाथ जोड़कर मस्तक झुकायेगा, प्रणाम करेगा। तुलसीदास! तु
क्षण जन्म लेने का फल पा जायेगा, तेरा जीवन सार्थक हो जायेगा। राम-नाम
स्मरण कर, उनकी गुणावली का कीर्तन कर और हृदय में ध्यान धर। जग
अभिराम के चरण-कमलों में अपने मन को भ्रमर के समान बसाकर पृथ्वी पर तू नि[illegible]
विचरण कर। तात्पर्य यह कि जब तू भगवन्नाथ हो जायगा तब तुझे संसार में
भी भय-स्थान न रहेगा सर्वत्र निर्भय विचर सकेगा, कारण कि तब तेरी दृष्टि[illegible]
संसार हरिमय हो जायगा ॥५॥

शब्दार्थ—पुरारि=शिव। मुरारि=विष्णु। धातु=[illegible]। मुदि=मुद[illegible]
ग्राम=समूह।

विशेष—(१) 'भरतखंड'—भारतवर्ष कर्मभूमि है। सत्कर्मों का संपादन
पवित्र भूमि पर जितना हो सकता है उतना अन्यत्र नहीं। इस भूमि पर एक-एक
में आध्यात्मिकता अहिंसा, शान्ति आदि की व्यापकता मानी गई है। कहा है—

'दुर्लभं भारते जन्म।'

गोस्वामीजी के हृदय में भारतवर्ष के प्रति कितनी गहरी भक्ति भावना थी
[illegible] पद में प्रकट होता है। रामचरितमानस में भी अयोध्या की प्रशंसा में भी [illegible]
महिमामयी कही है। श्रीरामचन्द्रजी स्वयं श्रीमुख से कहते हैं—

'सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावनपुरी रुचिर यह देसा॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेदपुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥'

(२) 'अहिगन'—[illegible] यद्यपि [illegible] विष से पूर्ण होता है तथापि [illegible]
कभी वह भी पकड़ा जाता है, और उसे [illegible] सहना है और उसका [illegible]
नहीं चलता। इसी प्रकार संसार के व्यवहार में बड़े-बड़े चतुर भी ठग जाते हैं
उन्हें रोना पड़ता है। कभी कभी बड़े-बड़े बुद्धिमान ऋषियों और देवेन्द्रों का भी [illegible]
पाया जाता है।

(३)—'सिसु मातु [illegible] कथा'—[illegible] न हो तो किस लिए, पुत्र [illegible]
प्रिय लगे? [illegible] भी बुरा लगने लगता है। [illegible]
न पिता प्रिय है न पुत्र। और आत्मा परमात्मा का अंश है परमानन्द-स्वरूप है। [illegible]
सिद्ध हुआ कि [illegible] प्रिय-अप्रिय वस्तु का सुख [illegible]। [illegible]
बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रि[illegible]
भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय [illegible] इत्यादि।

(४) [illegible]—[illegible] दूर रहते हैं। [illegible]
[illegible]

(३) [illegible] —

[illegible] । [illegible] ॥

[illegible] हरि [illegible] । प्रेम ते प्रगट होहिं भगवाना ॥'

(४) [illegible] — [illegible] कबीर साहब ने [illegible] सदा [illegible] है —

> [illegible] फकीरा ।
> [illegible] ।
> हिरदे में महबूब है [illegible] ।
> पावेगा कोई जौहरी गुरु [illegible] ।
> [illegible] प्रेम का [illegible] ।
> आठ पहर झूमत रहै जस मगल हाथी ॥
> [illegible] ।
> [illegible] राजा क्या रंका ।
> धरती को आसन किया तम्बू असमाना ।
> चोला पहिरा [illegible] रह एक समाना ॥
> सबद को सतगुरु मिले कछु रहि न तबाही ।
> कह कबीर निज घर चलो, जह काल न जाही ।

१३६

> जिय जब ते हरि तें बिलगान्यो । तब ते देह गेह निज जान्यो ॥
> मायाबस स्वरूप बिसरायो । तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो ॥
> पायो जो दारुन दुसह दुख सुख लेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो ।
> भव सूल सोक अनेक जेहि तेहि पथ तू हठि हठि चल्यो ॥
> बहु जोनि जनम जरा बिपति, मतिमंद हरि जान्यो नहीं ।
> श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़ ! बिचारु लखि पायो कहीं ॥१॥
> आनँद सिंधु मध्य तव बासा । बिनु जाने कस मरसि पियासा ॥
> मृग भ्रम बारि सत्य जिय जानी । तहँ तू मगन भयो सुख मानी ॥
> तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ ।
> निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि अब आयो तहाँ ॥
> निरमल निरंजन, निरबिकार उदार सुख तैं परिहर्यो ।
> निःकाज राज बिहाइ नृप इव सपन-कारागृह पर्यो ॥२॥
> तैं निज करम डोरि दृढ़ कीन्ही । अपने करनि गाँठि गहि दीन्ही ॥
> तातें परबस पर्यो अभागे । ता फल गरभ-बास दुख आगे ॥
> आगे अनेक समूह संसृति, उदरगत जान्यो सोऊ ।
> सिर हेठ, ऊपर चरन संकट बात नहिं पूछै कोऊ ॥

सोनित-पुरीष जो मूत्र मल कृमि, कदमावृत सोवई।
कोमल सरीर, गँभीर वेदन, सीस धुनि धुनि रोवई ॥३॥
तू निज करम-जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो।
बहुविधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हो। परम कृपालु ग्यान तोहि दीन्हो ॥
तोहि दियो ग्यान विवेक जनम अनेक की तब सुधि भई।
तेहि ईस की हौं सरन जाकी विषम माया गुनमई ॥
जेहि किये जीव निकाय बस रसहीन दिन दिन अति नई।
सो करौ वेगि सँभार श्रीपति बिपति महँ जेहि मति दई ॥४॥
पुनि बहुविधि गलानि जिय मानी। अब जग जाइ भजौं चक्रपानी ॥
ऐसेहि करि बिचार चुप साधी। प्रसव-पवन प्रेरेउ अपराधी ॥
प्रेरयो जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यो।
सो ग्यान, ध्यान, बिराग अनुभव जातना पावक दह्यो ॥
अति खेद ब्याकुल अल्पबल छिन एक बोलि न आवई।
तव तीव्र कष्ट न जान कोउ, सब लोग हरषित गावई ॥५॥
बाल दसा जेते दुख पाये। अति असीम नहिं जाहि गनाये ॥
छुधा ब्याधि बाधा भइ भारी। बेदन नहिं जानै महतारी ॥
जननी न जानै पीर सो, केहि हेतु सिसु रोदन करै।
सोइ करै बिबिध उपाय जातें अधिक तुव छाती जरै ॥
कौमार, सैसव अरु किसोर अपार अघ को कहि सकै।
ब्यतिरेक तोहि निरदय महाखल ! आन कहु को सहि सकै ॥६॥
जोबन जुवती सँग रँग रात्यो। तब तू महामोह मद मात्यो ॥
ताते तजी धरम मरजादा। बिसरे तब सब प्रथम विषादा ॥
बिसरे बिषाद, निकाय-संकट समुझि नहिं फाटत हियो।
फिरि गर्भगत आवर्त संसृतिचक्र जेहि होइ सोइ कियो ॥
कृमि भस्म बिट-परिनाम तनु तेहि लागि जग बैरी भयो।
परदार परधन, द्रोहपर संसार बाढ़ै नित नयो ॥७॥
देखत ही आई बिरधाई। जो तैं सपनेहुँ नाहिं बुलाई ॥
ताके गुन कछु कहे न जाहीं। सो अब प्रगट देखु तनु माहीं ॥
सो प्रगट तनु जरजर जराबस, ब्याधि सूल सतावई।
सिरकंप इंद्रिय-सक्ति प्रतिहत, बचन काहु न भावई ॥
गृहपालहू तें अति निरादर खान पान न पावई।
ऐसिहु दसा न बिराग तहँ तृष्णा-तरंग बढ़ावई ॥८॥

यहि कृपा सों महाभय तेरे। जनम मरन के बहुत घनेरे॥
चारि खानि संतत अवगाही। अजहुँ न करु विचार मन माहीं॥
अजहूँ विचारु विकार तजि भजु राम जन-सुखदायकं।
भवसिंधु दुस्तर जलरथं भजु चक्रधर सुरनायकं॥
बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार माया तारनं।
कैवल्य पति जगपति रमापति प्रानपति गतिकारनं॥९॥

रघुपति भक्ति सुलभ सुखकारी। सो त्रयताप सोक भय-हारी॥
बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवै जब सोई॥
जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये॥
जिनके मिले दुख सुख समान अमानतादिक गुन भये।
मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोध तें सहजहिं गये॥१०॥

सेवत साधु द्वैत भय भागे। श्रीरघुवीर चरन-लय लागे॥
देह जनित विकार सब त्यागे। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागे॥
अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिये।
संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये॥
निरमल निरामय एकरस तेहि हरष-सोक न व्यापई।
त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥११॥

जो तेहि पथ चलै मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सहाई॥
जो मारग स्रुति साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै॥
पावै सदा सुख हरि कृपा संसार आसा तजि रहै।
सपनेहुँ नहीं दुख द्वैत दरसन बात कोटिक को कहै॥
द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पाइये।
यह जानि तुलसीदास त्रासहरन रमापति गाइये॥१२॥

पदच्छेद—नि + अंजन। नि + आमय। कर्दम + आवर्त।

भावार्थ—हे जीव! भगवान् से जब से तू अलग हुआ तभी से तूने शरीर को अपना मान लिया। (यों तो जीव परमात्मा का ही अंश है किन्तु प्रकृति के अधीन होकर उसे परमात्मा से पृथक् होना पड़ा और उससे पृथक् होते ही उसमें देहाभिमान आ गया, जिससे स्त्री-पुत्रादि में ममत्व उत्पन्न हुआ)। माया के वश होकर तूने निजस्वरूप, सच्चिदानन्द—रूप भुला दिया और उसी भ्रम के कारण तुझे असह्य क्लेश भोगने पड़े। भाव यह है कि माया के संसर्ग से जीव में अनेक विकार—राग-द्वेष सुख दुःख—आ मिले, आनन्द सदा के लिए विदा ले गया। अविद्या के कारण संसार दुःखमय भासने लगा, बड़ा ही कठिन असहनीय दुःख मिला। सुख का तो स्वप्न में भी नाम न रहा। जिस मार्ग में अनेक कष्ट और शोक भरे पड़े हैं, उसी पर से तू हठपूर्वक बार बार गया रोकने पर

भी न माना। अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ा। बुढ़ापा भी आया, विपत्तियाँ भी झेलनी पड़ी। पर रे मूढ़! तूने इतने पर भी भगवान् को न पहचाना। विचारकर, भला लक्ष्मीपति श्रीरामचन्द्रजी को छोड़कर तुझे क्या कहीं शान्ति मिली? शान्ति और सुख का स्थान मूलाधार तो परमात्मा ही है। उसे छोड़कर कहीं भी आनन्द प्राप्त होने का नहीं। १॥

रे जीव! तेरा निज निवास आनन्द के सागर में है तू आनन्दस्वरूप परब्रह्म से भिन्न नहीं है। उस आनन्द-सागर को भूलकर तू क्यों प्यासा मर रहा है? मृगजल को तूने सत्य मान रखा है, और उसी में आनन्द समझकर मगन हो रहा है। वहाँ तू नहा रहा है। वहाँ तो तीन काल में भी पानी नहीं और उसी को पी रहा है! अपना स्वाभाविक अनुभवगम्य स्वरूप भूलकर आज यहाँ आ पड़ा है। भाव यह कि संसार मृगजल के समान भ्रममात्र है। यहाँ तू विषयरूपी झूठे जल में प्रसन्नतापूर्वक स्नान कर रहा है। विषयों में फँसकर अपने आपको शीतल या शान्त करना चाहता है पर यहाँ शीतलता कहाँ? जब जल ही नहीं, संसार का तत्त्वतः 'अस्तित्व' ही नहीं तब वहाँ सुख कहाँ से आवेगा? तूने उस आनन्द को त्याग दिया, जो विशुद्ध अविनाशी और निर्विकार है। व्यर्थ ही तू राजाओं के जैसा राज्य छोड़कर स्वप्नरूपी कारागृह में आ पड़ा है। आत्मानन्द त्यागकर विषय पंक में आ फँसा है ॥२॥

तूने स्वयं ही अज्ञान से अपनी कर्मरूपी रस्सी मजबूत कर ली और अपने ही हाथों उसमें अविद्या की पक्की गाँठ भी लगा दी। इसी से अरे अभागे! तू परतन्त्र पड़ा हुआ है। और इसका फल क्या होगा? आगे गर्भ में रहने का दुःख। सारांश यह कि न तू इच्छा कर कर कर्म करता और न परतन्त्र होकर मोहाधीन होकर गर्भ में बारबार आता। संसार में जो बहुतर दुःखों के समूह हैं उन्हें वही जानता है जो माता के पेट में पड़ चुका है। गर्भ में सिर तो नीचे रहता है और पैर ऊपर। इस संकट के समय कोई बात भी नहीं पूछता। रक्त मल मूत्र विष्ठा कीड़ा और कीचड़ से घिरा हुआ (गर्भ में) सोता है। तेरा शरीर तो सुकुमार है पर कष्ट बड़ा दारुण है जो सहा नहीं जाता। सिर धुन धुनकर तू रोता है। भाव यह है कि वहाँ तू अकेला ही है, बचानेवाला वहाँ कौन बैठा है? जैसे कर्म किए उनके फल चखने ही पड़ेंगे। सो चख, चाहे तू सिर पटक, चाहे छाती पीट ॥३॥

जहाँ कहीं भी तू कर्म जाल में फँसा, वहाँ भी श्रीहरि ने तेरा साथ नहीं छोड़ा। प्रभु ने नाना प्रकार से तेरा पालन-पोषण किया, और परम कृपालु स्वामी ने तुझे वहीं ज्ञान भी दिया। जब तुझे ज्ञान विवेक मिला तब पिछले अनेक जन्मों की बातें तुझे याद आईं। तब कहने लगा कि जिसकी यह त्रिगुणात्मिका दुस्तरमाया है अर्थात् जिसकी आज्ञा से माया ने जगत में तीनों गुणों का पसारा फैलाया है उसी परमेश्वर की मैं शरण हूँ। जिसने जीव-समूह को अपने वश में कर लिया है जिस माया ने उन्हें परतन्त्र बनाकर नीरस अर्थात् आनन्दरहित भी कर दिया है और जो प्रतिदिन नई ही दिखाई देती है ऐसी मायारूपी लक्ष्मी के पति ने गर्भ-वास की इस विपत्ति में ऐसा विवेक बुद्धि दी है वही इससे परित्राण करें ॥४॥

फिर बहुत भाँति से मन में ग्लानि मानकर तू कहने लगा कि अबकी बार (संसार में) आकर चक्रधारी भगवान् का अवश्य भजन करूँगा। ऐसा विचारकर ज्योंही तू गर्भ

हुआ, प्रसव काल के पवन ने तुझ अपराधी को प्रेरित किया, उस प्रचंड पवन के द्वारा प्रेरित होकर तूने अनेक कष्टों को सहा। जो ज्ञान, ध्यान, वैराग्य और आत्मानुभव तुझे प्राप्त हुआ था वह सब कष्ट की अग्नि में जल गया मारे कष्ट के तू सब भूल गया। अत्यन्त दुःख के कारण तू व्याकुल हो गया और अत्यन्त बल रहने के कारण एक क्षण तेरे गले से आवाज भी नहीं निकली। उस समय का तेरा दारुण दुःख असह्य प्रसव काल के कष्टों के मारे मूर्च्छित-सा हो गया पर लोगों को यह आनन्द हुआ कि 'धन्य भाग आज, अमुक के पुत्र उत्पन्न हुआ है' और लगे हर्षित हो बधाई गाने॥५॥

फिर बचपन में तुझे जो जो कष्ट हुए वे असह्य हैं। भूख रोग और अनेक बड़ी बड़ी बाधाओं ने तुझे घेर लिया पर तेरी मा को उन सब कष्टों का यथार्थ पता नहीं लगा। माँ ने यह नहीं जाना कि बच्चा किसलिए रो रहा है वह तो बार बार वही उपाय करती है, वही उपचार करती है जिसमें तेरी छाती और भी अधिक जले। भाव यह कि हुआ तो है तुझे रोग, पर वह तुझे बुरी नजर लगी समझकर ओझा से झड़वाती है, टोटका करती है, अथवा है तो प्रपञ्च पर वह तुझे भूखा समझकर दूध पिलाती है। शैशव, कुमारावस्था एवं किशोरावस्था में तूने अगणित पाप किए जिनका वर्णन कौन कर सकता है। रे निर्दय! महादुष्ट! तुझे छोड़कर और कौन ऐसा होगा, जो उन्हें सह सकेगा? ॥६॥

जवानी चढ़ते ही तू स्त्री की आसक्ति में फँस गया। भारी अज्ञान और मद में मतवाला हो गया। उस नशे में तूने धर्म मर्यादा को लात मार दी। पहले कितने कष्ट भोगे थे उन सबको भुला दिया और लगा पाप पर पाप कमाने। कष्टों के समूह भूल जाने के कारण आगे और क्या-क्या दुःख होंगे यह समझकर तेरी छाती फट नहीं जाती? जिससे फिर फिर गर्भ के गड्ढे में गिरना पड़े संसार चक्र में आना पड़े वही तूने बार बार किया इन्द्रियों के वश में पड़कर सदा विषयों में ही चित्त लगाया। जो शरीर कीड़े, राख, विष्ठा आदि का परिणाम है उसीके लिए तू सारे संसार का शत्रु बन बैठा! इस क्षणिक शरीर को आराम देने के लिए तूने किन किनके साथ भला बुरा बर्ताव नहीं किया? दूसरे की स्त्री दूसरे का धन दूसरों से द्रोह यही संसार में नित्य नया करता गया। दूसरे की सुन्दर स्त्री को भारी मान को और विपुल धन को देखकर तेरे मन में कुढ़न पैदा हुई उसे चाहा जब न मिला छल बल किया और बैर बिसाह लिया। यही तूने नित्य किया यही तेरी जीवन चर्या रही ॥७॥

देखते-ही देखते बुढ़ापा आ पहुँचा जिसे तूने स्वप्न में भी नहीं बुलाया था स्वप्न में इच्छा न की थी कि मैं बूढ़ा हो जाऊं। तू तो यही चाहता था कि सदा जवान ही बना रहूँ। उस बुढ़ापे की बातें कुछ कहने की नहीं। उन सबको प्रत्यक्ष अपने शरीर में देख ले! देख शरीर तो जीर्ण हो गया है। बुढ़ापे के कारण रोग और शूल सता रहे हैं। सिर हिल रहा है! इन्द्रियों की शक्ति चली गई है। बोलना तेरा किसी को सुहाता नहीं। घर की रखवाली करनेवाला कुत्ता तक तेरा मान नहीं करता, औरों की तो गिनती ही क्या? अथवा कुत्ते से भी अधिक तेरा निरादर होता है। न तुझे कोई समय पर खाना देता है न पानी। इतनी सारी दुर्दशा होने पर भी तुझे वैराग्य नहीं होता। इतने पर भी तृष्णा की लहरों को तू बढ़ाता ही जाता है॥८॥

तेरे अनेक जन्मों की, अनेक योनियों की, कथा कौन कह सकता है? यह तो एक

यह समझकर तुलसीदास भी भव भय दूर करनेवाले श्रीलक्ष्मीरमण भगवान का गुण कीर्तन करता है ॥१२॥

विशेष—(१) जिय बिलगायो —जीव और ब्रह्म, तत्वत एक ही है किन्तु माया के आवरण से जीव अपना स्वरूप भूल गया है। परमात्मा प्रकृति के साथ रत होने के कारण जीव रूप' मे स्व स्वरूप भूल गया है। वास्तव में, ब्रह्म और जीव अभिन्न है।

(२) अब जग चक्रपानी —यहाँ चक्रपानी शब्द का बहुत सार्थक प्रयोग हुआ है। जीव माया के जाल मे फँसा पडा है। उसे वह जाल छिन भिन्न कराना है। सुदर्शन चक्रधारी विष्णु भगवान ही उस जाल को काट सकेंगे, इसीलिए वह 'चक्रपाणि नाम से भगवान को पुकारता है।

(३) जोबन रग रात्यो —उन्मत्त यौवनावस्था पर सुकवि बिहारी का यह दोहा प्रसिद्ध है—

इक भींजे चहले परे, बूडे बहे हजार।
किते न ऐगुन नर करत, नय बय चढती बार॥'

(४) धर्ममर्यादा'—मनुस्मृति मे धर्म मर्यादा का निम्न लक्षण दिया है—

इज्याध्ययनदानानि तप सत्य धृति क्षमा।
अक्षोभ इति मार्गोऽय धर्मश्चाष्टविध स्मृत॥'

धर्मशास्त्र में धर्म के भिन्न भिन्न प्रकार से भिन्न भिन्न अग कहे गये है। परन्तु सत्य क्षमा अहिंसा आदि कुछ ऐसे अग है जो ससार के सारे ही धर्मों में किसी न किसी रूप में पाये जाते है उनमे कोई अन्तर नही आया है।

(५) सो प्रगट बनावई —वृद्धावस्था पर अनेक कवियो की सूक्तियाँ मिलती हैं। नीचे का श्रीशकराचार्य का जरा चित्रण कितना सजीव है —

'अग गलित पलित मुड दशनविहीन जात तुण्डम।
वृद्धो याति गृहीत्वा दड तदपि न मुचत्याशा पिडम॥
भज गोविन्द भज गोविन्द गोविन्द भज मूढमते॥'

(६) गृहपालहु तें अति निरादर —इसके तीन अर्थ हो सकते है —

१ घर के मालिक से भी अर्थात लडके बालो से भी अपमान हो रहा है।

२ घर की रखवाली करनेवाला कुत्ता तक अपमान करता है।

३ कुत्ते से भी अधिक अपमान लोग करते है।

(७) सतसग —ससार-सागर से पार होने और भगवद्भक्ति प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन सतसग ही है। भगवद्गीता में कहा है भागवत पुराण कहता है उपनिषद् गाते हैं सन्त भी पुष्टि कर रहे है कि सतसग करो सतसग करो बिना सतसग के गति नहीं।

साधु हमारी आतमा हम साधुन के जीव।
साधुन मद्धे यों रहैं, ज्यों पय मद्धे घीव॥
तथा—तुलसी' सगति साधु की कटै कोटि अपराध।
एक घरी आधी घरी आधी में पुनि आध॥'

(८) 'देह-जनित लेखिये'—गीता में इस अवस्था को ब्राह्मी अवस्था कहा गया है। इस अवस्था को पहुँचे हुए स्थितप्रज्ञ के लक्षण हैं—

'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥'

हे अर्जुन जब जीव मन की सारी इच्छाएँ छोड़ देता है, मन में किसी तरह की भी इच्छा नहीं करता तब अपनी आत्मा में ही सन्तुष्ट होकर रहनेवाला प्राणी 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है। जो दुःखों में घबराता नहीं सुखों की कामना नहीं करता, राग, भय और क्रोध जिसने जीत लिये हैं उसे 'स्थितधी मुनि' कहते हैं। जिसका मन सब ओर से हट गया है, शुभाशुभ में जिसे हर्ष और द्वेष नहीं रहा उसकी बुद्धि स्थिर समझनी चाहिए। यह ब्राह्मी अवस्था भगवद्भक्त को सहज ही प्राप्त हो जाती है, किन्तु भक्ति निष्कपट और विशुद्ध होनी चाहिए।

(९) 'त्रैलोक्यपावन'—सूरदासजी कहते हैं—

'जा दिन सन्त पाहुने आवत।
ता दिन तीरथ कोटि आप ही ताके गृह चलि आवत॥'
'ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः।'

[श्रीमद्भागवत

(१०) यह पद बड़ा ही सुन्दर प्रभावपूर्ण ज्ञान वैराग्य और भक्ति रस से परिप्लुत है। इसमें गोसाइंजी ने अपने सिद्धान्त का भली भाँति प्रतिपादन किया है। जीव की पूर्वापर दशा, उसका उद्धार और मुक्ति का उपाय सभी कुछ इसमें आ गया है। यह पद मुखाग्र कण्ठाग्र और हृदयस्थ करने योग्य है।

इति पूर्वार्द्ध समाप्त

विनय-पत्रिका

(उत्तरार्द्ध)

राग बिलावल

जापै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै।
होइ न बाँको बार भक्त को जो कोउ कोटि उपाय करै ॥१॥
तकै नीच जो मीचु साधु की सो पामर तेहि मीचु मरै।
वेद विदित प्रहलाद कथा सुनि को न भगति पथ पाउँ धरै ॥२॥
गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन ध्रुव अविचल कबहूँ न टरै।
अंबरीष की साप सुरति करि अजहुँ महामुनि ग्लानि गरै ॥३॥
सों धौं कहा जु न कियो सुजोधन अबुध आपने मान जरै।
प्रभु प्रसाद सौभाग्य विजय जस पांडुतनै बरिआइ बरै ॥४॥
जोइ जोइ कूप खनैगा पर कहँ सो सठ फिरि तेहि कूप परै।
सपनेहुँ सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सोउ बिष फरनि फरै ॥५॥
हैं काके द्वै सीस, ईस के जो हठि जन की सीव चरै।
तुलसिदास रघुबीर-बाहुबल सदा अभय, काहू न डरै ॥६॥

भावार्थ—यदि कृपालु रघुनाथजी की कृपा है तो औरों के वैर करने से क्या बिगड़ सकता है? हरिभक्त का बाल भी बाँका होने का नहीं चाहे कोई करोड़ों उपाय क्यों न करे। १॥

जो नीच किसी साधु की मौत सोचता है वह पापी स्वयं उसी मौत से मरता है। प्रह्लाद की कथा वेदों में प्रसिद्ध है। उसे सुनकर ऐसा कौन होगा जो भक्ति-मार्ग पर पैर न रखेगा भक्ति के सिद्धान्त को न मानेगा? भाव यह है कि प्रह्लाद को उनके पिता हिरण्यकशिपु ने अनेक प्रकार से कष्ट दिये पर भगवत्कृपा से वह उनका बाल भी बाँका न कर सका उलटा आप ही मारा गया। ऐसी भक्तवत्सलता सुनकर कौन अभागा होगा, जो ऐसे प्रभु की भक्ति न करेगा? ॥२॥

श्रीहरि ने गजेन्द्र का उद्धार किया विभीषण को राज्य-सिंहासन पर बिठाया, ध्रुव को अटल पद दिया, और अम्बरीष भक्त की तो बात ही निराली है। उनका महा-

मुनि (दुर्वासा) ने जो शाप दिया था, उसे स्मरण कर वह अब भी ग्लानि से गले जाते ह, लाज से मर जाने ह (अपना पराभव देखकर कि अम्बरीष पर भगवान का अनुग्रह ह, दुर्वासा शाप देकर पछताया करते ह) ॥३॥

दुर्योधन न कौन सा अनिष्ट करने को छोडा, जो करते बना सभी किया, मूख अपने ही घमड में जलता रहा। पर भगवत्कृपा स सौभाग्य विजय और कीर्ति ने पाडवों का ही हठपूवक अपनाया, पाडवो को सौभाग्य मिला, विजयलाभ हुआ और कीर्ति भी मिली ॥४॥

जो भी दूसरा के लिए कुआँ खोदेगा वह दुष्ट स्वय उसमें गिरेगा। सन्तो क साथ बैर बिसाहनेवाल को स्वप्न में भी सुख-चैन मिलने का नही। उसक लिए ता कल्पवृक्ष भी विषले फल ही फलेगा, अर्थात वह जिस उपाय से सुख चाहेगा, उसमे उस दु ख ही मिलेगा ॥५॥

किसके दो सिर ह, जो भगवदभक्त की सीमा लाँघे ? (हा किसीके दो सिर हा तो ठाक ह एक कट जायगा, तो एक तो बच रहेगा। पर यह असम्भव ह) हे तुलसीदास! जिसे श्रीरघुनाथजी के बाहुबल का भरोसा ह जा उनका शरणागत ह, वह सदा ही निर्भय ह ॥६॥

शब्दार्थ—मीच = मौत। बरिआई = हठपूवक। खनगो = खादगा। सींव = सीमा।

विशेष—(१) 'जोप सरै' कविवर रहीम ने भी यही कहा ह—

'कहु 'रहीम' का करि सक ज्वारी चोर लबार।
जो पत राखनहार है माखन चाखनहार॥'

(२) कोटि उपाय—जप यत्र मत्र तत्र, नाटक चटक, प्रयाग, छल कपट, अस्त्र शस्त्र शाप विष आदि।

(३) 'सो धौं सुजोधन'—दुर्योधन न पाण्डवो के साथ सभी छलबल किए। जुए में हराया, द्रौपदी का सतीत्व भ्रष्ट करना चाहा, लाक्षा गृह में पाडवो को जलाने का प्रयत्न किया, और भी अनेक प्रकार के षडयत्र रचे।

(४) इस पद से मिला जुला सूरदासजी का भी एक पद ह—

जाकौं मनमोहन अग कर।
ताकौ केस खस नहिं सिर तें जो जग बर पर॥
हिरनकसिपु परहारि थक्यौ, प्रहलाद न नेकु डर।
अजहूँ लौं उत्तानपाद-सुत राज करत न मर॥
राखी लाज द्रुपद-तनया की, कोपित चीर हर।
दुर्योधन को मान भग करि, बसन प्रवाह घर॥
बिप्र भवन नग अध कूप दिय, बलि पढ़ि बेद छरै।
दीनदयालु कृपालु कृपानिधि, काप कह्यौ पर॥
जो सुरपति कोप्यो ब्रज ऊपर, कहियौ कछु न सर।
राखे ब्रजजन नद के लाला, गिरि धरि बिरद धर॥

जाकी बिरद है गव प्रहारी, सो कसे बिसर ।
'सूरदास' भगवत - भजन करि, सरन गहे उधर ॥

१३८

कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक, धरिहौ नाथ सीस मेरे ।
जेहि कर अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेर ॥१॥
जेहि कर-कमल कठोर सभुधनु भजि जनक ससय मेटयो ।
जेहि कर कमल उठाइ ब्रधु ज्यो, परम प्रीति केवट भेटयो ॥२॥
जेहि कर कमल कृपालु गीध कहँ पिंड देइ निज धाम दियो ।
जेहि कर बालि बिदारि दास हित,कपिकुल पति सुग्रीव कियो ॥३॥
आयो सरन सभीत बिभीषन, जेहि कर कमल तिलक कीन्हो ।
जेहि कर गहि सर चाप असुर हति अभयदान देवन्ह दीन्हो ॥४॥
सीतल सुखद छाहँ जेहि कर की, मेटति पाप ताप, माया ।
निसि बासर तिहि कर सरोज की, चाहत तुलसिदास छाया ॥५॥

भावार्थ—हे रघुनाथजी ! हे प्रभो ! क्या आप कभी अपने उस कर-कमल को मेरे सिर पर रखेंगे जिससे आपने दुखी भक्तो को अभय कर दिया था जब उन्होंने पराधीन हो केवल एक बार आपके नाम का स्मरण किया था ? ॥१॥

जिस कर कमल से शिवजी का कठोर धनुष तोडकर आपने महाराजा जनक का सन्देह दूर किया था और जिस कर-कमल से गुह निषाद को, भाई के समान उठाकर बड़े ही प्रेम से छाती से लगा लिया था ॥२॥

हे कृपालो ! जिस कर-कमल से आपने (जटायु) गीध को (पिता के समान) पिंडदान देकर अपना परमलोक प्रदान किया था और जिस हाथ से अपने सेवक के लिए बालि को मारकर सुग्रीव को वानर वंश का अधिपति बना दिया था ॥३॥

जिस कर-कमल से अपने समय शरणागत विभीषण का राज्याभिषेक किया था और जिसमें धनुष-बाण चढ़ाकर राक्षसों का संहार कर देवताओं को अभयदान दिया था ॥४॥

तथा जिस कर कमल की शीतल आनन्ददायक छाया से पाप संताप और माया का नाश हो जाता है हे नाथ ! आपके उसी कर-कमल की छाया (रक्षा) तुलसीदास रात दिन चाहता है ॥५॥

शब्दार्थ—बारक = एक बार । तिलक = राज्याभिषेक । छाया = रक्षा से तात्पर्य है ।

१३९

दीनदयालु दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है ।
देव, दुवार पुकारत आरत, सबकी सब सुख हानि भई है ॥१॥

प्रभु के बचन बेद बुध सम्मत, मम मूरति महिदेवमई है।
तिनकी मति रिस राग-मोह मद लोभ लालची लीलि लई है ॥२॥
राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति, प्रीति परमिति पति हेतुवाद हठि हेर हई है ॥३॥
आस्रम बरन-धरम बिरहित जग, लोक बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत, अपने अपने रंग रई है ॥४॥
साति, सत्य, सुभरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट-कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है ॥५॥
परमारथ स्वारथ, साधन भये अफल, सफल नहिं सिद्धि सई है।
कामधेनु धरनी कलि गोमर बिबस बिकल जामति न बई है ॥६॥
कलि-करनी बरनिये कहालौं करत फिरत बिनु टहल टई है।
तापर दात पीसि कर मीजत को जानै चित कहा ठई है ॥७॥
त्यों त्यों नीच चढ़त सिर ऊपर, ज्यों-ज्यों सीलबस ढील दई है।
सरुप बरजि तरजिये तरजनी कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है ॥८॥
दीजै दादि देखि नातो बलि मही मोद मंगल रितई है।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं, राम अवध चितवनि चितई है ॥९॥
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि, करुना-बारि भूमि भिजई है।
राम राज भयो काज सकुन सुभ राजा राम जगत बिजई है ॥१०॥
समरथ बडो, सुजान सुसाहब, सुकृत सेन हारत जितई है।
सुजन सुभाव, सराहत सादर, अनायास सासति बितई है ॥११॥
उथपे थपन, उजारि बसावन गई बहोरि बिरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत आरतिहर, अभयबाह केहि-केहि न दई है ॥१२॥

भावार्थ—हे दीनदयालो! पाप दारिद्रय और दुःख इन तीनो दारुण तापों—भौतिक, दैविक दैहिक—से दुनिया जली जा रही है (इसके पहले के पदों में गोसाइंजी ने अपने ही दुःख निवेदन किए हैं, अब इस पद में सारे ही संसार की व्यथा निवेदन कर रहे हैं)। हे भगवन्! यह आर्त्त आपके द्वार पर पुकार रहा है। देखिए, सभी का सब प्रकार से सुख जाता रहा सभी लोग दुखी दिखाई देते हैं ॥१॥

वेदों और पंडितों की सम्मति है और आपने भी स्वयं श्रीमुख से कहा है कि ब्राह्मण मेरी ही प्रतिमूर्ति हैं अर्थात वे 'ब्रह्ममय' हैं। पर उनकी बुद्धि को क्रोध, राग मोह अहंकार, लोभ और लालच ने निगल लिया है उनमें सम, संतोष दया, शम शान्ति तो रहे नहीं उलटे वे कामी, क्रोधी, मूढ़ और लोभी हो गये हैं ॥२॥

इसी तरह राजसमाज (क्षत्रिय-जाति) करोड़ों बुरी-बुरी बातों से भर गया है। वे लूटना, मारना, पर-स्त्री एवं पर धन का अपहरण करना अन्याय करके प्रजा का

सताना आदि) नित्य नई-नई पापपूर्ण चाल चल रहे हैं। नास्तिकता ने राजनीति, धर्म शास्त्र, श्रद्धा, भक्ति और कुल मर्यादा की प्रतिष्ठा को, दूद-दूदकर चौपट कर दिया है। सारांश यह कि जहाँ नास्तिकवाद फैल गया तथा परमेश्वर में अस्तित्व को न माना, वहाँ धर्म कर्म कैसे रह सकते हैं? क्योंकि परमात्मा ही सब धर्मों का मूल है ॥३॥

संसार में न तो आश्रम धर्म रहा है और न वर्ण धर्म रहा। लाज और वेद दोनों की मर्यादा नष्ट होती जा रही है न कोई लोकाचार मानता है, न वर्णाश्रम धर्म रहा। प्रजा का ह्रास हो रहा है पाखंड और पाप में वह लिप्त हो रही है। सभी अपने अपने रंग में मस्त हैं अथवा मनमुखी हो गये हैं, कोई किसी की नहीं सुनता ॥४॥

शांति सत्य और सुभाग क्षीण हो गये हैं और दुराचार और छल-कपट बढ़ रहे हैं। सज्जन कष्ट पाते हैं और सज्जनता चिन्ता-ग्रस्त है। दुष्ट मौज कर रहे हैं और दुष्टता चैन में है ॥५॥

परमार्थ स्वार्थ में परिणत हो गया धर्म के नाम पर लोग पेट पालने लगे हैं। साधन निष्फल हो रहे हैं। सिद्धियाँ भी सच्ची नहीं उतरती हैं, झूठी जान पड़ती हैं, अथवा उनमें कोई सचाई नहीं रही है। कामधेनु रूपी पृथिवी कलियुग-रूपी कसाई के हाथ में ऐसी व्याकुल हो गई है कि उसमें जो बोया जाता है जमता ही नहीं (इसीसे जहाँ तहाँ दुर्भिक्ष पड़ रहे हैं) ॥६॥

कलियुग की करनी कहाँ तक बखानी जाय? यह बिना काम का काम करता फिरता है। इतने पर भी दाँत पीस पीसकर हाथ मल रहा है मन ही मन मसोस रहा है कि अभी तो मैंने किया ही क्या। न जाने इसके मन में अभी और क्या-क्या है ॥७॥

ज्यों-ज्यों आप शील के कारण इसे ढील दे रहे हैं क्षमा करते जाते हैं त्यों त्यों यह नीच सिर पर चढ़ता जाता है। जरा क्रोध करके इसे डाँट तो दीजिए। यह तरजनी दिखाते ही कुम्हड़ की बतिये की नाई मुरझा जायेगा दब जायगा ॥८॥

आपकी बलैया लेता हूँ, देखकर न्याय कर दीजिए नहीं तो अब पृथिवी आनन्द मंगल से खाली हो जानेवाली है। आनन्द मंगल का, यदि ऐसी ही दशा रही तो, कहीं नाम भी न सुनाई पड़ेगा। ऐसा कीजिए कि जिससे लोग सौभाग्यशाली होकर प्रेमपूर्वक कहें कि श्रीरामजी ने हमें कृपादृष्टि से निहारा है ॥९॥

मेरी यह विनती सुनकर, भगवान ने मेरी ओर आनन्द से देखा और मुस्करा कर करुणा के जल से पृथिवी को भिगो दिया (शान्ति की वर्षा कर दी।) बस, राम राज्य होने से सब काम सुलभ हो गये। शुभ शकुन होने लगे, क्योंकि महाराजा रामचन्द्र जी जगदविजयी हैं। भाव यह कि जगदविजयी श्रीराम के आगे कायर कलि की एक भी न चली ॥१०॥

सर्वशक्तिमान सुचतुर स्वामी ने पुण्य की सेना को हारने से जिता लिया, पापों का क्षय कर दिया। उनके सद्भक्त स्वभाव से ही आदरपूर्वक उनकी सराहना करते हैं कि स्वामी ने सहज ही सारी यातनाएँ दूर कर दीं ॥११॥

आपका बाना सदा से ही चला आता है कि जिनका कहीं ठौर ठिकाना न हो, उन्हें संस्थापित करना (जैसे, विभीषण और सुग्रीव को राजसिंहासन पर बिठा देना),

उजडे हुए का बसाना और गई हुई वस्तु को फिर से दिला देना (जैसे रावण से डरे हुए देवताओं को फिर से स्वर्ग में बसा देना)। हे तुलसी! दुखियों के दुःख हरनेवाले भगवान ने किस किसको अभय बाँह नहीं दी? ॥१२॥

शब्दार्थ—दुरित=पाप। दुनी=दुनिया। तई=तच गई है। महिदेव=ब्राह्मण से आशय है। परमिति=परम्परा की रीति। हेतुवाद=नास्तिकवाद। हई=हनी नाश की। रई=रंगा, अनुरक्त हुई। सीदत=कष्ट पाता है। खलई=दुष्टता। सइ=सहा सच्ची। गामर=गऊ मारनेवाला कमाई। बई=बोई हुई। टई=काम। जई=छोटा-सा फल, जिसे बतिया कहते हैं। दाद=न्याय। रितई=खाली। उथपे थपन=उजडे हुए का बसानेवाला। सदई=सदा ही।

विशेष—(१) 'दीनदयालु तई है'—गोसाइंजी के हृदय में जगत के कल्याण की शुभभावना कितनी प्रबल थी। जगत के दुःखों को वह एक क्षण भी नहीं सह सकते थे। 'कवितावली' में भी उन्होंने इसी आशय के उदात्त कवित्त कहे हैं जैसे—

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोचबस
कहैं एक एकन सों कहा जाइ का करी?
वेदहू पुरान कही लोकहूँ बिलोकियतु
साँकरे समय पै राम, रावरे कृपा करी।
दारिद दसानन दबाय दुनी दीनबन्धु,
दुरित दहत देखि तुलसी हहा करी॥'

(२) दलि नातो बलि'—किसी किसी ने इसे राजा बलि और उनका पृथिवी दानवाला' संकेत माना है, किन्तु यह खींचातानी है। स्पष्ट अर्थ तो नातो का नहीं तो' और बलि का 'बलि का बलिहारी है।

(३) 'अभय बाँह'—अभय दान, निर्भय कर देना।

'निर्भय वल्लभ पद।'

[१४०]

ते नर नरकरूप जीवत भव भजन-पद विमुख अभागी।
निसिबासर रुचि पाप, असुचि मन, खलमति, मलिन, निगमपथ-त्यागी ॥१॥
नहिं सतसंग, भजन नहिं हरि को, स्रवन न राम-कथा अनुरागी।
सुत बित-दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी ॥२॥
तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि सठ, हठि, पियत विषय विष माँगी।
सूकर-स्वान सृगाल सरिस जन, जनमत जगत जननि दुख लागी ॥३॥

भावार्थ—वे अभागे मनुष्य संसार में नरकरूप होकर जी रहे हैं जो जन्म मरण रूप भव भय से छुडा देनेवाले श्रीहरिचरणों से विमुख हैं। दिन रात उनकी रुचि पापों में ही रहती है। मन उनका अशुद्ध रहता है। उन दुष्टों की बुद्धि मलिन रहती है और उन्होंने वेदोक्तमार्ग छोड दिया है ॥१॥

न तो वे [illegible] का [illegible] करते हैं, न भगवद्भजन [illegible] और न उनके [illegible] को श्रीराम की कथा [illegible] है। [illegible] और [illegible] उनकी बुद्धि (पता नहीं) कभी [illegible] नहीं, उनके मन में [illegible] को भी [illegible] का [illegible] नहीं होता ॥२॥

हे तुलसीदास ! [illegible] को [illegible] (बार बार [illegible] की कामना करके) [illegible] सूअर, कुत्ते और [illegible] के समान इस [illegible] में [illegible] के लिए ही जन्म लेते हैं ॥३॥

[illegible]—[illegible] संसार का [illegible] करने [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

१४१

रामभद्र ! रघुनायक ! सुनिये हौं बिनती कहि केहि करौं ।
अघ अनेक अवलोकि आपने, अनघ नाम अनुमान डरौं ॥१॥
पर दुख दुखी सुखी पर-सुख ते, संत-सील नहिं हृदय धरौं ।
देखि आनकी बिपति परम सुख, सुनि संपति बिनु आगि जरौं ॥२॥
भगति बिराग ग्यान साधन कहि बहुबिधि डहँकत लोग फिरौं ।
सिव-सरबस सुखधाम नाम तव, बेंचि नरकप्रद उदर भरौं ॥३॥
जानत हौं निज पाप जलधि जिय, जल-सीकर सम सुनत लरौं ।
रज सम पर अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरि-सम रज तें निदरौं ॥४॥
नाना बेष बनाय दिवस निसि परबित जेहि-तेहि जुगुति हरौं ।
एको पल न कबहुँ अलोल चित, हित दै पद-सरोज सुमिरौं ॥५॥
जो आचरन बिचारहु मेरो, कलप कोटि लगि औटि मरौं ।
तुलसिदास प्रभु कृपा बिलोकनि गोपद ज्यों भवसिंधु तरौं ॥६॥

भावार्थ—हे रघुकुल श्रेष्ठ श्रीराम ! मैं किस प्रकार आपसे विनती करूँ? अपने पापों की ओर देखकर तथा आपके अनघ अर्थात् पापरहित नाम का अनुमान कर मन-ही-मन में डर रहा हूँ। (इसलिए डरता हूँ कि पाप और पुण्य एक दूसरे से बिलकुल विपरीत हैं। दोनों में पृथिवी आकाश का अन्तर है। रघुनाथजी मुझ पापी का उद्धार कैसे कर सकेंगे?) ॥१॥

दूसरे के दुःख से दुखी और दूसरे के सुख से सुखी होना जो संतों का शील स्वभाव है उसे मैं कभी हृदय में धारण नहीं करता हूँ। (फिर करता क्या हूँ सो सुनिए) दूसरों की विपत्ति देखकर खूब प्रसन्न होता हूँ और दूसरों की संपत्ति देखकर बिना ही आग के ईर्ष्या से जला जा रहा हूँ ॥२॥

भक्ति वैराग्य ज्ञान आदि साधनों का उपदेश देता हुआ अनेक प्रकार से लोगों को ठगता फिरता हूँ। शिव का सर्वस्व आनन्द का धाम जो आपका नाम है, उसे बेचकर (राम नाम जपकर यह सिद्ध करता हूँ कि मैं राम का महान भक्त हूँ) पेट भरता हूँ, उस पेट को जो नरक भजनेवाला है। सारांश यह कि इस पापी पेट के लिए मैं आपके नाम की ओट में अनेक पाप करता हूँ ॥३॥

यद्यपि यह जानता हूँ कि मेरे पाप समुद्र के समान अपार हैं फिर भी जब दूसरों के मुख से अपना जल बिंदु के समान छोटा-सा पाप भी सुनता हूँ तो उनसे भगड़ने लगता हूँ। तात्पर्य यह कि सदा यही चाहता हूँ कि लोग मुझे पापी न कहें धर्मधुरन्धर कहें। और दूसरों के धूल के कण के समान अवगुण को सुमेरु पर्वत के समान महान् मानता हूँ। और यदि उनके गुण पर्वत के समान हैं तो उन्हें धूल के समान तुच्छ देखता हूँ। मतलब यह कि मुझे अपना ही सब कुछ अच्छा लगता है, दूसरों का नहीं, ऐसा स्वार्थी हूँ ॥४॥

अनेक भेष बना बनाकर दिन रात, जैसे-तैसे दूसरों का धन बटोरता फिरता हूँ। कभी, एक क्षण भी निश्चल चित्त से प्रेमपूर्वक आपके चरणारविन्दों का स्मरण नहीं करता ॥५॥

यदि आप मेरे आचरणों पर ही विचार करेंगे, मेरे पापों का लेखा लगाने बैठेंगे तो करोड़ों कल्प तक मुझे खौल-खौलकर मरना पड़ेगा, संसाररूपी कढ़ाई में जलना होगा, जन्म मृत्यु के चक्र से कभी छुटकारा न मिलेगा। हे प्रभो ! पर यदि आप अपनी कृपा-दृष्टि से मेरी ओर देख देंगे तो मैं तुलसीदास इस संसार को गाय के खुर के समान अनायास पार कर जाऊँगा ॥६॥

शब्दार्थ—उर्हंकत = ठगता हुआ। सीकर = बूंद कण। बित = धन। अलात= स्थिर शांत। औटि = खौलकर, जलकर।

विशेष—(१) परदुख-दुखी आगि जरौं—गोसाईंजी ने सन्तों और असन्तों के लक्षण विस्तार से रामचरितमानस में इस प्रकार गिनाये हैं —

> बिषय अलंपट सील-गुनाकर। परदुख दुख, सुख सुख देखे पर॥
> सम, अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामर्ष-हर्ष भय-त्यागी॥
> कोमल चित दीनन पर दाया। मन बच कम मम भक्ति अमाया॥
> सबहिं मानप्रद, आपु अमानी। भरत, प्रान-सम मम ते प्रानी॥
> + × ×
> निंदा-अस्तुति उभय सम ममता मम पदकंज।
> ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुन-मंदिर सुखपुंज॥
> खलन हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा परसम्पति देखी॥
> जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
> × × ×
> काहू की जो सुनहिं बड़ाई। स्वांस लेहिं जनु जूड़ी आई।
> जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी होहिं मानहु जग नृपती॥

(२) 'नानावेष'—मनुष्य पेट भरने के लिए क्या-क्या नहीं करता ? कभी कवि बनता है, तो कभी चित्रकार। कभी साधु-सन्त बन जाता है तो कभी अवधूत फकीर। कभी गुलामी करने लगता है, तो कभी डाका डालता है। कभी उपदेशक बनता है, तो कभी धर्मध्वज महात्मा। कहाँ तक कहा जाय इससे जो कुछ भी हो सकता है वह सब पेट-पूजा के लिए करने को तैयार रहता है।

(४) 'अलोन'—निश्चल शात चित्त से यदि एक भी क्षण भगवन्नाम स्मरण किया जाये तो मुक्ति हाथ जोडे सामने खडी ह । चित्त-वृत्ति निरोधात्मक योग सद्य फल देनेवाला ह ।

१४२

सकुचत हौ अति राम कृपानिधि ! क्योकरि विनय सुनावौं ।
सकल धरम बिपरीत करत, केहि भाति नाथ मन भावौं ॥१॥
जानत हौ हरि रूप चराचर, मै हठि नैन न लावौं ।
अजन-केस सिखा जुवती तहँ लोचन सलभ पठावौं ॥२॥
स्रवननि को फल कथा तुम्हारी यह समझौ, समुझावौं ।
तिन्ह स्रवननि परदोष निरन्तर सुनि सुनि भरि भरि तावौं ॥३॥
जेहि रसना गुन गाइ तिहारे, बिनु प्रयास सुख पावौं ।
तेहि मुख पर अपवाद भेक ज्यो, रटि रटि जनम नसावौं ॥४॥
'करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि', कहि कहि सबहि सिखावौं ।
हौं निज उर अभिमान मोह मद खल मण्डली बसावौं ॥५॥
जो तनु धरि हरिपद साधहि, जन सो बिनु काज गँवावौं ।
हाटक घट भरि धरयो सुधा गृह तजि नभ कूप खनावौं ॥६॥
मन क्रम बचन लाइ कीन्हे अघ, ते करि जतन दुरावौं ।
पर प्रेरित इरषाबस कबहुँक, किय कछु सुभ, सो जनावौं ॥७॥
बिप्र द्रोह जनु बाट परयो हठि, सबसो बैर बढावौं ।
ताहू पर निज मति बिलास सब सतन माझ गनावौं ॥८॥
निगम सेस सारद निहोरि जो अपने दोष कहावौं ।
तौ न सिराहिं कलप सत लगि प्रभु, कहा एक मुख गावौं ॥९॥
जो करनी आपनी बिचारौं, तौ कि सरन हौं आवौं ।
मृदुल सुभाव सील रघुपति को, सो बल मनहि दिखावौं ॥१०॥
तुलसिदास, प्रभु सो गुन नहिं जेहि सपनेहुँ तुमहि रिझावौं ।
नाथ-कृपा भवसिंधु धेनुपद सम, जो जानि सिरावौं ॥११॥

भावार्थ—हे कृपानिधि श्रीराम ! मुझे बडा सकोच हो रहा ह, म किस प्रकार आपको अपनी विनती सुनाऊँ ? जो कुछ भी म करता हूँ, वह सब धम के विरुद्ध ही किया करता हूँ । फिर भला, आपको म क्या प्रिय लगूगा ? तात्पय यह कि आपको तो धर्मात्मा ही प्यारे ह मुझ-सरीखे पापी नहा इससे मुझे आपके सम्मुख आने में सकोच होता ह ॥१॥

यद्यपि म यह जानता हूँ कि भगवान् सवत्र—जड और चत य म—व्यापक ह पर म भगवत-स्वरूप की ओर हठपूवक ध्यान नही देता । म तो अपन नत्ररूपी पतिगों को कामिन रूपी अग्निशिखा में (जलन के लिए) भेजता रहता हू ॥२॥

मैं यह स्वयं समझता हूँ और दूसरों को भी समझाता हूँ, कि इन कानों की सार्थकता तो आपकी कथा सुनने में ही है, पर उन कानों से सदा दूसरों के दोष सुन सुनकर उनमें भर भरकर रखता हूँ ॥३॥

जिस जीभ से आपका गुणानुवाद करके बिना ही परिश्रम के परमानन्द पा सकता हूँ उसी जीभ से मेढक की नाईं दूसरों की निन्दा रटा करता हूँ ॥४॥

मैं यह बात सबको समझा समझाकर सिखाता फिरता हूँ, कि हृदय को सर्वथा शुद्ध बनाओ, तभी भगवान् उसमें वास करेंगे। किन्तु मैंने स्वयं अपने हृदय में अहंकार अज्ञान और मद, इन दुष्टों का ही समाज बसा लिया है। (स्वयं तो महान् दुर्व्यसनी हूँ पर दूसरों को सज्जन बनने का उपदेश देता हूँ) ॥५॥

जिस मानव शरीर को धारणकर भक्त-जन वैष्णव पद प्राप्त करने की साधना करते हैं, उसे पाकर मैं व्यर्थ ही खो रहा हूँ। घर में तो सोने के घड़े में अमृत भरा रखा है पर उसे छोड़कर आकाश में कुआँ खुदवा रहा हूँ। तात्पर्य यह कि यह जो कंचन-सी देह है और जिसमें आत्मस्वरूप अमृत भरा हुआ है, उसे छोड़कर काम-कांचनरूपी मृग जल की खोज में जहाँ तहाँ मारा मारा फिरता हूँ। जिसका अस्तित्व ही नहीं भला उस जगत में सुख की आशा कैसे हो सकती है ? ॥६॥

मन से, कर्म से और वचन से जो जो पाप किए हैं, उन्हें मैं यत्न कर-कर छिपा रहा हूँ। और दूसरों की प्रेरणा से, अथवा ईर्ष्यावश यदि कभी कोई अच्छा काम बन गया तो उसे (ढिंढोरा पीटता हुआ) जताता फिरता हूँ ॥७॥

ब्राह्मणों के साथ द्रोह करना तो मानो मेरे हिस्से में ही पड़ गया है। जबरदस्ती ही सबसे वैर बिसाहता फिरता हूँ। (ये तो मेरे कर्म हैं, किन्तु) यह सब होते हुए भी, अपनी बुद्धि से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करके अपने आपको सन्तों की पंक्ति में गिनता हूँ। यह सिद्ध करना चाहता हूँ कि लोग मुझे सन्त कहें ॥८॥

वेद शेषनाग सरस्वती आदि का निहोरा कर कर भी यदि मैं उनसे अपने दोषों का बखान कराऊँ तब भी हे प्रभो! सौ कल्प तक वे समाप्त होने के नहीं! फिर, मैं एक मुख से उनका क्या वर्णन करूँ ॥९॥

यदि कहो मैं अपनी करनी पर विचार करने लगूँ तो क्या मैं आपकी शरण में आने योग्य हूँ ? मैं इतना भारी पापी हूँ कि आपकी शरण में आ ही नहीं सकता, किन्तु आप रघुनाथजी का स्वभाव कोमल है, और शील असीम है यही बल मन को दिखाता रहता हूँ। तात्पर्य यह कि जब रघुनाथजी ऐसे सुशील और कोमल स्वभाववाले हैं, तो वे मुझ सरीखे पापियों और अपराधियों को शरण में लेकर क्या न उनका उद्धार करेंगे ? बस, यही मन को सदा साहस बँधाता रहता हूँ ॥१०॥

हे प्रभो! इस तुलसीदास के पास ऐसा एक भी गुण नहीं जिसके बल भरोसे पर वह आपको स्वप्न में भी प्रसन्न कर सके। किन्तु हे नाथ! आपकी कृपा के आगे यह संसार सागर गाय के खुर के समान है। यह जानकर मन में संतोष कर लेता हूँ (कि आपकी कृपा से, अपने में कोई साधन न होने पर भी मैं संसार-समुद्र को सहज ही पार कर जाऊँगा) ॥११॥

शब्दार्थ—भावौं = अच्छा लगे। सिखा = दीपक की ज्योति, आग की ज्वाला। सलभ = (शलभ) पतिंगा। तावौं = दढता से भरता हूँ। भेक = मेंढक। खनावौं = खोदता हू। बिलास = आनन्द। सिरावौं = सन्तोष करता हूँ।

विशेष—(१) 'धरम विपरीत'—धर्म का मुख्य स्वरूप सत्य है। सत्य की अवहेलना कर जो कुछ भी किया जाता है वह धर्म विरुद्ध है, सदाचार नहीं, कदाचार है। दंभ अधर्म की जड है, इसीको प्रतिपादन इस पद द्वारा किया गया है।

(२) 'अजन केस सिखा'—इसके दो अर्थ हैं—

१ नेत्रों में अंजन लगाए, सटकारे काले केशवाली, दीपक की ज्योति के समान कामिनी।

२ काजल के समान केश ही जिस स्त्रीरूपी अग्नि की धूम्र शिखा है। साधारणत, नेत्रों और केशों की मोहकता पर ही कामियों का ध्यान जाता है।

(३) हाटक घट खनावौं—सूरदासजी यों कहते हैं—

परम गंगजल छाडि पियासो, दुर्मति कूप खनावै।'

परन्तु इस उक्ति से गोसाइजी की हाटक घट वाली उक्ति कहीं अधिक मनोहारिणी है।

(४) मन क्रम-बचन—पाप पुण्य दोनों ही त्रिविध होते हैं। यहाँ पापों का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है—

१ मानसिक—जैसे परधन परस्त्री आदि पर ध्यान परहानि का चिंतन मन ही मन नास्तिक भाव इत्यादि।

२ कायिक—परस्त्री गमन हिंसा चोरी आदि।

३ वाचनिक—मिथ्या भाषण परनिंदा, कठोर वचन इत्यादि।

(५) मुद्रुत रघुपति को—कदाचित निम्नलिखित श्रीराम की इस प्रतिज्ञा का स्मरण कर गोसाइजी ने यह कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो, ददाम्येतद्व्रतं मम।'

[वाल्मीकि रामायण

१४३

सुनहु राम रघुबीर गुसाईं मन अनीति रत मेरो।
चरन सरोज बिसारि तिहारे, निसिदिन फिरत अनेरो ॥१॥
मानत नाहिं निगम अनुसासन त्रास न काहू केरो।
भूल्यो सूल करम-कोल्हुन्ह तिल ज्यों बहु बारनि पेरो ॥२॥
जहँ सतसंग कथा माधव की सपनेहुँ करत न फेरो।
लोभ मोह मद काम-कोह रत तिन्ह सों प्रेम घनेरो ॥३॥
पर गुन सुनत दाह पर दूषन सुनत हरख बहुतेरो।
आप पाप को नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो ॥४॥

साधन फल स्रुति सार नाम तव, भव सरिता कहँ बेरो ।
सो पर कर काँकिनी लागि सठ, बेंचि होत हठ चेरो ॥५॥
कबहुँक हौं संगति सुभाव तें, जाउँ सुमारग नेरो ।
तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो ॥६॥
इक हौं दीन मलीन हीनमति, बिपति जाल अति घेरो ।
तापर सहि न जाय करुनानिधि, मन को दुसह दरेरो ॥७॥
हारि परयो करि जतन बहुत बिधि, तातें कहत सवेरो ।
तुलसिदास यह त्रास मिटै जब, हृदय करहु तुम डेरो ॥८॥

भावार्थ—हे रामजी ! हे रघुनाथजी ! हे प्रभो ! सुनिए मेरा मन अन्याय में ही लीन रहता है । आपके चरणारविन्दों को भूलकर दिन रात बेकार इधर उधर भटकता फिरता है, विषयों की ओर दौड़ता रहता है ॥१॥

न तो वह वेद की आज्ञा मानता है, और न उसे किसी का डर ही है । कई बार कामरूपी कोल्हू में वह तिलों की तरह पेरा जा चुका है पर अब सारा कष्ट भूल गया है (यह खबर नहीं कि दुष्कर्म करने से फिर वैसी ही दुर्दशा होगी) ॥२॥

जहाँ सन्त समागम होता है अथवा भगवत्कथा होती है, वहाँ स्वप्न में भी मेरा यह मन चक्कर नहीं लगाता, भूलकर भी उधर नहीं जाता । लोभ अज्ञान अहंकार काम और क्रोध में ही जो पगे रहते हैं उन्हीं दुष्टों से वह अधिक प्रेम करता है ॥३॥

दूसरों के गुणों को सुनकर वह (डाह के मारे) जला जा रहा है, और जब दूसरों की बुराई सुनता है तब फूलकर कुप्पा हो जाता है ! आप तो स्वयं पापों का नगर बसा रहा है पर दूसरे के (पापों के) छेदे को भी नहीं देख सकता । भाव यह कि अपने बड़े बड़े पापों पर भी कुछ ध्यान न देकर दूसरों के जरा से पाप पर उसका उपहास उड़ाता है ॥४॥

आपका नाम जो सब साधनों का फलस्वरूप है वेदों का सार है, और संसाररूपी नदी पार करने के लिए बेड़ा रूप है, उसे दूसरों के हाथ में वह दुष्ट कौड़ी कौड़ी के लिए बेचता हुआ हठपूर्वक उनका गुलाम बनता फिरता है एक एक कौड़ी के लिए आपका नाम सुनाता फिरता है ॥५॥

यदि कभी सत्संगवश अथवा दैववश सन्मार्ग के पास जाता भी हूँ तो इन्द्रियों की आसक्ति मन को कुमनोरथरूपी गड्ढे में धकेल देती है ॥६॥

एक तो मैं वैसे ही दीन पापी और दुर्बुद्धि हूँ, विपत्तियों के जाल में फँसा पड़ा हूँ, तिस पर हे करुणालय ! इस मन का असह्य धक्का लग रहा है । भला मैं (निर्बल जीव) इस (प्रबल) मन का जोर का धक्का कैसे सह सकता हूँ ॥७॥

अनेक यत्न कर-कर हार गया इसलिए मैं पहले से ही कह देता हूँ कि तुलसीदास का यह भय (जन्म-मरण का दुःख) तभी दूर होगा जब आप उसके हृदय में निवास करेंगे, केवल आपके ही ध्यान से मन की चंचल वृत्तियों का निरोध सम्भव है ॥८॥

शब्दार्थ—अनुशासन = आज्ञा । कोह—क्रोध । घनेरो = बहुत ज्यादा । छेरो =

खाड़ा, घाटा या गाँव । थरा = बड़ा । पाँजिरो = कोढ़ी, पुनाग । नरो = नाम । खरा = धवरा ।

विशेष—(१) पाँजिरो—'शब्द-सागर' के अनुसार 'पाँजिरा' पशुओं अर्थात् पशु के (पैर के) चौपाई भाग का का रोग कहते हैं, पुनाग का कोढ़िया से तात्पर्य है ।

(२) जतन बहुत विधि नाना कर्म और भक्तिवश्यता गायन ।

१४४

सो धौं को, जो नाम लाज तें नहिं राख्यो रघुबीर ।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि, हरी सकल भव भीर ॥१॥
बेद बिदित, जग बिदित अजामिल बिप्र-बंधु अघ धाम ।
घोर जमालय जात निवार्यो, सुत हित सुमिरत नाम ॥२॥
पसु पामर अभिमान सिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह ।
सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु हर्यो दुसह उर-दाह ॥३॥
ब्याध, निषाद, गीध, गनिकादिक, अगनित औगुन मूल ।
नाम ओट तें राम सबनि की, दूरि करी सब सूल ॥४॥
केहि आचरन घाटि हौं तिन तें रघुकुल भूषन भूप ।
सीदत तुलसिदास निसिबासर पर्यो भीम तम कूप ॥५॥

भावार्थ—ऐसा कौन है जिसे श्रीरघुनाथजी ने अपने नाम की लाज से नहीं अपनाया, और बिना ही कारण के करुणा करनेवाले श्रीहरि ने उसका जन्म मरण भय दूर नहीं कर दिया ? ॥१॥

वेद में प्रकट है और संसार में भी प्रसिद्ध है कि अजामिल, जाति का ब्राह्मण महान पापों का आश्रय-स्थान था महान् पापकर्मा था । किन्तु जब यमलोक जाने लगा, तो उसने अपने पुत्र के बहाने आपका 'नारायण' नाम पुकारा, तब आपने उसे यमलोक जाने से रोक दिया । (धोखे से ही 'नारायण' का स्मरण करने से वह मुक्त हो गया फिर भला जो जानकर हरि नाम-स्मरण करेगा, उसकी सद्गति क्या न होगी ?) ॥२॥

महान् अभिमानी पामर पशु हाथी को मगर ने पकड लिया, तब उसके एक ही बार स्मरण करने पर हे प्रभो ! आप तत्क्षण वहाँ पहुँचे और उसकी असह्य हार्दिक पीडा को दूर कर दिया (उसे दुर्लभ परम पद प्रदान कर दिया ।) ॥३॥

व्याध (वाल्मीकि) निषाद (गुह) गीध (जटायु) गणिका (पिंगला) इत्यादि जीव अगणित दोषों की जड थे किन्तु हे श्रीराम ! आपने अपने नाम की ओट से उनके सारे कष्टों का नाश कर दिया ॥४॥

हे रघुवंश भूषण ! इन सबों से मैं किस आचरण में कम हूँ ? फिर भी मैं तुलसीदास रात दिन भयंकर अज्ञान कूप में पड़ा हुआ दुःख भोग रहा हूँ । (अब आपने बडे बडे दुराचारियों का भी उद्धार कर दिया, तब मुझ पापी को क्यों भुलाए बैठे हो ! मुझे

मो संसार सागर से पार कर दीजिए न) ॥५॥

विशेष—(१) इस पद का, पद १४३ से सम्बन्ध है। उसके अन्त में कहा गया कि 'हृदय करहु तुम डेरा।' यहाँ यह प्रश्न उठता है, कि जब हृदय अपवित्र है तब उसमें भगवान् का 'डेरा' अर्थात् निवास कैसे हो सकेगा? इसके समाधान में यह पद लिखा जान पड़ता है, कि सो धौं को जो नाम लाज तें नहिं राख्यो रघुबीर इत्यादि।

(२) 'तमकूप'—अविद्यारूपी कूप। सत को असत और असत को सत मान लेना, अथवा आत्मा अनात्मा का यथार्थ ज्ञान न होना ही अज्ञान-कूप है।

१४५

कृपासिंधु, जन दीन दुवारे दादि न पावत काहे।
जब जहँ तुमहिं पुकारत आरत, तब तिन्हके दुख दाहे ॥१॥
गज, प्रहलाद, पाडुसुत, कपि सबको रिपु-संकट मेट्यो।
प्रनत बंधु भय बिकल बिभीषन उठि सो भरत ज्यों भेंट्यो ॥२॥
मैं तुम्हरो लेइ नाम ग्राम इक उर आपने बसावौं।
भजन बिवेक, बिराग लोग भले, मैं क्रम-क्रम करि ल्यावौं ॥३॥
सुनि रिसभरे कुटिल कामादिक, करहिं जोर बरिआईं।
तिन्हहिं उजारि नारि-अरि-धन पुर राखहिं राम गुसाईं ॥४॥
सम-सेवा छल दान-दण्ड हौं रचि उपाय पचि हारयो।
बिनु कारन को कलह बड़ो दुख प्रभु सों प्रगटि पुकार्यो ॥५॥
सुर स्वारथी अनीस, अलायक, निठुर, दया चित नाहीं।
जाउँ कहाँ, को बिपति निवारक, भव-तारक जग माहीं? ॥६॥
तुलसी जदपि पोच तउ तुम्हरो, और न काहू केरो।
दीजै भक्ति बाँह बारक ज्यों सुबस बसै अब खेरो ॥७॥

भावार्थ—हे कृपासागर! तुम्हारा यह दीन दास तुम्हारे द्वार पर न्याय क्यों नहीं पा रहा है? (इसका इन्साफ़ क्यों नहीं किया जाता?) जब जहाँ पर दुखिया ने आर्त होकर तुम्हें याद किया तब वहीं पर उसी समय, तुमने उनके दुःख दूर कर दिये (ऐसा तुम्हारा स्वभाव है पर मेरे लिए न जाने क्या तुमने अपनी प्रकृति बदल दी) ॥१॥

गजेन्द्र, प्रह्लाद, पाण्डव, सुग्रीव आदि सभी के शत्रुओं द्वारा दिये गये कष्टों को तुमने दूर कर दिया। भाई रावण के भय से व्याकुल शरणागत विभीषण को उठाकर तुमने भरत की नाईं छाती से लगा लिया ॥२॥

मैं तुम्हारा नाम लेकर अपने हृदय में एक गाँव बसाना चाहता हूँ। उसमें बसाने के लिए मैं धीरे धीरे भजन, विवेक, वैराग्य आदि सज्जनों को इधर उधर से लाता हूँ। (मैं हृदय में जैसे-तैसे सद्भावों को स्थान देता हूँ) ॥३॥

यह सुनकर क्रोधित हो दुष्ट काम क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि जोर जबरदस्ती करते हैं। उन बेचारे भले आदमियों को उजाड़ उजाड़कर, हे प्रभो!

धन-सम्पत्ति आदि भी राजाओं को सामान्तर बना देते हैं (तब
कैसा निर्वाह हो ?) ॥५॥
गए, भजन और सेवा-अनुगमन करके तथा और और भी अनेक उपाय
हैं। (पर वे नहीं पार रहे) बिना ही कारण मैं सदा-सर्वदा खड़े
महान् दुःख को पाता भी भुलाकर तुम्हारे सामने निवेदन कर

(यदि कहा जाय कि अन्य देवताओं को क्या नहीं अपना दुःख सुनाया, तो) वे देवता स्वार्थी, असमर्थ अयोग्य और निष्ठुर हैं। उनका चित्त तनिक भी नहीं पिघलता। कहाँ जाऊँ ? कौन विपत्ति दूर करनेवाला है ? कौन इस संसार-सागर से पार उतारने वाला है ? (कोई भी तो नहीं दीख पड़ता) ॥६॥

तुलसी यद्यपि नीच है पर है तो तुम्हारा ही और किसी दूसरे का गुलाम तो नहीं है। अपना जानकर एक बार भक्तिरूपी बाँह दे दो जिससे तुम्हारे नाम का यह खेड़ा अच्छी तरह आबाद हो जाय। (भाव यह है, कि हृदय में एक तुम्हारी भक्ति के प्रताप से ही ज्ञान, विवेक, वैराग्य आदि सद्भावों का उदय और काम-क्रोधादि का नाश होगा ॥७॥

शब्दार्थ—दादि = न्याय इंसाफ। दाहे = जला दिये, नष्ट किए। ल्यावौं = ले जाऊँ। उजारि = उजाड़कर। अनीस = असमर्थ, नि:शक्त। बारक = बार + एक, एकबार। खेरो = खेड़ा, छोटा सा गाँव।

विशेष—(१) 'कपि'—सुग्रीव से तात्पर्य है।

(२) विभीषन भेटयो—विभीषण ने ज्यों ही यह कहा कि—

दीनदयालु कहावत केसव' हौं अति दीनदसा गह्यो गाढ़ो।
रावन के अघ-ओघ में केसव ! बूड़तहौं कर हीं गहि काढ़ो॥
ज्यों गज की प्रहलाद की कीरति, त्यौंहीं बिभीषन को जस बाढ़ो।
आरत बन्धु ! पुकार सुनो किन, आरत हौं तो पुकारत ठाढ़ो।'

[रामचन्द्रिका

त्योंही श्रीरघुनाथजी ने उसे हृदय से लगा लिया—

अस कहि करत दंडवत देखो। तुरत उठे प्रभु हर्ष बिसेखो।
दीनबचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥

[रामचरितमानस

[१४६]

हौं सब बिधि राम, रावरो चाहत भयो चेरो।
ठौर-ठौर साहिबी होत है, ख्याल काल कलि केरो॥१॥
काल-कर्म इंद्रिय विषय गाहकगन घेरो।
हौं न कबूलत बाधिके मोल करत करेरो॥२॥
बंदि छोर तेरो नाम है बिरुदैत बड़ेरो।
मैं कह्यो तब छल प्रीति कै माँगे उर डेरो॥३॥

नाम ओट अबलगि बच्यो मलजुग जग जेरो।
अब गरीबजन पोषिये, पाइबो न हेरो ॥४॥
जेहि कौतुक (बक) सग स्वान को प्रभु न्याय निबेरो।
तेहि कौतुक कहिय कृपालु ! 'तुलसी है मेरो' ॥५॥

भावार्थ—हे रामजी ! मैं सब प्रकार से आपका दास बनना चाहता हूँ, पर यहाँ तो ठौर ठौर पर साहबी हो रही है। (मन अपनी प्रभुता जमा रहा है, इन्द्रियाँ अलग ही अपना आधिपत्य दिखा रही हैं। अब मैं किस किस की गुलामी करता फिरूँ ?) यह सब कौतुक कलिकाल का है ॥१॥

काल, कर्म और इन्द्रियरूपी ग्राहकों ने मुझे घेर लिया है। जब मैं उनके हाथ बिकना कबूल नहीं करता तब वे मुझे बाँधकर मुझ पर कड़ा दाम चढ़ाते हैं, जैसे-तैसे लालच दिखा दिखाकर अपने अधीन करना चाहते हैं ॥२॥

आपका नाम बंधन से मुक्त कर देनेवाला है और आपका बाना भी बड़ा है। जब मैंने उन (ग्राहकों) से कहा, कि मैं तो रघुनाथजी के हाथ बिक चुका हूँ, तब वे कपटभरा प्रेम दिखाकर मुझसे मेरे हृदय में बसने के लिए जगह माँगने लगे। (अब मैं क्या करूँ ? यदि उन्हें स्थान दिये देता हूँ तो अभी तो वे दीनता दिखा रहे हैं, पर जगह मिलते ही धीरे धीरे उस पर अपना अधिकार भी कर लेंगे, और मुझे धता बता देंगे)॥३॥

अब तक मैं आपके नाम के सहारे बचा रहा (नहीं तो कभी का इन ग्राहकों के हाथ बिक गया होता, इन्द्रिय लोलुप हो गया होता) पर अब यह कलि मुझे परेशान कर रहा है। अतः अब इस गरीब गुलाम का पालन कीजिए, नहीं तो फिर यह खोजने से भी न मिलेगा (कलियुग इसका नाम निशान तक मिटा देगा, 'रामदास' से 'कामदास' बना लेगा) ॥४॥

हे नाथ ! आपने जिस कौतुक से पक्षी (उल्लू अथवा बगुले) और कुत्ते का फैसला कर दिया था, उसी लीला से यह भी कह दीजिए कि तुलसी मेरा है (बस, इतना कह देने से कलियुग का इस पर कुछ भी वश न चलेगा, अपना-सा मुँह लिये चला जाएगा) ॥५॥

शब्दार्थ—करेरो = कड़ा। बिरुदत=बानावाले। मलजुग = कलयुग। जेरो= जेर याने परेशान करना। हेरो=ढूढ़ने पर। बक = बगुला। निबेरो=फैसला कर दिया।

विशेष—(१) 'हौं सब चेरो'—कविवर बिहारी भी यही चाहते हैं—

'हरि तुम सों कीजत यहै, बिनती बार हजार।
जेहि-तेहि भाँति डर्‍यो रहौं, पर्‍यो रहौं दरबार।'

(२) 'ठौर ठौर साहिबी'—नाई की बारात में सभी ठाकुर हो रहे हैं।

(३) इस पद में गोसाइंजी ने 'साहिबी', 'ख्याल', 'कबूलत', 'करेरो' इन फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया है। ये प्रयोग, बोलचाल की भाषा में आने से सरस बन गये हैं।

१४७

कृपासिंधु ताते रहौं निसिदिन मन मारे।
महाराज, लाज आपुही निज जाँघ उघारे ॥१॥

मिले रहैं, मार्‌यो चहैं कामादि संघाती।
मो बिनु रहैं न, मेरियै जारैं छल छाती ॥२॥
बसत हिये हित जानि मैं सबकी रुचि पाली।
कियो कथक को दंड हौं जड़ करम कुचाली ॥३॥
देखी सुनी न आजुलौं अपनायति ऐसी।
करहिं सबै सिर मेरे ही फिरि परै अनैसी ॥४॥
बड़े अलेखी लखि परैं, परिहरे न जाहीं।
असमंजस में मगन हौं, लीजै गहि बाहीं ॥५॥
बारक बलि अवलोकिये, कौतुक जन जी को।
अनायास मिटि जाइगो संकट तुलसी को ॥६॥

भावार्थ—हे कृपासागर! इसीलिए मैं रात दिन मन मारकर रहता हूँ कि महाराज! अपनी जाँघ उघाड़ने से अपनी ही लाज जाती है, अपने हाथों अपना परदा खोलने से खुद ही बेशर्म बनना पड़ता है ॥१॥

यह काम क्रोध आदि साथी मिले भी रहते हैं और मारना भी चाहते हैं ऐसे कपटी हैं! वे बिना मेरे रह भी नहीं सकते अर्थात् जब तक मुझमें 'जीवत्व' भाव है तभी तक काम क्रोध आदि का अस्तित्व है। और मेरी ही छलपूर्वक छाती जलाते हैं। (जिस पत्तल में खाते हैं उसी में छेद करते हैं!) ॥२॥

यह जानकर कि ये मेरे हृदय में बसते हैं प्रेमपूर्वक मैंने इन सबकी रुचि भी पूरी कर दी, अर्थात् सारे विषय भोग चुका हूँ, फिर भी इन दुष्टों और कुचालियों ने मुझे कत्थक की लकड़ी बना रखा है (लकड़ी के इशारे से जैसे कत्थक लड़के को नाच नचाना सिखाता है वैसा मुझे नाचना पड़ता है) ॥३॥

आज तक मैंने ऐसी पराधीनता न तो देखी है, और न सुनी ही है। कर्म तो करते हैं सारे आप और जो कुछ बुराई होती है, वह मेरे मत्थे मढ़ी जाती है। (इन्द्रियाँ भोग विलास करती हैं और कुफल भोगना पड़ता है अनेक जन्मों तक बेचारे जीव को! कैसा अन्याय है!) ॥४॥

ये सब ऐसे विचित्र अन्यायी हैं कि देखने में तो आते नहीं (अज्ञान के मारे इनकी चाल समझ में नहीं आती) और दीख भी पड़ें तो छोड़ने को जी नहीं चाहता। हे प्रभो! इसी दुविधा में पड़ा हूँ। बस, अब हाथ पकड़कर मुझे निकाल लीजिए (नहीं तो, इस संसार-सागर में डूबने ही वाला हूँ) ॥५॥

आपकी बलैयाँ लेता हूँ कृपाकर एक बार अपने इस दास का यह कौतुक तो देखिए। आपके देखते ही तुलसी का दुःख दूर हो जायेगा (क्योंकि ब्रह्मदर्शन मात्र से जन्म-मरण छूट जाता है) ॥६॥

शब्दार्थ—मनमारे=उदास। संघाती=साथी। कथक=कत्थक, नाचनेवाला। दंड=लकड़ी। अनैसी=अनिष्ट। अलेखी=अन्यायी, विचित्र।

विशेष—(१) इस पद में विषयों की दुर्दम्य प्रबलता दिखाई गई है। काम, क्रोध

आदि विषय भारी धोखेबाज हैं। इनके कहे पर चलें तो निर्वाह नहीं और इनसे अलग रहें तो भी गुजारा नहीं। ये नाच-नाचकर भी नहीं छोड़ते। जीव को इनके अधीन होकर, अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। भारी विडम्बना है! भगवत-कृपा से ही इनसे पिंड छूट सकता है।

१४८

कहौं कौन मुँह लाइ कै रघुबीर गुसाईं।
सकुचत समुझत आपनी सब साईं दुहाई ॥१॥
सेवत बस, सुमिरत सखा, सरनागत सो हौं।
गुनगन-सीतानाथ के चित करत न हौं हौं ॥२॥
कृपासिन्धु बन्धु दीन के आरत हितकारी।
प्रनत-पाल बिरुदावली सुनि जानि बिसारी ॥३॥
सेइ न धेइ न सुमिरि कै पद प्रीति सुधारी।
पाइ सुसाहिब रामसो, भरि पेट बिगारी ॥४॥
नाथ गरीबनिवाज है, मैं गही न गरीबी।
तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी ॥५॥

भावार्थ—हे रघुवीर! हे प्रभो! क्या मुँह लेकर आपसे कुछ कहूँ? स्वामी की सौगन्ध है, जब मैं अपनी करनी की ओर देखता हूँ तब संकोच के मारे कुछ कह नहीं सकता ॥१॥

आप सेवा करने से वश में हो जाते हैं, स्मरण करने से मित्र बन जाते हैं, और शरण में आने से सामने प्रकट हो जाते हैं। ऐसे जो आपके गुण-समूह हैं उन पर भी मैं ध्यान नहीं दे रहा हूँ ॥२॥

आप कृपा के समुद्र हैं, दीनों के बन्धु हैं, दुखियों के हितू हैं, और शरणागतों के पालनहार हैं, ऐसी आपकी विरदावली सुनकर और जानते हुए भी मैं भूल गया हूँ ॥३॥

न तो सेवा ही की, और न ध्यान ही किया। स्मरण करके आपके चरणों में सच्चा प्रेम भी तो नहीं किया। आप जैसे श्रेष्ठ स्वामी को पाकर भी मुझसे जितना भी हो सकता, उतना बिगाड़-ही बिगाड़ किया। भाव, अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी ॥४॥

आप दीनोंपर कृपा करनेवाले हैं, पर मैंने दीनता धारण नहीं की। भाव यह है कि देहाभिमान के कारण मुझमें कभी दैन्य भाव नहीं आया, सदा ऐंठ ही बनी रही। फिर दीन वत्सल भगवान कृपा करें तो कैसे? अतः हे नाथ! अब अपनी ओर देखकर जो आपसे बन पड़े, वही कीजिए। सारांश यह, कि आप बिगड़ी के बनानेवाले हैं सो मुझ पर भी कृपा अवश्य करेंगे ॥५॥

शब्दार्थ—हौंहौं = मैं हूँ। धेइ = ध्यान करके। कीबी = कीजिए।

विशेष—(१) मैं गही न गरीबी—स्वर्गीय भट्टजी ने इसका अर्थ यह लिखा है—

'(मैं ऐसा नीच हूँ कि) मुझ गरीबी भी ग्रहण नहीं करती। यह अर्थ सीधा

तानी से किया गया जान पड़ता है। इसका सीधा ज्यों-का-त्यों अर्थ तो यही हो सकता है कि मैंने गरीबी नहीं गही, न कि यह, कि मुझे गरीबी भी नहीं ग्रहण करती।

(२) 'कौरी'—यह बुन्देलखण्डी प्रयोग 'करबी' से मिलता-जुलता है। बिहारी ने भी 'कौरी' का प्रयोग किया है।

१४६

कहाँ जाउँ, कासों कहौं, और ठौर न मेरे।
जनम गँवायो तेरेहि द्वार किंकर तेरे ॥१॥
मैं तो बिगारी नाथ सों आरति के लीन्हे।
तोहि कृपानिधि क्यों बनै मेरी सी कीन्हे ॥२॥
दिन दुरदिन, दिन दुरदसा दिन दुख दिन दूषन।
जबलौं तू न बिलोकिहै रघुबंश बिभूषन ॥३॥
दई पीठ बिनु डीठ मैं, तुम बिस्व बिलोचन।
तो सों तुहीं न दूसरो नत-सोच बिमोचन ॥४॥
पराधीन देव! दीन हौं, स्वाधीन गुसाईं।
बोलनिहारे सों करै बलि बिनय की झाईं ॥५॥
आपु देखि मोहि देखिये जन मानिय साचो।
बड़ी ओट रामनाम की जेहि लई सो बाचो ॥६॥
रहनि रीति राम रावरी नित हिय हुलसी है।
ज्यों भावै त्यों करु कृपा तेरो तुलसी है ॥७॥

भावार्थ—कहाँ जाऊँ? किससे कहूँ! मुझे कोई और ठौर नहीं। तेरे ही दरवाजे पर (पड़े-पड़े) जिन्दगी काटी है और तेरा ही गुलाम रहा हूँ। मतलब यह कि मैं सब तरह से तेरा ही हूँ किसी दूसरे का नहीं ॥१॥

दुःखों से सताये जाने के कारण हे नाथ! मैं तो सारी करनी बिगाड़ चुका हूँ। अब हे कृपानिधि! यदि तूने भी मेरे लिए तथा व्यवहार किया तब तो हो चुका! भाव यह कि मुझसे तो सारा बिगाड़ ही हुआ है अब तेरे हाथ है तू सुधार ले, क्योंकि तू दया का समुद्र है ॥२॥

हे रघुकुल में श्रेष्ठ! जब तक तूने (इस जीव की ओर) नहीं देखा। (कृपा नहीं की) तब तक नित्य ही खोटे दिन नित्य ही बुरी दशा नित्य ही दुःख और नित्य ही दोष भागने रहेंगे ॥३॥

मैं तुझे पीठ दिये फिरता हूँ तुझसे विमुख हो रहा हूँ क्योंकि मैं दृष्टिहीन हूँ अन्धा हूँ पर तू तो संसार मात्र का द्रष्टा है न? भाव यह कि तू मुझसे विमुख कैसे होगा? तुम-सा तू ही है। दूसरा कौन है, जिससे तेरी उपमा दूँ? दीन-दुखियों का संकट दूर करने वाला एक तू ही है ॥४॥

हे देव! मैं परतन्त्र हूँ दीन हूँ पर तू तो स्वतन्त्र है स्वामी है। बलिहारी! (पडज्य

रूप), बोलनेवाले से क्या उसकी परछाई विनय कर सकती है ? अर्थात् यह जड़ चैतन्य विभु से विनती नहीं कर सकता ॥५॥

अतएव तू पहले अपनी ओर देख, तब मेरी ओर देख, तभी इस दास को सच्चा मानना। राम-नाम की ओट बड़ी भारी है। जिस किसी ने भी रामनाम का सहारा लिया वह (जन्म-मृत्यु भय से) बच गया ॥६॥

हे राम ! तेरी रहनी और तेरी रीति सदा मेरे हृदय में नित्य उमंग भरती रहती है, तेरा शील स्वभाव विचारकर मैं मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहा हूँ, कि अब मेरी सारी बिगड़ी बन जायेगी। बस, यह तुलसी तेरा है जैसे भी हो, इस पर कृपाकर, इसे तू अंगीकार कर ले ॥७॥

शब्दार्थ—किंकर = सेवक। आरति के लीन्हें = क्लेशित होने के कारण। दिन= नित्य से तात्पर्य है। छाइ = छाया। बाँचो = बच गया।

विशेष—(१) 'कृपा'=श्रीभगवद्गुणदर्पण में 'कृपा' का लक्षण निम्नलिखित माना गया है—

'रक्षणे सर्वभूतानामहमेवपरो विभुः ।
इति सामर्थ्य संधानं कृपा सा परमेश्वरी ॥'

(२) पराधीन गुसाइँ—ब्रह्म-जीव के सम्बन्ध में गोसाईजी ने रामचरित मानस में स्पष्ट लिखा है—

'परबस जीव, स्वबस भगवंता। जीव अनेक, एक श्रीकंता ॥'
यहाँ, सांख्य का प्रतिपादन किया गया है, न कि अद्वैत वेदान्त का।

१५०

रामभद्र ! मोहिं आपनो सोच है अरु नाहीं।
जीव सकल संताप के भाजन जग माहीं ॥१॥
नातो बड़े समर्थ सो इक ओर किधौं हूँ।
ताको मोसे अति घने, मोको एकै तूँ ॥२॥
बड़ी गलानि हिय हानि है सर्वग्य गुसाईं।
कूर कुसेवक कहत हौं सेवक की नाईं ॥३॥
भलो पोच राम को कहैं मोहिं सब नरनारी।
बिगरे सेवक स्वान ज्यों साहिब सिर गारी ॥४॥
असमंजस मन को मिटै सो उपाय न सूझै।
दीनबंधु कीजै सोई बनि परै जो बूझै ॥५॥
बिरदावली बिलोकिये तिन्हमे कोउ हौं हो।
तुलसी प्रभु को परिहरयो सरनागत सोहौं ॥६॥

भावार्थ—हे कल्याण-स्वरूप श्रीराम ! मुझे अपना सोच है भी, और नहीं भी है। कारण कि जितने भी जीव हैं वे सभी संसार में दुःख के भाजन हैं, सभी **दुखी हैं।**

मुझे सोच तो इस बात का है कि हाय ! मैं संसार सागर में ही डूबा पड़ा हूँ अभी तक मेरा उद्धार नहीं हुआ। और निश्चिन्त इसलिए हूँ कि जब सभी जीवों की मेरी ही जैसी दशा है तो मुझे (कर्मफल भोगने में) कुछ चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥१॥

पर यह तो बताइए कि, क्या आप-सरीखे बड़े समर्थ के साथ सिर्फ एक ही, (मेरी ही) ओर से सम्बन्ध है ? क्या, जिस प्रकार मैं आपको अपना मानता हूँ क्या आप मुझे न मानेंगे ? (एकांगी ही प्रेम रखेंगे क्या ?) इसलिए आपके लिए तो मुझ-जैसे अनेक हैं किन्तु मेरे लिए तो एक आप ही हैं। (आप चाहें तो मुझसे भले ही निरपेक्ष हो जाएँ, पर मैं आपसे विमुख होने का नहीं) ॥२॥

हे नाथ ! आप तो घट घट की जानते हैं मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है और हृदय में इसे मैं एक हानि भी समझता हूँ कि हूँ तो मैं दुष्ट और कुसेवक पर बातें ऐसी कर रहा हूँ, जैसे कोई सच्चा सुसेवक करता है। (मेरा यह बनावटीपन आपके आगे कैसे छिप सकता है, क्योंकि आप तो सर्वज्ञ हैं) ॥३॥

भला हूँ या बुरा पर कहते तो सभी स्त्री-पुरुष मुझे 'राम का' ही हैं ! सेवक और कुत्ते के बिगड़ने से स्वामी के ही सिर गालियाँ पड़ती हैं। (तात्पर्य यह कि यदि मैं खोटाई करूँगा, तो लोग यही कहेंगे कि बुरा हो उस राम का जिसके ऐसे ऐसे नीच सेवक हैं) ॥४॥

मुझे वह उपाय भी नहीं सूझ रहा है कि जिससे चित्त की यह दुविधा दूर हो जाय (अर्थात मेरी नीचता दूर हो जाय और आपको भी कोई बुरा न कहे) अब हे दीन बन्धो ! आपको जो समझ पड़े और जो बन सके, वही (मेरे साथ) कीजिए ॥५॥

तनिक अपनी विरुदावली की ओर तो देखिए ! क्या मैं कहीं उसमें स्थान पा सकता हूँ ? (भाव यह है कि आप दीनबन्धु हैं, तो क्या मैं दीन नहीं हूँ आप पतित पावन हैं तो क्या मैं पतित नहीं हूँ आप प्रणतपालक हैं तो क्या मैं प्रणत नहीं हूँ ? इनमें से) इस तुलसी को छोड़ भी देंगे तो भी यह उन्हीं के सामने शरण में जाकर पड़ा रहेगा और कहीं भी न जायेगा ॥६॥

शब्दार्थ—भद्र=कल्याण। पोच=नीच। गारी=गाली। असमंजस=दुविधा। बिरुद=बाना। सोहैं=सामने।

विशेष—(१) जीव ... जगमाहीं—क्योंकि जैसा कर्म करेंगे, वैसा फल भोगेंगे —

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

(२) 'असमंजस'—यह दुविधा कि मैं खोटा हूँ अतः मालिक पर भी बट्टा लगता है खरा हो नहीं सकता, क्योंकि स्वभाव से ही मुझमें खोटाई भरी है। यह भी चाहता हूँ कि मैं चाहे जैसा बना रहूँ पर मेरे कारण मेरे मालिक की बदनामी न हो, सो भी नहीं हो सकता, दिन रात इसी असमंजस में पड़ा सोचा करता हूँ।

(३) 'कीजै सोई बूझ'—यही बन पड़ेगा कि अपने सेवक पर आप ही कृपा करेंगे, क्योंकि यदि दंड देंगे तो संसार आप पर हँसेगा और कहेगा कि यह कैसा स्वामी है जो अपने सेवक की दुर्दशा चुपचाप खड़ा देख रहा है ! इसमें भी बदनामी का डर है इसलिए कृपा ही करते बनेगी।

(४) तुलसी सोहीं'—क्योंकि—

'चुम्बक के पीछे लग्यो फिरत अचेतन लोह।'

१५१

जो पै चेराई राम की करतो न लजातो।
तौ तू दाम कुदाम ज्यों कर कर न बिकातो ॥१॥
जपत जीह रघुनाथ को नाम नहिं अलसातो।
बाजीगर के सूम ज्यों खल खेह न खातो ॥२॥
जौ तू मन, मेरे कहे राम-नाम कमातो।
सीतापति सनमुख सुखी सब ठाँव समातो ॥३॥
राम सोहात तोहिं जो, तू सबहिं सोहातो।
काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहातो ॥४॥
राम नाम अनुरागही जिय जो रतिआतो।
स्वारथ परमारथ पथी तोहिं सब पतिआतो ॥५॥
सेइ साधु सुनि समुझिकै पर पीर पिरातो।
जनम कोटिको कांदलो हृद-हृदय थिरातो ॥६॥
भव मग अगम अनंत है बिनु स्रमहि सिरातो।
महिमा उलटे नाम की मुनि कियो किरातो ॥७॥
अमर अगम तनु पाइ सो जड़ जाय न जातो।
होतो मंगल-मूल तू अनुकूल बिधातो ॥८॥
जो मन, प्रीति प्रतीति सों राम-नामहिं रातो।
तुलसी रामप्रसाद सों तिहुँ ताप न तातो ॥९॥

भावार्थ—हे जीव! जो तू श्रीरामचन्द्रजी की गुलामी करने में न लजाता, तो खरा दाम होकर भी खोटे दाम की तरह हाथों-हाथ न बिकता फिरता। भाव यह कि तू है तो परमात्मा का अंश, पर अपना स्वरूप भुला देने के कारण अनेक योनियों में भटकता फिरता है ॥१॥

यदि तू जीभ से श्रीराम का नाम जपने में आलस्य न करता, तो आज तुझे बाजीगर के सूम के समान धूल न फाँकनी पड़ती। (जैसे बाजीगर, जब उसे कोई कंजूस खेल देखने पर भी कुछ नहीं देता, तब उसके नाम से काठ के पुतले के मुँह में धूल डाल कर गालियाँ सुनाता है उसी प्रकार यदि तू भगवन्नाम-स्मरण करने में कंजूसी न करता खुले दिल से दिन रात नाम जपता, तो तुझे गालियाँ न खानी पड़तीं, धूल न फाँकनी पड़ती, तेरी ऐसी दुर्दशा न होती) ॥२॥

यदि तू मेरे कहने से राम-नाम कमाता रामनाम रूपी धन संग्रह करता तो श्री जानकी-वल्लभ रघुनाथजी तुझे अपनी शरण में ले लेते तू सुखी हो जाता और सर्वत्र तेरा आदर होता तेरा लोक बन जाता और परलोक भी ॥३॥

जो तुझे श्रीरामजी अच्छे लगते होते, तो तू भी सबको अच्छा लगता। काम, क्रोध आदि जितने (इस जीव के) शत्रु हैं वे तुझ पर क्रोध न करते, बल्कि तेरे अनुकूल हो जाते ॥४॥

यदि श्रीराम-नाम से ही तू मन से प्रीति जोड़ता लगाता तो स्वार्थ और परमार्थ दोनों के ही बटोही तुझ पर निरादर न करते। अर्थात् संसार और परलोक दोनों में ही तू सुखी होता ॥५॥

जो तू संतों की सेवा करता एवं दूसरों की पीड़ा सुन और समझकर दुखी होता तो तेरे हृदय रूपी तालाब में जो मनरूप जल का मल जमा है वह नीचे बैठ जाता, तथा मन परम निर्मल हो जाता ॥६॥

संसार का मार्ग अगम्य है, इसे पार करना महान् दुष्कर है, किन्तु (उपर्युक्त आचरण करता हुआ) तू बिना ही श्रम के उसे पार कर जाता। क्योंकि श्रीराम का उल्टा भी नाम लेने की महिमा ने (वाल्मीकि) को मुनि बना दिया था। भाव यह कि जब उलटे नाम का यह प्रभाव है तब सीधा नाम जपने से क्या नहीं बन जाएगा ॥७॥

अरे जड़! तेरा यह देवों को भी दुर्लभ (मानव) शरीर यों ही व्यर्थ न चला जाता तू कल्याण का मूल बन जाता। अर्थात् ब्राह्मी अवस्था को पहुँच जाता और दैव भी तुझ पर कृपा करता ॥८॥

अरे मन! यदि तू प्रेम और विश्वास से राम-नाम में लौ लगा देता तो हे तुलसी! श्रीराम कृपा से तीनों तापों में कभी न जलता ॥९॥

शब्दार्थ—चराई=सेवा। राह=धून। कारनी=कारण प्रेरक। कोहातो=गुस्सा करता। रतिमातो=प्रीति करता। पिराता=दुखी होता। काँदलो=कीचड़, मैल। हृद=तालाब। थिरातो=बैठ जाता साफ हो जाता। सिरातो=पार कर जाता तय कर लेता। किराता=किरात, भील। तातो=तचता=जलना।

विशेष—(१) राम सोहाते सोहातो क्योंकि—

'जापर कृपा राम कै होई। तापर कृपा करहिं सब कोई॥'

(२) 'अनुराग—श्रीब्रजनाथजी अनुराग की परिभाषा लिखते हैं—

'व्यापकता जो प्रीति की, जिमि सुठि बसन सुरंग।
दृगन द्वार बरस चटक सो अनुराग अभंग॥'

(३) 'पर-पीरपिरातो—भक्तवर नरसी वैष्णव लक्षण में कहते हैं—

'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे।'

(४) 'अनुकूल बिधातो—ब्रह्मा इसलिए प्रसन्न हो जाता कि इस जीव के रचने से मेरा श्रम सफल हो गया इसे अब बार-बार न रचना पड़ेगा। जीव का ब्रह्म-सम्बन्ध हो जाना ही जीवन का चरम फल है।

(५) 'तिहुँ ताप—दैहिक भौतिक और दैविक।

(६) 'प्रीति—'भगवत्गुणदर्पण में प्रीति का यह लक्षण दिया गया है—

अत्यन्तयोग्यताबुद्धिरनुकूलादिशालिनी।
अपरिपूर्णस्वरूपा या सा स्यात् प्रीतिरनुत्तमा॥'

१५२

राम भलाई आपनी भल कियो न काको।
जुग जुग जानकिनाथ को जग जागत साको ॥१॥
ब्रह्मादिक बिनती करी कहि दुख बसुधा को।
रबिकुल-कैरव चन्द भो आनन्द-सुधा को ॥२॥
कौसिक गरत तुषार ज्यों तकि तेज तिया को।
प्रभु अनहित हित को दियो फल कोप कृपा को ॥३॥
हर्‌यो पाप आप जाइकै संताप सिला को।
सोच-मगन काढ्यो सही साहिब मिथिला को ॥४॥
रोष रासि भृगुपति धनी अहमिति ममता को।
चितवत भाजन करि लियो उपसम समता को ॥५॥
मुदित मानि आयसु चले बन मातु पिता को।
धरम धुरंधर धीरधुर गुन-सील जिता को ? ॥६॥
गुह गरीब गतग्यातिहूँ जेहि जिउ न भखा को ?
पायो पावन प्रेम तें सनमान सखा को ॥७॥
सदगति सबरी गीध की सादर करता को ?
सोच-सींव सुग्रीव के संकट हरता को ? ॥८॥
राखि बिभीषन को सके अस काल-गहा को ?
आज बिराजत राज है दसकंठ जहाँ को ॥९॥
बालिस बासी अवध को बूझिये न खाको।
सो पाँवर पहुँचो तहाँ जहँ मुनि मन थाको ॥१०॥
गति न लहै राम-नाम सों बिधि सो सिरजा को ?
सुमिरत कहत प्रचारिकै वल्लभ गिरिजा को ॥११॥
अकनि अजामिल की कथा सानन्द न भा को ?
नाम लेत कलिकाल हू हरिपुरहिं न गा को ? ॥१२॥
राम-नाम महिमा करै काम भूरुह आको।
साखी बेद पुरान हैं तुलसी-तन ताको ॥१३॥

भावार्थ—श्रीरामजी ने अपने भले स्वभाव से किसका भला नहीं किया ? युग युग से श्रीजानकी रमण का ऐसा सुयश संसार में प्रसिद्ध है ॥१॥

ब्रह्मा आदि देवताओं ने पृथिवी का दुःख सुनाकर जब प्रार्थना की, तब (पृथिवी का भार हरने के लिए राक्षसों को मारने के लिए) सूर्यवंशरूपी कुमोदिनी को प्रफुल्लित करनेवाले एवं अमृतोपम आनन्द देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी आविर्भूत हुए ॥२॥

विश्वामित्र, ताड़का का तेज देखकर पाले की तरह गले जा रहे थे। प्रभु ने

ताडका को मारकर शत्रु को मित्र का-सा फल दिया एवं क्रोध का फल कृपा के रूप में दिया। भाव यह कि दुष्ट ताडका को स्वर्गलोक भेजकर उस पर कृपा की ॥३॥

स्वयं जाकर पाषाणी (अहल्या) का पाप संताप दूर कर दिया उसे दिव्य देह देकर पुन पति लोक भेज दिया। फिर मिथिला के महाराज जनक को शोकसागर में से डूबते हुए निकाल लिया अर्थात शिव धनुष तोडकर उनकी प्रतिज्ञा पूरी कर दी ॥४॥

परशुराम क्रोध के भंडार एवं अहंकार और ममत्व के धनी थे उन्हें भी आपने देखते ही शांति और समता का पात्र बना लिया अर्थात् वह क्रोधी से शांत और अह कारी से समद्रष्टा हो गए। यह सब श्रीरामजी के शील-स्वभाव का ही प्रभाव है ॥५॥

माता (कैकेयी) और पिता की आज्ञा मानकर प्रसन्नचित्त वन चले गये। ऐसा भला धर्मधुरंधर और धर्मपुंगव तथा सद्गुण और शील का जीतनेवाला दूसरा कौन है ?॥६॥

जिसकी जाति का भी कोई पता नही जिसने सभी प्रकार के जीवों का सदा भक्षण किया ऐसे गरीब गुह निषाद ने भी (जिन रघुनाथजी से) पवित्र प्रेम के कारण सखा के जैसा आदर प्राप्त किया ॥७॥

शबरी और गीध (जटायु) का मोक्ष देनेवाला कौन है ? और महान् शोक संतप्त सुग्रीव का संकट निवारण करनेवाला कौन है ? ॥८॥

ऐसा कौन काल का ग्रास था जो (रावण से बहिष्कृत) विभीषण को अपनी शरण में रख लेता, जिस रावण के राज्य में आज भी विभीषण राजा बना बैठा है। (यह सब कृपा रघुनाथजी की है) ॥९॥

अयोध्या का रहनेवाला मूर्ख धोबी जिसमें खाक भी बुद्धि न थी अथवा जिसे कोई धूल के बराबर भी नही समझता था वह पापी भी वहाँ पहुँच गया जहा पहुँचने में मुनियों का मन भी थक जाता है। भाव यह है कि जिस परमधाम के संबंध में बडे बडे मुनि विचार भी नही कर सकते, वहाँ वह सीताजी की निंदा करनेवाला धोबी सदेह चला गया ॥१०॥

ब्रह्मा ने ऐसा कौन सिरजा जो राम नाम के प्रभाव से मुक्ति का भागी न हो ? आशय यह कि जीवमात्र राम-नाम के प्रताप से मुक्त हो जाते हैं। पार्वतीवल्लभ शिवजी (जिस) राम नाम का स्वयं स्मरण करते हैं और दूसरों को सुना सुनाकर उसका प्रचार करते हैं ॥११॥

अजामिल की कथा सुनकर कौन प्रसन्न नही हुआ ? और राम नाम का स्मरण कर इस कलिकाल में ऐसा कौन है जो विष्णुलोक को न चला गया हो ? ॥१२॥

राम नाम का महत्त्व अकौवा को भी कल्पवृक्ष बना सकता है। इस बात के प्रमाण वेद और पुराण हैं। (इस पर भी विश्वास न हो तो) तुलसीदास की ओर देखो। भाव यह है, कि मैं महाअधम था किंतु राम-नाम के प्रभाव से आज राम भक्तों में मेरी गणना होती है ॥१३॥

शब्दार्थ—जागत = उजागर है। साको=यश। कौसिक=विश्वामित्र। गरत= गलते हैं। तिया = स्त्री यहाँ ताडका से तात्पर्य है। सिला = यहाँ अहल्या से आशय है। *अहमति = मैं ऐसा अहंकार। उपसम=शांति। गतग्याति=जिसकी जाति का भी*

पता नही। काल गहा=काल का ग्रास, मरणप्राय। बालिस=मूढ़। भा=हुआ। गा=गया। आवो=मकौवा। तन=ओर।

विशेष—(१) इस पद में गोसाइजी ने क्रमशः श्रीराम-कथा का संक्षिप्त वर्णन किया है। इस पद को यदि विनय रामायण' कहा जाये, तो असंगत न होगा।

(२) 'गुह सखा को'—गुह निषाद को कितना बडा महत्त्व प्राप्त हुआ है —

> प्रेम-पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दण्ड प्रनामू॥
> राम सखा रिषि बरबस भेंटे। जनु महि लुठत सनेह समेटे॥
> रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरषहिं फूला॥
> इहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड बसिष्ठ सम को जग माहीं॥
> जेहि लखि लखनहु ते अधिक, मिले महामुनि राव।
> सो सीतापति मिलन को प्रगट प्रताप प्रभाव॥'

[रामचरितमानस

(३) आज जहाँ का—श्रीरामेश्वर भट्टजी ने इसका यह अर्थ किया है—"आज (जिस समय) जहा (लंका) का राजा रावण विराजमान था। किन्तु इससे यह अर्थ अधिक उपयुक्त जचता है, कि जिस रावण के राज्य में आज भी विभीषण राजा बना बैठा है।' यही अर्थ श्रीबैजनाथजी ने भी लिखा है, जहा को राजा रावण रहो ताको परिवार सहित मारि तहाँ को राजा विभीषण का किय सो अजहू विराजत है, भाव, अचल राज्य दिय।'

(४) खाका—श्रीभट्टजी ने इस शब्द का अर्थ यों किया है—खा=रज+क=रजक। खाका का साधारणत खाक से तात्पर्य है। यहा धोबी से तात्पर्य अवश्य है, पर वह स्पष्टत व्यक्त नही किया गया।

(५) 'सुमिरत गिरजा को'—अध्यात्म रामायण' में शिवजी ने कहा है—

> अहो! भवन्नाम गृणन् कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
> मुमूर्षुमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव राम नाम॥'

[१४३]

मेरे रावरियै गति है रघुपति बलि जाऊँ।
निलज नीच निगुन निधन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाऊँ॥१॥
हैं घर घर बहु भरे सुसाहिब, सूझत सबनि आपनो दाऊँ।
बानर-बंधु विभीषन हितु बिनु, कोसलपाल कहूँ न समाऊँ॥२॥
प्रनतारति भंजन जन रंजन, सरनागत पवि-पंजर नाऊँ।
कीजै दास दासतुलसी अब कृपासिंधु बिनुमोल बिकाऊँ॥३॥

भावार्थ—हे रघुनाथजी! बलिहारी! मेरी तो केवल आप तक ही गति है मेरी दौड आप तक ही है क्योंकि निलज्ज नीच मूर्ख और गरीब के लिए ससार में (आपको छोडकर) न तो कोई स्वामी है और न कोई ठौर ठिकाना ही। वह किसका होकर रहे और कहाँ जाये॥१॥

यो तो घर घर में बहुत से अच्छे अच्छे मालिक भरे पड़े हैं, किन्तु उन सबका अपना ही दाँव दिखता है, अपना ही स्वार्थ साधना चाहते हैं। मैं तो वानरों के मित्र और विभीषण के हितू कोशलेश श्रीरामचन्द्रजी को छोड़कर और कहीं भी शरण नहीं पा सकता, मेरी पूछ किसी और स्वामी के यहाँ न होगी ॥२॥

आपका नाम भक्तों के दुःखों का नाश करनेवाला, सेवकजनों को सुख देनेवाला और शरणागतों के लिए वज्र निर्मित पिंजड़े के समान है, (अमोघ कवच है) सो अब तुलसीदास को अपना दास बना ही लीजिए। हे कृपासागर! अब मैं बिना ही मोल के (आपके हाथ में) बिकना चाहता हूँ। (आपका निष्काम सेवक बनना चाहता हूँ। मुझे अपना कोई स्वार्थ नहीं साधना है।) ॥३॥

शब्दार्थ—ठाउँ=ठाम, स्थान। पबि पंजर=वज्र का पिंजड़ा।

विशेष—(१) पबि-पंजर'—महर्षि विश्वामित्र ने 'वज्रपंजर' नाम का एक कवच रचा था। उसे 'राम रक्षा स्तोत्र' भी कहते हैं। उसकी यह फल-श्रुति इसका प्रमाण है—

वज्रपंजरनामेदं यो राम-कवचं स्मरेत्।
अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभते जयमंगलम् ॥'

(१५४)

देव, दूसरो कौन दीन को दयालु।
सीलनिधान सुजान सिरोमनि, सरनागत प्रिय प्रनत पालु ॥१॥
को समरथ सर्वग्य सकल प्रभु सिव सनेह मानस मरालु।
को साहिब कियो मीत प्रीतिबस खग, निसिचर कपि भील भालु ॥२॥
नाथ-हाथ माया प्रपंच, सब जीव दोष गुन करम-कालु।
तुलसिदास भलो पोच रावरो, नेकु निरखि कीजिये निहालु ॥३॥

भावार्थ—हे देव! (आपको छोड़कर) दीनों पर दया करनेवाला दूसरा और कौन है? एक आप ही शील के स्थान, ज्ञानियों में श्रेष्ठ, शरणागतों के परमप्रिय और भक्तों के पालनेवाले हैं ॥१॥

कौन आपके समान सर्वशक्तिमान् है? हे नाथ! आप सर्वज्ञ हैं, सबके स्वामी हैं और शिवजी के प्रेमाधीन होकर उनके हृदय में वास करते हैं। किस स्वामी ने प्रेमवश पक्षी (जटायु) राक्षस (विभीषण) वानरों, भील (निषाद) और भालुओं को अपना मित्र बनाया? ॥२॥

हे नाथ! आपके हाथ में माया का सारा प्रपंच एवं जीवों के दोष, गुण, कर्म और काल हैं। यह तुलसीदास भला हो या बुरा, आपका ही है। इसकी ओर जरा सा देखकर, इसे निहाल कर दीजिए ॥३॥

विशेष—(१) शील—भगवद्गुणदर्पण में शील का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

'हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि।
महतोऽच्छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः ॥'

श्रीवजनाथजी ने इसका पद्यानुवाद यह किया है—

'हीनरु दीन मलीन खल, घिन आव जिहिं देखि।
सबनि आदर मान दै गुन सौशील्य विसेखि॥'

(२) 'प्रपंच' दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है—

१ पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँचों तत्त्वों की सृष्टि। पंचभौतिक प्रकृति।

२ अविद्या, विद्या, संधिनी, संदीपिनी और आह्लादिनी यही पंचधा माया है।

राग सारङ्ग

१५५

विस्वास एक राम नाम को।
मानत नहिं परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन बाम को॥१॥
पढ़िबो परयो न छठी छ मत रिगु जजुर अथर्वन साम को।
ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को?॥२॥
करम-जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को।
ग्यान बिराग जोग जप तप भय लोभ मोह कोह काम को॥३॥
सब दिन सबलायक भव गायक रघुनायक गुन-ग्राम को।
बैठे नाम-कामतरु-तर डर कौन घोर घन घाम को?॥४॥
को जानै को जैहै जमपुर, को सुरपुर परधाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलाम को॥५॥

भावार्थ—मुझे तो एक राम-नाम का ही विश्वास है। मेरे कुटिल मन की कुछ ऐसी प्रकृति है, कि और कहीं प्रतीति ही नहीं करता (चाहे कोई कितना ही लाभ क्यों न दिखावे)॥१॥

छह शास्त्रों के सिद्धान्तों तथा ऋक्, यजुः, अथर्वण और साम वेद का पढ़ना मेरे भाग्य में ही नहीं लिखा गया है (अब रहे अन्य उपाय, सो) व्रत, तीर्थ, तप आदि सुनकर मन डर रहा है। कौन (इन साधनों में) पच-पचकर मरे और शरीर को क्षीण करे?॥२॥

कर्म-काण्ड कलियुग में कठिन है, और द्रव्याधीन भी है। भाव यह कि एक तो पास में दाम नहीं, कि जिससे यज्ञ आदि किए जाएँ दूसरे कलियुग में अनेक विघ्न बाधाएँ हैं जिनके मारे कभी पूरा नहीं पड़ सकता। फिर ज्ञान, वैराग्य, योग, जप और तप में लोभ, अज्ञान, क्रोध और काम का भय लगा हुआ है (इनके मारे वे भी सधने के नहीं)॥३॥

इस संसार में श्रीरघुनाथजी के गुणों का कीर्तन करनेवाले ही सदा सब प्रकार से योग्य हैं। भाव, हरिकीर्तन करनेवाले ही सर्वगुणसम्पन्न हैं, उन्हें कोई विघ्न बाधा नहीं सताती। जो रामनाम-रूपी कल्पवृक्ष की छायातले बैठे हैं, उन्हें घन घोर घटा अथवा तेज धूप का क्या डर है? तात्पर्य यह कि उन्हें न तो संसारी विपत्तियाँ ही सता

सकती हैं और न पाप सन्ताप ही जला सकते हैं। क्योंकि उनकी सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं ॥४॥

कौन जानता है कि कौन तो नरक जायेगा और कौन स्वर्ग और कौन ब्रह्मलोक जायेगा? तुलसीदास को तो इस संसार में श्रीराम का गुलाम होकर जीना ही बहुत प्रिय लगता है ॥५॥

शब्दार्थ—अनत = अन्यत्र, और कहीं। छठी न परयो=भाग्य में नहीं लिखा। छ मत=छह शास्त्र अर्थात् वैशेषिक न्याय, सांख्य योग पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त)। रिगु=ऋग्वेद। जजुर=यजुर्वेद। सहमत=डरता है। छाम=क्षीण, दुर्बल।

विशेष—(१) छ मत—छह शास्त्रों के सिद्धान्त, जिनके प्रतिपादक महर्षियों के नाम ये हैं—

१ वैशेषिक के प्रतिपादक		कणाद	परमाणु प्रधान
२ न्याय	,,	गौतम	द्रव्य प्रधान
३ सांख्य	,,	कपिल	पुरुष प्रकृति प्रधान
४ योग		पतंजलि	ईश्वर प्रधान
५ पूर्वमीमांसा	,	जैमिनि	कर्म प्रधान
६ उत्तरमीमांसा		व्यास	ब्रह्म प्रधान

(२) भव गायक—श्रीरामेश्वर भट्ट ने इसको समस्त पद मानकर इसका यह अर्थ किया है—'और शिवजी भी जिसे गाते हैं। श्रीबैजनाथजी ने यों अर्थ किया है—"रघुनायक के कृपा दया आदि जो समूह कल्याण गुण हैं तिनको ग्राम रामायणादि कथा ताको गायक होना। यहां भव का अर्थ शिव युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है। बैजनाथजी का भाव भी स्पष्ट नहीं हुआ है। भव का अर्थ संसार ही होना चाहिए। अर्थात्, भव (में) झंझट दूर हो जाती है। 'भव' के स्थान पर किसी किसी प्रति में गुनगायक पाठ पाया जाता है। किन्तु आगे गुन-ग्राम आया है। अतः भव पाठ ही उपयुक्त है। नागरी प्रचारिणी सभा की प्रति में भयो पाठ आया है। ऐसा पाठ मान लेने से उसके सम्पादकगण इस झंझट से बच गये हैं।

(३) 'तुलसिहिं गुलाम को'—यहाँ गोसाईंजी 'हरिमय जगत' को बैकुण्ठ आदि से भी बढ़कर मानते हैं। संसार का महत्त्व इस युक्ति से स्पष्ट हो जाता है। उनके लिए रामगुलाम का जीवन स्वर्गीय जीवन से कहीं अधिक महत्त्व का है।

कहा करौं बैकुंठ लै कलपवृच्छ की छाँह।
अहमद ढाक सराहिए जो प्रीतम गल बाँह॥

१५६

बलि नाम कामतरु राम को।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख दोष घोर घन घाम को ॥१॥
नाम लेत दाहिनो होत मन, वाम विधाता वाम को।
कहत मुनीस महेस महातम उलटे सूधे नाम को ॥२॥

भनो लोक-परलोक तासु जाके बल ललित ललाम को।
तुलसी जग जानियत नाम ते, सोच न कूच मुकाम को ॥३॥

भावार्थ—कलियुग में श्रीराम का नाम कल्पवृक्ष है। वह दारिद्रय, दुर्भिक्ष, दुःख, दोष और त्रिताप की कड़ी धूप बचाने के लिए घोर मेघरूप है ॥१॥

राम का नाम लेते ही वाम विधाता का प्रतिकूल मन भी अनुकूल हो जाता है, रूठा दैव भी प्रसन्न हो जाता है। मुनीश्वर वाल्मीकि ने उलटे अर्थात् मरा मरा नाम की महिमा गाई है। और शिवजी ने सीधे नाम का माहात्म्य कहा है। (तात्पर्य यह है कि *उलटा नाम जपते-जपते वाल्मीकि ब्रह्मर्षि से ब्रह्मर्षि हो गये, और शिवजी सीधा* नाम जपने से हलाहल का पान कर गये तथा स्वयं भगवत्स्वरूप मान गये) ॥२॥

जिसे इस सुंदर से भी सुंदर अथवा सुंदर और सुरम्य रामनाम का बल भरोसा है, उसके लोक और परलोक दोनों ही बन गये। हे तुलसी! रामनाम से इस संसार में न तो मौत की चिन्ता अनुभव होती है और न गर्भवास का क्लेश ही ॥३॥

शब्दार्थ—दुकाल = दुर्भिक्ष, अकाल। दाहिनो=अनुकूल। बाम=प्रतिकूल। ललित ललाम=ये दोनों ही शब्द सुंदर के बोधक हैं, सुंदर से भी सुंदर।

विशेष—(१) कलियुग में केवल रामनाम ही मोक्ष का मुख्य साधन है, इसे लक्ष्य में रखते हुए गोसाईंजी रामचरितमानस में लिखते हैं—

'कलियुग जोग जग्य नहिं ग्याना। एक अधार राम-गुन गाना ॥
सब भरोस तजि जो भजु रामहिं। प्रेम समेत गाइ गुन-ग्रामहिं ॥
सो भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रकट कलि माहीं ॥

(२) सोच न कूच मुकाम का—रामनाम के प्रभाव से जीव जन्ममरण के चक्र से छूट जाता है।

'सकृदुच्चारयेद्यस्तु रामनाम परात्परम।
शुद्धान्तःकरणो भूत्वा निर्वाणमधिगच्छति ॥'

[पद्मपुराण

१५७

सेइये सुसाहिब राम सो।
सुखद, सुसील, सुजान, सूर, सुचि, सुंदर कोटिक काम सो ॥१॥
सारद, सेस, साधु महिमा कहैं गुनगन गायन साम सो।
सुमिरि सप्रेम नाम जासों रति, चाहत चन्द्र-ललाम सो ॥२॥
गमन बिदेस न लेस कलेस को सकुचत सकृत प्रनाम सो।
साखी ताको बिदित बिभीषन, बैठो है अबिचल धाम सो ॥३॥
टहल, सहल जन महल महल, जागत चारो जुग जाम सो।
देखत दोष न खीझत, रीझत सुनि सेवक गुन ग्राम सो ॥४॥
जाके भजे तिलोक तिलक भये, त्रिजग जोनि तनु तामसो।
तुलसी ऐसे प्रभुहिं भजै जो न, ताहि बिधाता बाम सो ॥५॥

भावार्थ—श्रीराम सदश सुदर स्वामी की सेवा करनी चाहिए, जो सुख देने वाले सुशील, चतुर, वीर, पुण्यलोक तथा करोडो कामदेवो के समान सुदर ह, जिनकी महिमा का बखान सरस्वती शेषनाग और सतजन करते ह, जिनके गुण सामवेद सरीखे गायक गाते हैं, जिनका नाम प्रेमपूवक स्मरण करते हुए शिव सरीखे भी उनसे प्रीति जोड़ना चाहते ह ।।२।।

(उन श्रीराम की सेवा) जिनको विदेश प्रर्शात वन जाते समय तनिक भी क्लेश नही हुआ (वे ऐसे एकरस सदा प्रसन्न रहनेवाले हैं कि वन जाते हुए भी कष्ट नही हुआ) यदि कोई एक बार भी प्रणाम कर लेता ह, तो जो सकोच के मारे दब जाते ह (ऐसे शीलवान् ह), इसका साक्षी विभीषण प्रसिद्ध ह कि जो आज भी (लका में) अटल राज्य कर रहा ह ।।३।।

(उन श्रीराम की सेवा) जिनकी चाकरी बडी सहल ह (चूक भी पड जाये तो माफ कर देते ह), जो अपने भक्तो के घट घट में, चारो युगो में(रात्रि के अथवा अविद्या रूपी रात्रि के) चारो पहर जागते रहते हैं (मोह या सकट के समय उनके हृदय में बठ कर चौकीदारी किया करते ह) जो अपराध देखते हुए भी सेवक पर नाराज नही होते हं और जब अपने सेवक की गुणावली सुनते ह तो उस पर निहाल हो जाते हैं ।।४।।

जिन्हें भजने से पशु-पक्षी एव तामस शरीरधारी (राक्षस) भी त्रिलोक शिरोमणि बन गये । हे तुलसी ! ऐसे (सुशील सुन्दर जनवत्सल पतितपावन एव शरण्य) प्रभु को जो नही भजते, उन पर विधाता ही प्रतिकूल ह यही समझना चाहिए ।।५।।

शब्दार्थ—साम=सामवेद । चन्द्रललाम=चन्द्रमा ही जिनका भूषण ह, अर्थात शिवजी । सकृत=एक बार । टहल=सेवा । ग्राम=समूह । त्रिजग=तियक, पशु पक्षी । तामसो=तमोगुणा ।

विशेष—(१) 'गमन क्लेस को'—श्रीरघुनाथ के इस एकरस भाव पर गोसाइजी ने रामचरितमानस में कहा ह—

'पितु आयसु भूषन-बसन साज तजे रघुबीर ।
बिसमय हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर ।।'
सुख प्रसन्न मन राग न रोषू । सब कर सब विधि किय परितोषू ।।'

(२) जन महल जाम सो'—भगवान की प्रतिज्ञा ह—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पयुपासते ।
तेषा नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यम ।।
[भगवद्गीता

(३) त्रिजग जोनि तनु तामसो'—जटायु बन्दरो रीछो तथा विभीषण से तात्पय ह।

१५८

राग भट

कैसे देउँ नाथहिं खोरि ।
काम लोलुप भ्रमत मन ह [पति परिहरि तोरि ।।१।।

बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।
देत सिख, सिखयो न मानत, मूढ़ता अस मोरि ॥२॥
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।
सग बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि ॥३॥
करौं जो कछु धरो सचि पचि सुकृत सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस दयानिधि, दंभ लेत अँजोरि ॥४॥
लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यो, गरे आसा डोरि।
बात कहौ बनाइ बुध ज्यो, बर बिराग निचोरि ॥५॥
एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत, लाज अँचई घोरि।
निलजता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहि छोरि ॥६॥

भावार्थ—मैं अपने स्वामी को कसे दोष दू ! हे हरे ! तुम्हारी भक्ति को छोड कर मेरा मन काम-वासनाओ में फँसा हुआ इधर उधर भटकता रहता है। (एक क्षण भी निश्चल होकर तुम्हारा ध्यान नही करता) ॥१॥

अपने पुजाने पर तो मेरा बडा प्रेम है, सदा यही चाहता रहता हू कि लोग मुझे सन्त महन्त मानकर मेरी प्रतिष्ठा करें, किन्तु पूजने में मेरी बहुत कम श्रद्धा है। दूसरो को तो उपदेश करता हूँ (यह चाहता हूँ कि लोग मेरे उपदेश पर चलें) पर स्वय किसी का उपदेश नही मानता हूँ ॥२॥

जिन जिन पापो को मने बडे चाव से किया है, उन्हें तो हृदय में छिपाकर रख लिया, पर कभी किसी सत्सग म पडकर मुझसे जो तुच्छ काम बन गये, उन्हें सारे ससार को निहोरा कर-कर सुनाता फिरता हूँ। सदा यही पडी रहती है कि दुनिया मुझे महात्मा समझे ॥३॥

कभी जो कुछ सत्कर्म बन जाता है उसे खेत में पडे हुए अन्न के दाना की तरह बटोर-बटोरकर रख लेता हू किन्तु हृदय में जबरदस्ती पठकर दभ उसे भी खोज खोजकर बाहर निकाल फेंकता है। भाव यह, कि दम्भ सारे किए हुए को मिट्टी में मिला देता है ॥४॥

लोभ मेरे मन को आशारूपी रस्सी से इस तरह नचा रहा है, जसे कोई बन्दर के गले में डोरी बाँधकर उसे मनमाना नचाये। (और इसी लोभ के वश हो) म वराग्य और तत्व ज्ञान की बातें बड-बड पडितो की तरह बघारा करता हू ॥५॥

इतना सब होते हुए भी तुम्हारा (दास) कहाता हूँ। जो लाज थी, उसे भी घोलकर मानो पी गया हूँ। हे रघुनाथजी ! (और तो मेरे पास कुछ रहा नही) बस, इस निलज्जता पर ही रीझकर मेरा बन्धन काट दो मुझे ससार जाल से मुक्त कर दो ॥६॥

शब्दार्थ—खोरि=दोष। सचि-पचि=यत्नपूर्वक रखकर, सेंत-सेंतकर। सिला =खेत में पडे अनाज के कण। अजोरि लेत=खोज लेता है। अँचई=पी गया।

१५८

है प्रभु! मेरोई सब दोसु।
सीलसिंधु, कृपालु नाथ अनाथ, आरत-पोसु॥१॥
बेष बचन बिराग मन अघ अवगुननि को कोसु।
राम प्रीति प्रतीति पोली कपट-करतब ठोसु॥२॥
राग रंग कुसंग ही सों, साधु-संगति रोसु।
चहत केहरि-जसहिं सेइ सृगाल ज्यों खरगोसु॥३॥
संभु सिखवन रसन हूँ नित राम-नामहिं घोसु।
दंभहू कलि नाम कुंभज सोच-सागर-सोसु॥४॥
मोद मंगल मूल अति अनुकूल निज निरजोसु।
रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम परितोसु॥५॥

भावार्थ—हे प्रभो! सारा मेरा ही दोष है। आप तो शील के समुद्र, कृपालु, अनाथों के नाथ और दीन-दुखियों के पालने पोसनेवाले हैं॥१॥

मेरे भेष और वचनों में तो वैराग्य झलक रहा है, किन्तु मन पापों और दुर्गुणों का खजाना है। हे श्रीराम! आपकी भक्ति और श्रद्धा के लिए तो मन मेरा पोला-खोखला है, उसमें तनिक भी भक्ति और विश्वास नहीं है, किन्तु छल-कपट के कामों के लिए ठोस है, कपट-ही-कपट भरा है॥२॥

जैसे खरगोश सियार (गीदड़) की सेवा करके सिंह की कीर्ति चाहता है, वैसे ही मैं कुसंगति से तो प्रेम करता हूँ, आनन्द मनाता हूँ, और साधु जनों के संग से रूठा रहता हूँ। (भाव यह है, कि जैसे खरगोश गीदड़ के बूते पर सिंह का-सा यशलाभ करना चाहता है, गजेन्द्र के पछाड़ने की बहादुरी दिखाना चाहता है, पर यह कैसे सम्भव है? सियार तो उसका भक्षक है। यश दूर रहा, उसे प्राणों से भी हाथ धोना पड़ेगा। इसी प्रकार जो कुसंग में पड़कर कीर्ति कमाना चाहता है, उसे कीर्ति के बदले अपकीर्ति ही मिलेगी)॥३॥

शिवजी का उपदेश यही है कि 'नित्य जिह्वा से राम-नाम का कीर्तन करो।' कलियुग में दंभ से भी लिया हुआ राम-नाम अगस्त्य की तरह दुःख-सागर को सोख लेता है। (दंभ से लिया हुआ राम-नाम भी लोक-परलोक दोनों की चिन्ताओं को दूर कर देता है)॥४॥

राम-नाम आनन्द और कल्याण की जड़ है। यह मेरा निश्चय है कि अपने लिए तो एक राम-नाम ही अत्यन्त अनुकूल है। राम-नाम का ऐसा प्रभाव सुनकर तुलसी को भी परम सन्तोष है (इसलिए कि वही उसका उद्धार करनेवाला है)॥५॥

शब्दार्थ—कोसु = (कोष) खजाना। रसन = रसना, जीभ। घोसु = (घोष) शब्द उच्चारण कर। सोसु = सोख ले। निरजोसु = अनुकूल।

विशेष—(१) 'रसन हूँ नित राम-नामहि घोसु'—भक्तवर प्रह्लाद ने राम-नाम का ऐसा ही माहात्म्य कहा है—

'रामनाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्र सन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥'

(२) 'दम्भहू सोमु'—रामनाम किसी भी भाव से जपा जाय, वह मंगलकारी है—

भाव कुभाव अनख आलसहूँ। राम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥
[रामचरितमानस

(३) निरजोमु—श्रीबैजनाथजी ने इस शब्द का अर्थ यों लिखा है—
'निरयोमु जोख तौल रहित, अतुल।' श्रीदेवनारायण द्विवेदी ने इसे 'निर्दोष' का अपभ्रंश मानकर इसका अर्थ असुन्दर किया है, जो समीचीन है। इसका अर्थ 'अत्यन्त अनुकूल' मुझे उपयुक्त जंचता है।

१६०

मैं हरि पतित पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित पावन, दोउ बानक बने॥१॥
ब्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने।
और अधम अनेक तारे जात कापै गने॥२॥
जानि नाम अजानि लीन्हे नरक जमपुर मने।
दासतुलसी सरन आयो, राखिये अपने॥३॥

भावार्थ—हे हरि! मैंने तुम्हें पापियों को पुनीत करनेवाला सुना है। सो मैं पापी हूँ और तुम हो पापियों का उद्धार करनेवाले बस दोनों के बाने बन गये, दोनों का मेल बैठ गया। भाव यह कि मुझे पतित-पावन की जरूरत थी और तुम्हें पतित की। मेरी भी कामना पूरी हो गई और तुम्हारी भी॥१॥

वेद साक्षी भर रहे हैं कि तुमने व्याध (वाल्मीकि) गणिका (पिंगला वेश्या), गजेन्द्र और अजामिल को संसार सागर से पार कर दिया (इतना ही नहीं) तुमने और भी अनेक अधमों को तारा है। उनकी गिनती किससे हो सकती है?॥२॥

जिन्होंने जानकर या बिना जाने भी तुम्हारा नाम स्मरण किया, उन्हें यम के लोक नरक में (अथवा स्वर्ग में भी) जाने की मनाही कर दी गई है। वे सीधे साकेत लोक चले गये (यह सब समझ-बूझकर) तुलसी भी तुम्हारी शरण में आया है। इसे भी अंगीकार कर लो॥३॥

विशेष—'मैं पतित बने'—एक भक्त ने निम्नलिखित कवित्त में स्वामी सेवक के इसी भाव को सामने रखकर क्या ही सुन्दर जोड़ मिलाई है—

'मैं तो हूँ पतित, आप पावन पतित नाथ,
पावनपतित हो, तो पातक हरोईगे।
मैं तो महादीन, आप दीनबन्धु दीनानाथ,
दीनबन्धु हो तो दया जीय में धरोईगे।
मैं तो हूँ गरीब आप तारक गरीबन के,
तारक गरीब हो तो निरद बरोईगे।
मेरी करनी पै कछु मुकर न कीजै काहू।
करुना निधान हो तो करुना करोईगे॥'

राग मलार

१६१ ९७

तौ सो प्रभु जाये कहूँ कोउ हातो ।
तौ सहि निपट निरादर निसिदिन रटि लटि ऐसो घटि को तो ॥१॥
कृपा सुधा-जलदान माँगिबो कहौं सो साँच निसानो ।
स्वाति-सनेह सलिल सुख चाहत चित चातक सो पोतो ॥२॥
काल-करम बस मन कुमनोरथ कबहुँ-कबहुँ कछु भो तो ।
ज्यों मुदमय बसि मीन बारि तजि उछरि भभरि लेत गोता ॥३॥
जितो दुराव दासतुलसी उर, क्यों कहि आवत ओतो ।
तेरे राज राय दसरथ के, लयो बयो बिनु जोतो ॥४॥

भावार्थ—यदि तुम-सरीखा कहीं कोई दूसरा स्वामी होता तो भला ऐसा कौन क्षुद्र था जो अत्यधिक अपमान सहकर दिन रात तेरा नाम रट रटकर इस तरह थकता या घीण होता ? ॥१॥

जो मैं तुझसे कृपारूपी अमृतजल माँग रहा हूँ, वह सचमुच निराला है। मेरा चित्तरूपी चातक का बच्चा प्रेमरूपी स्वातिनक्षत्र का आनन्दरूपी जल चाहता है। (तेरे प्रेमानन्द के लिए मेरा चित्त तड़प रहा है, उसे पलभर भी कल नहीं पड़ती बच्चा ही तो है, धीरज कैसे धरे ?) ॥२॥

काल अथवा कर्म के कारण यदि कभी कभी मन में कोई बुरी वासना आ भी जाती है (उस प्रेमानन्द से चित्त हटने लगता है) तो वह ऐसा ही है जैसे मछली सुख से जल में रहती हुई कभी कभी उछलती और फिर उसी में घबराकर गोता लगा जाती है (उसे उस क्षण भर का भी जल वियोग सहन नहीं होता, वैसे ही मेरा चित्त चातक तेरे प्रेमजल से अलग होने पर घबरा जाता है और फिर उसीके लिए चेष्टा करता है) ॥३॥

जितना छल कपट तुलसीदास के हृदय में है, वह किस प्रकार कहा जा सकता है ? (पर इतना विश्वास है कि) हे दशरथ-नन्दन ! तेरे राज्य में लोगों ने बिना ही जोते बोये पाया है। भाव यह कि बिना ही सत्कर्म किए अनेक पापियों ने मोक्षलाभ किया है। मेरी भी उसी प्रकार बन जायगी, यही विश्वास है ॥४॥

शब्दार्थ—लटि = दुबला होकर । तो = था । निसानो=सच्चा, अमल, निराला । पोतो=बच्चा । भो=हुआ । ओतो=उतना ।

विशेष—(१) श्रीवियोगी हरि/नारायण द्विवेदी ने अपनी टीका में 'तो' का अर्थ 'था' सही नहीं माना है और इसका अर्थ 'तुम्हारा' या 'तुम' किया है। 'तो' का अर्थ 'तुम्हारा' भी कदाचित् हो सकता है पर 'था' यह अर्थ अशुद्ध नहीं है। बुन्देलखण्डी में 'हतो' और 'तो' दोनों ही 'था' के लिए प्रयुक्त होते हैं।

(२) स्वाति पोतो —चातक का प्रेम आदर्श प्रेम माना गया है अनन्यता का अनुकरणीय है। एक कृष्ण वियोगिनी व्रजाङ्गना कहती है —

'बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारो ।
बासर रनि नाम ल बोलत, भयो बिरह-ज्वर कारो ॥
आप दुखित पर दुखित जानि जिय चातक नाम तुम्हारो ।
देखो, सकल विचारि सखी, जिय, बिछुरन को दुख न्यारो ॥
जाहि लगै, सोई पै जानै प्रेमबान अनियारो ।
'सूरदास' प्रभु स्वाति बूंद लगि, तज्यो सिन्धु करि खारो ॥'
[सूरसागर

(३) ज्या गातो—बेचारी मछली जाये कहाँ ? उसके लिए तो एक जल ही सवस्व है। सूरदासजी भी ऐसा ही कह रहे ह—

'मेरो मन अनत कहाँ सुख पाव ।
जसे उडि जहाज कौ पछी, पुनि जहाज प आव ॥ इत्यादि ।

राग सोरठ

[१६२]

ऐसे को उदार जग माहीं ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर रामसरिस कोउ नाहीं ॥१॥
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी ।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी ॥२॥
जो सम्पति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्ही ।
सो सपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्ही ॥३॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो ।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो ॥४॥

भावार्थ—ससार में एसा और कौन उदाहरण है, जो बिना ही सेवा किए दीन जनों को निहाल कर देता ह ? ॥१॥

जिस परमगति मुक्ति को बडे-बडे तत्त्वज्ञानी मुनि भी योग, वैराग्य आदि अनेक साधन कर कर प्राप्त नहीं कर पाते, उसे प्रभु रघुनाथजी गीध और शबरी तक को दे देते ह और उसे मन पर अपने मन में कुछ बहुत नहीं मानते उसे थोडा ही लेखते हैं ॥२॥

रावण ने शिवजी को अपने दसों सिर चढ़ाकर उनसे जो सपत्ति प्राप्त की थी, वह रघुनाथजी ने बडे सकोच के साथ विभीषण को द दी । (सकोच इसलिए हुआ कि हमने इसे कुछ भी नहीं दिया लंका का राज्य तो इसका पातृवशिक ही था, यह उसका उत्तराधिकारी कभी-न-कभी तो होता ही) ॥३॥

तुलसीदास कहते ह कि मेरे मन ! जो तू सब प्रकार से सब सुख चाहता है तो श्रीरामजी का भजन कर । कृपा-सागर प्रभु तेरे मन की सारी कामनाएँ पूरी कर देंगे तेरे सभी मनोरथ सफल हो जायँगे ॥४॥

विशेष—(१) 'उदार'—'श्रीभगवद्गुणदर्पण' में उदारता का लक्षण इस प्रकार दिया गया ह—

'पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात ।
वदान्यत्व विदुर्वेदा औदार्यवचसा हरे ॥'

(२) 'बिनु सेवा पर'—बिना किसी बदले की आशा के जो कृपा की जाती है, वही सच्ची कृपा है वही सच्चा प्रेम है। बदले के लिए जो किया जाता है वह कोई कृपा नहीं, वह तो वाणिज्य है। निष्कारण कृपा करनेवाला अहेतुक प्रेम करनेवाला तो एक परमात्मा ही है।

(३) 'गीध जटायु'—रामचरितमानस में जटायु के प्रसंग का बड़ा हृदयद्रावक वर्णन किया गया है —

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर ।
निरखि राम छविधाम मुख, बिगत भई सब पीर ॥

जटायु को मोक्ष देने पर श्रीराम कहते हैं —

'जल भरि नयन कहा रघुराई । तात कर्म निज ते गति पाई ॥'
'अबिरल भक्ति मागि बर, गृद्ध गयो हरि धाम ।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम ॥

(४) 'शबरी से श्रीराम कहते हैं —

'जोगिवृन्द दुरलभ गति जोई । तोकहँ आजु सुलभ भइ सोई ॥
मम दरसन फल परम अनूपा । जीव पाव निज सहज स्वरूपा ॥

(५) जो संपति दीन्हो—रामचरितमानस में भी —

'जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दस माथ ।
सो संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ ॥

१६३

एकै दानि सिरोमनि साचो ।
जेइ जाच्यो सोइ जाचकतावस, फिरि बहु नाच न नाच्यो ॥१॥
सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिन पाये ।
कोसलपालु कृपालु कलपतरु द्रवत सकृत सिर नाये ॥२॥
हरिहु और अवतार आपने, राखी बेद-बडाई ।
लै चिउरा निधि दई सुदामहिं जद्यपि बाल मिताई ॥३॥
कपि, सबरी सुग्रीव, बिभीषन को नहिं कियो अजाची ।
अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि, दारुन आस पिसाची ॥४॥

भावार्थ—सच्चा तो दानियों में शिरोमणि एक ही है। जिस किसीने एक बार उससे माँगा, उसे पाने के लिए बहुत नाच नहीं नाचना पड़ा, वह तत्काल पूर्णकाम हो गया ॥१॥

दैत्य, देव मनुष्य मुनि ये सभी मतलबी हैं। बिना कुछ लिये कोई कुछ भी नहीं देता है। किन्तु एक ऐसे कोशलेश कृपालु कल्पवृक्ष के समान श्रीरघुनाथजी ही हैं, जो एक ही बार प्रणाम करने पर प्रसन्न हो जाते हैं (यदि कोई निःस्वार्थ मित्र है तो एक रामजी ही) ॥२॥

भगवान ने अपने और और अवतारा म भी वेदा की मर्यादा का पालन किया है। जसे, यद्यपि सुदामा श्रीकृष्ण का बालपन का मित्र था पर उससे जब चावल के कण ले लिये, तभी उसे सम्पत्ति प्रदान की (मुफ्त म कुछ नही दिया) ॥३॥

हे नाथ! आपने सुग्रीव शबरी, विभीषण और हनुमान् इनमें स किस किसको याचनारहित नही कर दिया अर्थात इन सबके सभी मनोरथ पूर कर दिये (और बदले में इन लोगा स कुछ लिया नही) हे दयानिधे! यह दारुण आशारूपी पिशाचिनी अब तुलसी को भारी क्लेश द रही ह (इससे पिंड छुडा दो) ॥४॥

शब्दार्थ—द्रवत=पिघल जात हैं, प्रसन्न हो जाते ह। सकृत=एकबार। चिउरा =चावल के कण। निधि=सपत्ति।

विशेष—(१) सब स्वारथी मुनि'—

सुर नर मुनि सबही की रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥'

(२) 'द्रवत नाथ

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद व्रत मम॥

[वाल्मीकीय रामायण

(३) 'आस —आशा पिशाचिनी पर कबीर साहब न क्या अच्छा कहा ह —

'आसन मारे क्या भया मुई न मन की आस।
ज्यों तेली के बल को, घर ही कोस पचास।
आसा जीव जग मर, लोक मर मन जाहि।
धन सच सो भी मर, उबर सो धन खाहि॥'

१६४

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई॥१॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई।
ऐसेहु पितु तें अधिक गीध पर, ममता गुन गुरुआई॥२॥
तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई।
रन परयो बन्धु बिभीषन ही को, सोच हृदय अधिकाई॥३॥
घर गुरुगृह, प्रिय-सदन सासुरे भई जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई॥४॥
सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।
केवट मीत कहे सुख मानत, बानर-बन्धु बडाई॥५॥
प्रेम-कनौडो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँकाल न भाई।
'तेरो रिनी कह्यौ हौं कपि सो, ऐसी मानहि को सेवकाई॥६॥
तुलसी राम-सनेह-सील लखि, जो न भगति उर आई।
तौ तोहि जनमि जाय जननी जड तनु-तरुनता गँवाई॥७॥

भावार्थ—प्रीति की रीति एक रघुनाथजी ही जानते हैं। श्रीरामजी प्रेमी के नाते के सामने सारे सम्बन्ध त्याग देते हैं। अर्थात् सगे सम्बन्धी को छोड़कर एक प्रेमी का ही मान रखते हैं ॥१॥

महाराजा दशरथ ने स्नेह निभाकर शरीर तक छोड़ दिया, जिससे उनकी कीर्ति अमर हो गई। किन्तु ऐसे (अपूर्व) पिता को भी गीध जटायु के आगे कुछ अधिक महत्व नहीं दिया। गीध पर अधिक महत्त्व और शील-गाम्भीर्य दरसाया अथवा उसके करतब का भारी एहसान माना (इस कारण से कि इसने परोपकार के लिए सीता का रावण के हाथ से छुड़ाने के लिए अपने प्राण तिनके की तरह त्याग दिये) ॥२॥

सुग्रीव मित्र को स्त्री के विरह में देखकर अपनी प्राणाधिक प्यारी जानकी को भी भुला दिया (जानकीजी का पता लगाने की बात भुलाकर मित्रद्रोही वालि का बध करने के लिए व्याकुल हो उठे)। रणभूमि में तो अनुज लक्ष्मण (शक्ति के मारे) मूर्च्छित पड़े हैं पर (उसका दुःख भूलकर) हृदय में विभीषण की ही चिन्ता मता रही है। तात्पर्य यह कि श्रीरामचन्द्रजी सोचते हैं कि जब लक्ष्मण ही न बचेंगे तब मैं रावण के साथ युद्ध करके क्या करूँगा? मैं भी प्राण त्याग दूँगा। उस समय बेचारा विभीषण किसका होकर रहेगा? रघुनाथजी ऐसे परदुःख कातर हैं ॥३॥

घर में गुरु वसिष्ठ के आश्रम में प्रिय मित्रों के यहाँ, अथवा ससुराल में जब जहाँ मेहमानी हुई तब वहाँ यही कहा कि मुझे जैसा शबरी के बेरों में स्वाद और मिठास मिला था वैसा अन्यत्र कहीं नहीं ॥४॥

जब मुनि लोग आपके सहजस्वरूप अर्थात् निर्गुण परमानन्दरूप का निरूपण करते हैं, तब आप लज्जा से सिर नीचा कर लेते हैं। किन्तु जब केवट आपको अपना मित्र एवं बन्दर अपना बन्धु' कहते हैं तो उसे अपनी बड़ाई समझते हैं। अथवा केवट का सखा कहे जाने पर आप प्रसन्न होते हैं और वानर बन्धु कहलाने में अपनी बड़ाई मानते हैं ॥५॥

रघुनाथजी के समान प्रेम के प्रधान होनेवाला हे भाई! तीनों लोकों और तीनों कालों में कोई दूसरा नहीं है। जिन्होंने हनुमान से यह कहा कि 'मैं तेरा ऋणी हूँ', उनकी तुलना में सेवा के लिए कृतज्ञता प्रकाश करनेवाला दूसरा कौन है ॥६॥

हे तुलसी! श्रीराम का ऐसा स्नेह और शील देखकर भी उनके प्रति यदि तेरे हृदय में भक्ति का उदय न हुआ तो तेरी माँ ने तुझे जन्म देकर व्यर्थ अपनी युवावस्था गँवाई। भाव यह है कि तुझे जनने से तो वह बाँझ ही अच्छी थी ॥७॥

शब्दार्थ—हान = दूर। गुरुआई = बड़प्पन। माधुरी = मिठास। कनौड़ = एहसानमंद। जाय = व्यर्थ।

विशेष—(१) एमहुँ गुरुआई—राम-गीतावली में इस प्रसंग का निम्न लिखित पद बड़ा ही भावपूर्ण है—

राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहुँ अरघजल दीन्हों॥
सुनहु लषन खगपतिहिं मिले बन मैं पितु मरन न जान्यो।
सहि न सक्यो सो कठिन विधाता बड़ो पछु आजुहि भान्यो॥

बहुबिधि राम कह्यो तनु राखन, परमधीर नहिं डोल्यो।
रोकि प्रेम, अवलोकि बदन बिधु बचन मनोहर बोल्यो॥
तुलसी, प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखे लहौं।
जाको नाम मरत मुनि दुलभ तुमहिं कहाँ पुनि पहौं॥

(२) 'रन परयो अधिकाई'—गोसाइजी ने कवितावली में इस प्रसग को इस प्रकार चित्रित किया ह—

'तात को सोच न मात को सोच न सोच नहीं मोहि औध-तजे को।
सोच नहीं बनबास भयो कछु सोच नहीं मोहि सोय हरे को॥
लछिमन भूमि परयो नहिं सोच, न सोच कछू मोहि लक जरे को।
सोच भयो तुलसी इक मोकहूँ भक्त बिभीषन बाँह-गहे को॥

(३) सबरी क फलनि का—शबरी के फलों पर रसिकबिहारीजी की यह कितनी सुदर यमकालकृत उक्ति ह—

बेर बेर बेर ल सराह बेर बेर बहु
रसिकबिहारी देत बधु कहँ फेर फेर।
चाखि चाखि भाखे यह वाहूतें महानमीठो
लेहु तो लषन यों बखानत हैं हेर हेर॥
बेर बेर देव बेर सबरी सु बेर बेर
तोऊ रघुबीर बेर बेर तहि टेर टेर।
बेर जनि लावो बेर बेर जनि लावो बेर,
बेर जनि लावो बेर लाव क$_{2}$ बेर बेर॥

(४) तरा रिना सेवकाई—श्रीरघुनाथजी हनुमान् स कहते ह—
'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रत्युपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सक मन मोरा॥
सुनु कपि तोहि उरिन म नाहीं। देखेउ करि बिचार मन माहीं॥

१६५

रघुबर रावरि यहै बडाई।
निदरि गनी आदरु गरीब पर, करत कृपा अधिकाई॥१॥
थके देव साधन करि सब, सपनेहु नहिं देत दिखाई।
केवट कुटिल भालु कपि कौनप, कियो सकल सँग भाई॥२॥
मिलि मुनिवृन्द फिरत दडक बन, सो चरचौ न चलाई।
बारहि बार गीध सबरी की बरनत प्रीति सुहाई॥३॥
स्वान कहे तें कियो पुर बाहिर जती गयन्द चढाई।
तिय निदक मतिमद प्रजा रज निज नय-नगर बसाई॥४॥
यहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।
दीनदयालु दीन तुलसी की काहु न सुरति कराई॥५॥

भावार्थ—हे रघुनाथ जी ! मैंने सुना है कि आप [illegible] का, अनाथों का, [illegible] का [illegible] करते हैं [illegible] ॥१॥

[illegible] ॥२॥

[illegible] (अ [illegible]) और [illegible] दिया ॥३॥

[illegible] नगर से बाहर [illegible] निकाल दिया, और सीता को [illegible] अपने नगर में बसाया ॥४॥

इससे सिद्ध होता है कि [illegible] दरबार में [illegible] की परिपाटी चली आ रही है । [illegible] (आज तक) [illegible] (वह [illegible]) ॥ ॥

शब्दार्थ—[illegible] । [illegible] । परचौ = चर्चा भी । जती = (यति) संन्यासी । रज = [illegible] ।

विशेष—(१) इस पद में दीनता व नम्रता का [illegible] महत्त्व दिया गया है । कहा है—

> ऊचे ऊचे सब चले नीचो चलै न कोय ।
> जो कदापि नीचो चलै (सो) प्रभु तें ऊचो होय ॥

भक्ति-पथ में दैन्य की बड़ी महिमा है । भक्त निरभिमान होकर परमेश्वर के समीप शीघ्र पहुँच जाते हैं और ज्ञानी अभिमान में डूबे रहने के कारण माया के ही चक्कर काटते रहते हैं ।

(२) यहि आदर—दीनता की महिमा कबीरदास ने गाई है—

> 'लघुता तें प्रभुता मिलै प्रभुता तें प्रभु दूरि ।
> चींटी लै सक्कर चली हाथी के सिर धूरि ॥
> सबतें लघुताई भली लघुता तें सब होय ।
> जस दुतिया को चन्द्रमा सीस नवै सब कोय ॥'

१६६

> ऐसे राम दीन हितकारी ।
> अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी ॥१॥
> साधन हीन दीन निज अघ बस सिला भई मुनि नारी ।
> गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर सापतें तारी ॥२॥
> हिंसारत निपाद तामस बपु पसु समान बनचारी ।
> भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल जाति बिचारी ॥३॥

जद्यपि द्रोह कियो सुरपति सुत, कहि न जाय अति भारी।
सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय टारी ॥४॥
विहँग-जोनि आमिष अहार पर, गीध कौन व्रतधारी।
जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी ॥५॥
अधम जाति सबरी जोषित जड लोक वेद तें न्यारी।
जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी ॥६॥
कपि सुग्रीव बंधु भय-व्याकुल आयो सरन पुकारी।
सहि न सके दारुन दुख जन के, हत्यो बालि सहि गारी ॥७॥
रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी।
सरन गये आगे ह्वै लीन्हो भेंट्यो भुजा पसारी ॥८॥
असुभ होइ जिनके सुमिरे तें, बानर रीछ बिकारी।
वेद विदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ, तुम्हारी ॥९॥
कहँलगि कहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी।
कलिमल ग्रसित दास तुलसी पर, काहे कृपा बिसारी ॥१०॥

भावार्थ—दीनों का ऐसा हित करनेवाले श्रीरामजी ही हैं। वे बड़े कोमल, करुणा के भाण्डार दयामूर्ति और बिना ही किसी हेतु के दूसरों का उपकार करनेवाले हैं ॥१॥

साधनों से रहित दीन गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या अपने पापों के कारण पाषाणी हो गई थी। उसे आपने घर से जाकर अपने पवित्र चरण से छूकर घोर शाप से छुड़ा दिया ॥२॥

गुह निषाद सदा हिंसा में ही रत रहता था। शरीर तामसी था जो पशु की तरह वन में फिरता रहता था। उसे आपने, वंश और जाति का विचार किए बिना ही, प्रेमपूर्वक छाती से लगा लिया ॥३॥

यद्यपि इन्द्र के पुत्र जयंत ने इतना भारी अपराध किया था, कि कुछ कहा नहीं जा सकता (जयंत ने कौए का रूप धरकर सीताजी के चरण में चोंच मारी थी) तथापि जब वह (रघुनाथजी के बाण से व्याकुल होकर त्राण पाने के लिए) सारे लोकों में घूमता फिरा और अन्त में निराश होकर आपकी शरण में आया तब उसका सारा भय दूर कर दिया, उसका सारा अपराध भूलकर उसे निहाल कर दिया ॥४॥

जटायु गीध पक्षी की योनि का था, सदा मांस भखा करता था। उसने ऐसा कौन सा व्रत साधा था, कि जिससे आपने अपने हाथ से पिता के समान, उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की? उसकी करनी सब प्रकार से बनाई ॥५॥

शबरी नीच जाति की मूर्ख स्त्री थी। वह लोक और वेद दोनों से ही बाहर थी, किन्तु उसकी भक्ति भावना देखकर, हे दयालु रघुनाथजी! उसे भी दर्शन दिया उसका भी उद्धार कर दिया ॥६॥

सुग्रीव वानर अपने भाई (बालि) के डर के मारे व्याकुल होकर जब पुकारता

हुआ आपकी शरण में आया, तब आप अपने दास का महान दुःख न देख सके और गालियाँ खाकर भी बालि का वध कर डाला ॥७॥

विभीषण, शत्रु (रावण) का भाई था और जाति का था राक्षस। वह किस भजन का अधिकारी था? किन्तु जब वह (रावण से तिरस्कृत और बहिष्कृत होकर) शरण में आया, तब उसे आपने आगे बढ़कर लिया, स्वागत किया और बाहु पसारकर उसे छाती से लगा लिया ॥८॥

बन्दर और रीछ ऐसे अधर्मी हैं कि उनका नाम तक लेने से अमंगल होता है किन्तु हे नाथ! उन्हें भी आपने पवित्र बना लिया। वेद इस बात के साक्षी हैं। यह आपकी महिमा ही है ॥९॥

ऐसे अनेक दीन हैं जिनकी विपत्तियाँ आपने दूर कर दी हैं। मैं कहाँ तक गिनाऊँ? पर मालूम नहीं, इस तुलसीदास पर ही जो कलियुग के पापों से ग्रसित है क्या आप कृपा करना भूल गये, क्यों उसे अभी तक नहीं अपनाया? ॥१०॥

शब्दार्थ—गवनि = जाकर। सुरपति सुत=इन्द्र का पुत्र जयंत। अहार पर=खानेवाला। जापित = (यापित) स्त्री। विकारी=पापी।

विशेष—(१) गृह तें गवनि—इसका यह तात्पर्य है कि रामचन्द्रजी घर से केवल अहल्या के तारने के लिए गये थे ताड़का को मारने अथवा धनुष तोड़ने के लिए नहीं। यह बड़ी ही सुन्दर अर्थ-ध्वनि है।

(२) द्रोह किया सुरपति सुत—वाल्मीकि और कालिदास ने लिखा है कि जयन्त ने श्रीसीताजी के स्तनों पर चोंच से आघात किया था और ऐसा उसने कामवश किया था, किन्तु गोसाईंजी ने, मर्यादा का पालन करते हुए, ऐसा न लिखकर यह लिखा है, कि उसने सीताजी के चरणों में चोंच मारी थी।

(३) अगुन विकारी—कहा है—

प्रात लेइ जो नाम हमारा। ता दिन ताहि न मिलै अहारा॥

(४) कहँ लगि कहौं'—आप अगणित पापियों का उद्धार किया है—

एते जन तारे जेते नभ में न तारे हैं।'

[१६७]

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई ॥१॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख जल प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी ॥२॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बल तें न कोउ बिलगावै।
अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै ॥३॥
सकल दृस्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत बियोगी ॥४॥

सोक मोह भय हरष दिवस निसि देस-काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं ॥५॥

भावार्थ—श्रीरघुनाथजी की भक्ति करने में भारी कठिनता है। कहना तो आसान है, पर करना उसका कठिन है। जिसमे करते बन गई, वही इसे जानता है ॥१॥

जो जिस कला में प्रवीण है उसके लिए वह सरल और सदा सुख देनेवाली है। जैसे (छोटी-सी) मछली तो गंगा की धारा के सामने चली जाती है, परन्तु बहुत बड़ा हाथी उसमें बह जाता है। (क्योंकि वह मछली की तरह उसमें तैरना नहीं जानता) ॥२॥

(दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हैं) जैसे यदि रेत में शक्कर मिल जाये तो उसे कोई ज़ोर लगाकर अलग नहीं कर सकता, किन्तु उसके रस को जाननेवाली छोटी-सी चींटी उसे सहज ही अलग कर देती है ॥३॥

जो योगी दृश्यमात्र का, सारे पंचभूतात्मक प्रपंच का, श्रवण पट में रख (चित्त वृत्ति निरोध द्वारा संसार का लय करके) निद्रा का त्याग कर सोता है अर्थात् अविद्या हटाकर ब्राह्मी अवस्था में लीन हो जाता है और भेदात्मक ज्ञान का आत्यंतिक परित्याग कर देता है, वही वैष्णवपद के परमानन्द की प्रत्यक्ष अनुभूति कर सकता है ब्रह्मानन्द का पूर्णाधिकारी वही हो सकता है ॥४॥

इस परम अवस्था में शोक मोह भय, हर्ष, दिन रात और देश काल का नाम तक नहीं रह जाता, इन सबसे वह परे पहुँच जाता है। हे तुलसीदास ! जब तक यह जीव इस दशा को नहीं पहुँचता तब तक संशय निर्मूल नहीं होते (कुछ न कुछ सन्देह बना ही रहता है और जब तक सन्देह का लेश भी है, तब तक निःश्रेयस प्राप्त होने का नहीं) ॥५॥

शब्दार्थ—सफरी = मछली। सकरा = शक्कर। सिकता = रेत। पिपीलिका = चींटी। दृश्य = पंचभूतात्मक जगत। द्वैत वियोगी = जिनका भेदात्मक ज्ञान नष्ट हो गया है। संशय = सदसत विवेक का अभाव।

विशेष—(१) 'कहत सुगम'—जैसे, कहने में तो ये चौपाइयाँ हो बड़ी आसान हैं कहने में ज़बान को भी ज़रा भी कष्ट नहीं पहुँचता—

'सरल स्वभाव न मन कुटिलाई। जथालाभ संतोष सदाई ॥
बर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृनसम बिषय स्वर्ग अपवर्गा ॥

पर इन पर अमल करना बड़ा ही कठिन है खाँडे की धार पर दौड़ने के जैसा है। कहाँ तो कथनी और कहाँ करनी !

(२) 'सफरी पाव'—श्रीभगवतरसिकजी ने भी ऐसा ही कहा है—

'भगवत स्यामा स्याम की पावकरूप बिहार।
नहिं समय खगराज की करत चकोर अहार ॥
करत चकोर अहार किलकिला जलचर लाव।
स्याह सीख मृगराजबदन तें आमिष पाव ॥
ऐसे रसिक अनन्य और सब जानहुँ खगवत।
तजौ पराई सन, भजौ किन माफिक भगवत ॥'

१६८

जो पै राम चरन रति होती।
तौ कत त्रिविध सूल निसिबासर सहते बिपति निसोती ॥१॥
जो संतोष सुधा निसिबासर सपनेहुँ कबहुँक पावै।
तौ कत विषय बिलोकि झूठ जल मन कुरंग ज्यों धावै ॥२॥
जो श्रीपति महिमा बिचारि उर भजते भाव बढाए।
तौ कत द्वार-द्वार कूकर ज्यों फिरते पेट खलाए ॥३॥
जे लोलुप भये दास आस के, ते सबही के चेरे।
प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे ॥४॥
नहिं एकौ आचरन भजन को, बिनय करत हौं ताते।
कीजै कृपा दासतुलसी पर, नाथ नाम के नाते ॥५॥

भावार्थ—यदि श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में प्रीति होती, तो रात दिन विपत्तियों के प्रवाहरूप तीनों प्रकार के कष्ट क्यों सहते ? ॥१॥

यदि यह मन दिन या रात में कभी स्वप्न में भी संतोषरूपी अमृत पा जाये तो विषयों के मिथ्या मृगजल को देखकर उसके पीछे क्या हिरण की भाँति दौड़े ? ॥२॥

यदि हम भगवान लक्ष्मीकान्त की महिमा का हृदय में विचारकर भाव भक्ति से उनका भजन करते तो आज कुत्ते की तरह द्वार-द्वार पेट दिखाते हुए क्यों मारे मारे फिरते ॥३॥

जो लोभी जन आशा के दास बन गये वे सभी के गुलाम हैं और जिन्होंने भगवान् में विश्वास कर आशा को जीत लिया वे ही भगवान् के सच्चे सेवक हैं ॥४॥

मैं आपसे इसलिए विनय कर रहा हूँ कि मुझमें भजन भाव का एक भी आचरण नहीं है (श्रवण कीर्तन वन्दन आदि नवधा भक्ति से बिलकुल कोरा हूँ) हे नाथ ! तुलसीदास पर अपने नाम के नाते से ही कृपा कीजिए (क्योंकि आपके नाम दीनवत्सल, दीनबन्धु आदि हैं) ॥५॥

शब्दार्थ—निसोती = प्रवाह। कुरंग = हिरण। खलाए = पचकाकर।

विशेष—(१) जो सतोष पावै—क्योंकि

'सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहाय।'

(२) जे लोलुप चेरे—कबीर साहब कहते हैं—

कबिरा नारी जगत-गुरु तजै जगत की आस।
जो जग की आसा करै जगत गुरु वह दास॥

हरिजन कि किसी की आशा करें ? किन्तु हा किस बात की ?

भाजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
योऽसौ विश्वंभरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते॥

१६६

जो मोहि राम लागते मीठे ।
तौ नवरस, षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे ।।१।।
बचक विषय विविध तनु धरि अनुभवे, सुने अरु डीठे ।
यह जानत हौं हृदय आपने, सपने न अघाइ उबीठे ।।२।।
तुलसिदास प्रभु सो एकहि बल बचन कहत अति ढीठे ।
नाम की लाज राम करुनाकर केहि न दिये कर चीठे ।।३।।

भावार्थ—यदि मुझे श्रीरामजी ही मीठे लग जाते तो नवरस (साहित्य के) एवं छहरस (भोजन के) नीरस और फीके पड़ जाते (पर रामजी तो मीठे लगते नहीं उनसे तो प्रेम है नहीं, इसीलिए भोग विलास मधुर प्रतीत होते हैं) ।।१।।

मैं नाना प्रकार के शरीर धारणकर यह अनुभव कर चुका हूँ और मैंने सुना भी है कि विषय सारे ठग हैं (सत्कर्मों के लुटेरे हैं) । यद्यपि यह मैं अपने जी में खूब समझता हूँ तथापि (समझते हुए भी) कभी स्वप्न में भी, इनसे तृप्त होकर जी नहीं ऊबा, रुचि नहीं हटी ! ।।२।।

तुलसीदास अपने स्वामी श्रीरघुनाथजी से एक ही बल पर ये ढिठाई भरे वचन कह रहा है । (और वह बल यह है कि) हे नाथ ! आपने अपने नाम की लाज रखने के लिए किस किसके हाथ में दया करके परवाने नहीं लिख दिये हैं ? किसे संसार से मुक्त कर देने का वचन नहीं दिया ? (भाव यह है कि आपके नाम में वह शक्ति है जो जीव मात्र को भवसागर से तार देने में समर्थ है । उसीका मुझे बल भरोसा है) ।।३।।

शब्दार्थ—नवरस=शृंगार हास्य, करुण वीर रौद्र भयानक वीभत्स, अद्भुत और शांत । षटरस=कटु तीखा, मधुर, कषाय, अम्ल और लवण । सीठे= फीके । डीठे=देखे । उबीठे=ऊबे, मन से उतर गये ।

विशेष—(१) तौ सीठे'—क्योंकि—

'रमा विलास राम-अनुरागी तजत वमन इव जन बड़भागी ।।

[रामचरितमानस

कबीर साहब ने भी कहा है—

'पीया चाहे प्रेमरस राखा चाहे मान ।
एक म्यान में दो खड्ग, देखा सुना न कान ।।

(२)'बचक विषय'—सत्संग से अथवा प्रारब्धवश यदि जीव नाम रत्नों का संचय करता है, तो इंद्रियों के विषय क्षणभर में उन्हें लूटकर ले जाते हैं —

काम क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्करा ।
ज्ञानरत्नापहाराय तस्माज्जाग्रत जाग्रत ।।'

[श्रीशंकराचार्य

(३) 'नाम की लाज'—यदि पतितपावन नाम रखकर पापियों का उद्धार न किया तो नाम मुफ्त में बदनाम हो जायेगा। इसलिए जैसे-तैसे, अपनी बात रखने केलिए

पापियों का उद्धार करना ही पड़ेगा। भक्तों का यह दृढ़-भाव देख ईश पुकारा ही करता था—

'अहो मुरारि, मुरारि कहो अब, मेरो हठी कि तेरो हठो है॥'

। १७० ।

ऐसो मन कबहूँ तुम्हहिं न लाग्यो।
ज्यों छल छाँड़ि सुभाय निरंतर रहत विषय अनुराग्यो॥१॥
ज्यों चितई परनारि, सुने पातक-प्रपंच घर-घर के।
त्यों न साधु सुरसरि-तरंग-निर्मल गुनगन रघुबर के॥२॥
ज्यों नासा सुगंध-रस-बस, रसना षटरस रति मानी।
राम प्रसाद माल जूठनि लगि त्यों न ललकि ललचानी॥३॥
चन्दन चन्द्रबदनि भूषन पट ज्यों चह पाँवर परस्यो।
त्यों रघुपति-पद-पदुम-परस को तनु पातकी न तरस्यो॥४॥
ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये बपु बचन हिये हूँ।
त्यों न राम सुकृतग्य जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ॥५॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार द्वार जग बागे।
राम सीय आस्रमनि चलत त्यों भये न स्रमित अभागे॥६॥
सकल अंग पद बिमुख नाथ मुख नाम की ओट लई है।
है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु मूरति कृपामई है॥७॥

भावार्थ—मेरा मन इस प्रकार कभी भी आपसे नहीं लगा, जैसा कि यह कपट छोड़कर स्वभाव से ही विषयों में लगा रहता है, विषयों के प्रति जैसी उसकी सहज वासना रहती है॥१॥

जैसे, मैं दूसरे की नारी को ताकता फिरता हूँ, घर-घर के पाप भरे प्रपंच सुनता रहता हूँ, वैसे न तो कभी साधुओं का दर्शन करता हूँ और न गंगा की निर्मल लहरों के समान श्रीरघुनाथजी की गुणावली ही सुनता हूँ॥२॥

जैसे, नाक सुगन्ध के रस के अधीन रहती है और जीभ छह रसों से प्रेम करती है, वैसे यह नाक भगवान् पर चढ़ी हुई माला के लिए और जीभ भगवत् प्रसाद अब ललक-ललककर नहीं ललचाती॥३॥

जैसे यह अधम शरीर चन्दन, चन्द्रवदना युवती और सुन्दर अलंकारों एवं (कोमल) वस्त्रों का स्पर्श करना चाहता है, वैसे कभी यह श्रीरघुनाथजी के चरणकमलों का स्पर्श करने के लिए उत्कण्ठित नहीं होता॥४॥

जिस प्रकार मन, शरीर, वचन और हृदय से भली भाँति बुरे-बुरे देवों और दुष्ट स्वामियों की सेवा की, वैसे उन रघुनाथजी की सेवा कभी नहीं की, जो जरा-सी सेवा से अपने को अत्यन्त कृतज्ञ मानने लगते हैं, एक बार प्रणाम करने पर ही (सौशील्य-वश) सकुचा जानेवाले हैं॥५॥

जसे, ये चचल पैर लाभवश द्वार-द्वार भटकते फिरते ह वसे ये श्रभागे श्रीसीता रामजी के (पुण्य) श्राश्रमा म चलकर कभी थकित नही होना चा,ते । (यह तात्पय नही है, कि पुण्य श्राश्रमा में चलते हुए थके नही ह किन्तु वहाँ गय ही नही तब थकेंगे क्या ?) ॥६॥

हे प्रभा ! मेरे श्रग प्रत्यग आपके चरणा स विमुख ह (किसी भी श्रग स चरणा की सेवा नही की)। केवल इस मुख से आपक नाम की श्रोट ले रखी ह (श्रौर यह इस लिए कि) श्रापकी मूर्ति कृपा का रूप ह। तुलसी का यही एक बल भरासा ह (कि श्राप कृपासागर होने क कारण तथा नाम की बात रखने के लिए मुझ श्रवश्य ससार सिन्धु पार कर देंगे) ॥७॥

शब्दाथ—ललकि = उमग में श्राकर। सकृत = एकबार। बागे = फिरे, चले। श्रोट=भरोसा।

विशेष—(१) शरीर के समस्त श्रगा की निरथकता तथा साथकता का यहाँ निरूपण कराया गया ह। एक ही वस्तु असार एव सारमय हा सकती ह श्रन्तर उसकी उपयोगिता में ह। इसी प्रकार जगत यदि हरिमय ह तो वह सत्य ह, श्रानन्दरूप ह, श्रौर यदि वह 'हरि शून्य' ह, ता मिथ्या ह। श्रात्मा क श्रनुकूल प्रत्येक वस्तु सुखरूप ह उसके प्रतिकूल वही दुखरूप ह।

(२) कुदेव'—भूत प्रेत स श्राशय ह। गोसाइजी ने भूत प्रेता का जहाँ-तहाँ खूब फटकारा ह छोटी छोटी कामनाश्रो की पूर्ति के लिए ही लाग भूत प्रेता का माना करते हं, फलत उनका विश्वास परमेश्वर पर से उठ जाना ह।

१७१

कीजै मोको जम जातनामई।
राम, तुमसे सुचि सुहृद साहिबहि मैं सठ पीठि दई ॥१॥
गरभबास दस मास पालि पितु मातु रूप हित कीन्हा।
जडहि बिवेक, सुसील खलहि, श्रपराधिहि श्रादर दीन्हो ॥२॥
कपट करौं अंतरजामिहुँ सो, श्रघ ब्यापकहि दुरावौ।
ऐसेहु कुमति कुसेवक पर रघुपति न किया मन बावौं ॥३॥
उदर भरौं किंकर कहाइ बेंच्यो बिषयनि हाथ हियो है।
मोसे बचक को कृपालु छल छाडिकै छोह कियो है ॥४॥
पल पल के उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिद्यो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ प्रेम सिय-पीके ॥५॥
स्वामी को सेवक हितता सब, कछु निज साइँ दोहाई।
मै मति-तुला तौलि देखी भइ मेरेहि दिसि गरुश्राई ॥६॥
एतेहु पर हित करत नाथ मेरो, करि श्रायो, श्ररु करिहैं।
तुलसी श्रपनी श्रोर जानियत प्रभुहि कनौडो भरिहै ॥७॥

भावार्थ—हे नाथ ! मुझे तो आप यम यातना (जन्म मरण) में ही डाल दीजिए, नरक में ही भेज दीजिए, क्योंकि हे श्रीराम ! मैं आप-सरीखे पवित्र और सुहृद स्वामी से विमुख हो गया हूँ (इसका दण्ड यम यातना ही हो सकता है सो मुझे वही दीजिए) ॥१॥

जब गर्भ में था तब आपने माता पिता के समान दस महीने पालन पोषण कर मेरा हित किया। मुझ मूर्ख को आपने शुद्ध ज्ञान, मुझ दुष्ट को सुन्दर शील और मुझ अपराधी का आदर दिया, (मुझे आपका कृतज्ञ होना चाहिए था आपका भजन करना चाहिए था। *वह न हुआ उलटे आपको भुलाकर कृतघ्नता का भागी बन गया।*) ॥२॥

मैं अन्तर्यामी प्रभु के साथ छल करता हूँ। सर्वव्यापी घट घट में रमनेवाले से अपने पाप छिपाता हूँ। ऐसे दुर्बुद्धि नीच नौकर पर भी श्रीरघुनाथजी ने अपना मन प्रतिकूल नहीं किया। अब भी उस पर कृपा कर रहे हैं ॥३॥

आपका दास बनकर तो पेट भरा करता हूँ, किन्तु हृदय विषयों के हाथ बेच दिया है। चाहिए तो यह था, कि जिसका खाना उसी का गाना पर मुझ अधम से यह न हुआ)। मुझ सरीखे ठग पर भी कृपाल रघुनाथजी ने निष्कपट भाव से कृपा ही की है ॥४॥

एक एक पल के उपकारों को जानकर समझकर और अच्छी तरह सुनकर भी मेरे कठोर चित्त में कभी जानकी जीवन का प्रेम नहीं भिदा ॥५॥

मैंने जब अपनी बुद्धिरूपी तराजू पर एक ओर स्वामी की सारी जन वत्सलता और दूसरी ओर थोथी सी अपनी करनी रखकर तौली तब देखने पर मेरी ओर का ही पलड़ा भारी निकला। यह मैं स्वामी की सौगन्ध खाकर कह रहा हूँ। तात्पर्य यह, कि जीव की क्षण भर की भी हरि विमुखता श्रीहरि की सारी कृपा की तुलना में भारी है, उसके कर्म ऐसे गिरे हुए हैं कि वह भगवत्कृपा होने पर भी क्षणमात्र में नरकगामी हो सकता है ॥६॥

किंतु इतने पर भी मेरे कृपालु स्वामी ने मेरा भला किया है कर रहे हैं और करेंगे। वे सदा से मेरे हितू हैं। तुलसी अपनी ओर से जानता है कि इस कनौड़ का, एहसान से दबे हुए का स्वामी ही पालन करेंगे। (क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा है कि शरणागत का वे अवश्य परिपालन करते हैं) ॥७॥

शब्दार्थ—पाठि दई=विमुख हो गया। जड़हिं=मूर्ख को। बावौं=(वाम) प्रतिकूल। छाह=अनुग्रह। कनौडो=कृतज्ञ एहसान से दबा हुआ।

विशेष—(१) उदर भरौं किंकर कहाइ—पाखण्ड भेष धारणकर लोगों को ठगता फिरता हूँ। दूसरों की दृष्टि में अपने को सन्त महात्मा सिद्ध करना चाहता हूँ।

तन को जोगी सब करें, मन को बिरला कोय।
सहजै सब सिधि पाइये जो मन जोगी होय॥'

[कबीरदास

(२) प्रभुहिं कनौड़ो भरिहैं—क्योंकि भगवान् की यह प्रतिज्ञा सुप्रसिद्ध है—

अहं भक्तपराधीनो, ह्यस्वतन्त्र इव द्विज !
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रिय ॥'

[श्रीमद्भागवत

१७२

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत सुभाव गहौंगो ॥१॥
जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥२॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगतमान, सम सीतल मन, पर गुन नहिं दोष कहौंगो ॥३॥
परिहरि देह-जनित चिन्ता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि भक्ति लहौंगो ॥४॥

भावार्थ—क्या मैं कभी इस रहनी से रहूँगा ? क्या कृपालु श्रीरघुनाथजी की कृपा से कभी मैं सन्तों का सा स्वभाव ग्रहण कर सकूँगा ? ॥१॥

क्या जो कुछ मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहूँगा, किसीसे कुछ भी पाने की इच्छा नहीं करूँगा ? सदा दूसरों की भलाई करने में क्या तत्पर रह सकूँगा ? मन से वचन से और कर्म से यम नियमों का पालन करूँगा क्या ? ॥२॥

कठोर और असह्य वचन सुनकर उसकी आग में तो नहीं जलूँगा ? किसी से मान पाने की इच्छा तो न करूँगा ? क्या मन को एकरस और शीतल रखूँगा ? ऐसा स्वभाव कब बनेगा कि दूसरों के गुण दोष की चर्चा न करूँ अथवा दूसरों की प्रशंसा तो करूँ, पर उनके दोष न कहूँ ? ॥३॥

शारीरिक चिन्ताएँ छोड़कर और सुख दुःख को कब एक सरीखा मानूँगा ? हे नाथ ! क्या तुलसीदास इस मार्ग पर चलकर अटल भगवद्भक्ति को कभी प्राप्त कर सकेगा ? *(क्या कभी उसका यह मनोराज्य साकार होगा)* ॥४॥

शब्दार्थ—निरत=संलग्न तत्पर। क्रम=कर्म

विशेष—(१) मनोराज्य विषयक सूक्तियाँ भक्तों ने अनेक प्रकार से कही हैं। श्रीहरिराम व्यास कहते हैं —

ऐसो कब करिहौ मन मेरो।
कर करवा हरवा गुंजन को, कुंजन माँहि बसेरो ॥
व्रजवासिन के टूक जूठ अरु घर घर छाछ महेरो ॥
भूख लगे तब माँगि खाइहौं, गिनौं न साँझ सबेरो ॥
ऐसी आस 'व्यास' *की पूजै, मेरे गाम न खेरो ॥'*

और ललितकिशोरी भी —

'जमुना पुलिन कुंज गहवर की कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद पंकज प्रियलाल मधुप ह्वै मधुरे मधुरे गुंज सुनाऊँ ॥
कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं बचे सीथ संतन के पाऊँ ॥
'ललितकिसोरी आस यही मम व्रज रज तजि छिन अनत न जाऊँ ॥'

(२) 'जथालाभ संतोष —

'जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान।'

(३) 'यहि पथ'—सन्ता का स्वभाव, राम भक्त के लक्षण सबध में —

'नान्त समानमनसश्च मुनीन्द्रवृन्द—
स्तोयक्षमागुणवयामृजुबुद्धियुक्त ।
विज्ञानज्ञानविरति परमार्थवेत्ता
निर्मानको भवमन स च रामभक्त ॥

[महारामायण

१७३

नाहिन आवत आन भरोसो ।
यहि कलिकाल सकल साधनतरु है स्रम फलनि फरो सो ॥१॥
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख, जेहि जो रुचै करो सो ।
पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि भरि वेद परोसो ॥२॥
आगम विधि जप-जाग करत नर सरत न काज खरो सो ।
सुख सपनेहुँ न जोग सिधि-साधन, रोग वियोग धरो सो ॥३॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान विराग हरो सो ।
बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ॥४॥
बहुमत सुनि बहु पथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो ।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो ॥५॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै सो ।
राम नाम बोहित भव सागर चाहै तरन तरो सो ॥६॥

भावार्थ—मुझे कोई दूसरा बल भरोसा नही है (केवल एक राम-नाम का ही भरोसा है)। इस कलियुग में जितने भी साधनरूपी वृक्ष हैं उनमें केवल परिश्रमरूपी फल ही फल से दीखते हैं। अर्थात् उन साधनों के लिए चाहे जितना श्रम किया जाय पर हाथ कुछ भी नही आता ॥१॥

तप तीर्थाटन, व्रत दान, यज्ञ आदि जो जिसे अच्छा लगे, सो करे। पर इन सारे कर्मों का फल पाने पर ही जान पडेगा यद्यपि वेदों ने (पत्तल) भर भरकर फलों को परोसा है। तात्पर्य यह कि वेदो ने तो प्रत्येक सत्कर्म की फलश्रुति मनमानी लिख दी है पर कलि महाराज के मारे जब कोई सत्क्रिया सफल हो, तभी न उसका फल मिले ॥२॥

शास्त्रोक्त विधि से मनुष्य जप और यज्ञ करते हैं पर उनसे यथेष्ट कार्य सिद्धि नही होती। योग सिद्धियों के साधन में सुख स्वप्न में भी नही। इसमें भी रोग और वियोग प्रस्तुत है। शरीर रोगी होने से प्रियजनो से विछोह हो जाता है ॥३॥

काम क्रोध अहकार लोभ और मोह ने मिलकर ज्ञान-वैराग्य को तो हर सा लिया है (इन व्यसनो के मारे यह भी सपने के नहीं) और सन्यास ग्रहण करने पर मन ऐसा बिगड जाता है जैसे पानी के पडने से कच्चा घडा गल जाता है ॥४॥

शास्त्रों के अनेक मत सुनकर और पुराणो में नाना प्रकार के पथ देखकर जहाँ तहाँ झगडे ही जान पडते हैं (कही भी कोई निश्चित दृष्टि नही मिल रही है)। गुरु ने

तो मुझे राम भजन का ही उपदेश किया है और वही मुझे राज-मार्ग के समान अच्छा भी लगता है ॥५॥

हे तुलसी! विश्वास और श्रद्धा के बिना जिसे बार-बार पच-पचकर मरना हो, वह भले ही मरे, किन्तु संसार सागर पार करने के लिए तो एक राम-नाम ही जहाज है ॥६॥

शब्दार्थ—आगम = शास्त्र। सरत = पूरा होता है। नावत = डालते हैं। आम = कच्चा। घरो = घड़ा। डगरो = मार्ग।

विशेष—(१) इस पद में गोसाईंजी ने सिद्धान्तरूप से रामनाम का सहज साफल्य तथा अन्य साधना का वैफल्य दिखाया है।

(२) 'तप मख'—प्रत्येक की कठिनता देखिए —

तप—पचाग्नि तापना, जल शयन करना, धोती, नेती आदि करना,
तीरथ—तीर्थों का पर्यटन, भूख-प्यास सहकर, पर्यटन करना,
उपवास—चान्द्रायण, कृच्छ्र, महाकृच्छ्र आदि व्रत करना,
दान—प्रसन्न चित्त से निष्काम बुद्धि से शास्त्रोक्त दान देना,
मख—अश्वमेधादि यज्ञ करना, जो महाकठिन हैं।

(३) 'बिगरत घरो सो'—सन्यास आश्रम सारे आश्रमों से कठिन है। जब मन समस्त विषयों से तृप्त हो जाय इन्द्रियों को जीत लिया जाय और शान्ति का अनुभव होने लगे, तभी इस आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। कर्म करते हुए भी, कर्म वासना का पूर्णतया त्याग कर देना सच्चा सन्यास है। ऊपर से कुछ कर्मों का त्याग सन्यास नहीं है। निर्विकल्प मनवाले साधक ही सन्यास के अधिकारी हैं। यों तो जहाँ तहाँ अनेक सन्यासी भगवा वस्त्र पहने मूड़ मुँड़ाये घूमते फिरते हैं —

'दाढ़ी मूँछ मुड़ायके, हुआ जु घोटम घोट।
मन को क्यों नहिं मूँडिए जामें भरिया खोट॥
माला तिलक लगाइकै, भक्ति न आई हाथ।
दाढ़ी मूँछ मुड़ाइकै, चले दुनी के साथ॥'

(४) बहुमत 'झगरो-सो'—

मत—वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा, इन शास्त्रों के तथा शैव वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, बौद्ध, जैन आदि अनेक-सम्प्रदायों के मत मतान्तर।

(५) 'गुरु नीको'—इस बात को दृढ़तापूर्वक हृदय में बैठा दिया गया कि—

'न तत्पुराणं नहि यत्र रामो यस्यां न रामो न च सा संहिता सा।
स नेतिहासो नहि यत्र रामः काव्यं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः॥'

[पद्मपुराण

१७४

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥१॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषण बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितनि, भये मुद-मंगलकारी॥२॥

नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥३॥
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान तें प्यारो ।
जासों होइ सनेह राम पद, एतो मतो हमारो ॥४॥

भावार्थ—जिसे श्रीराम-जानकी प्यारे नहीं, उसे करोड़ शत्रुओं के समान त्याग देना चाहिए, चाहे वह अपना अत्यंत ही प्यारा क्यों न हो ॥१॥

(उदाहरण के लिए,) प्रह्लाद ने अपने पिता (हिरण्यकशिपु) को, विभीषण ने अपने भाई (रावण) को, भरत ने अपनी माता (कैकेयी) को, राजा बलि ने अपने गुरु (शुक्राचार्य) को और व्रज गोपियों ने अपने अपने पतियों को (भगवत्प्राप्ति में बाधक समझकर) त्याग दिया और ये सभी आनन्द और कल्याण करनेवाले हुए ॥२॥

जहाँ तक मित्र और भली भाँति पूजने योग्य हैं, वे सब श्रीरघुनाथजी के ही सम्बंध और प्रेम से ऐसे माने जाते हैं। तात्पर्य यह कि यदि वे भगवत दर्शन और हरि प्रेम में सहायक हैं, तो उन्हें मानना और पूजना चाहिए अन्यथा नहीं। जिस अंजन के लगाने से आँखें ही फूट जायँ वह अंजन किस काम का? बस अब अधिक क्या कहूँ ॥३॥

हे तुलसीदास! जिसके कारण श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम हो, वही सब प्रकार से परमहितकारी, पूजनीय और प्राणों से भी अधिक प्यारा है। हमारा तो यही मत है ॥४॥

शब्दार्थ—कन्त=पति। मतो=मत, सिद्धान्त।

विशेष—(१) 'व्रज बनितनि'—महाभाग्यवती गोपियाँ तो प्रेम मन्दिर की 'धुजा' थीं। एक प्रेम दीवानी गोपी यहाँ तक कहती है —

'घर तजौं, बन तजौं नागर' नगर तजौं,
बंसीवट तट तजौं, काहू पै न लजिहौं।
देह तजौं गेह तजौं नेह कहौ कैसे तजौं
और काज छाँडि आज ऐसे साज सजिहौं॥
बावरो भयो है लोक बावरी कहत मोकौं
बावरी कहेतें मैं हूँ काहू ना बरजिहौं।
कहैया-सुनैया तजौं बाप और मैया तजौं,
दैया! तजौं मैया, पै कन्हैया नाहिं तजिहौं॥'
[नागरीदास

(२) 'एतो मतो हमारो'—इस पद पर से एक यह धारणा बन गई है कि यह पद मीराबाई के पत्रोत्तर रूप में लिखा गया है। कहते हैं कि मीराबाई को उनके परिजनों ने बहुत परेशान किया तब उन्होंने गोसाईं तुलसीदासजी को यह पद पत्र में लिखकर भेजा—

'स्वस्ति श्री तुलसी गुनभूषन दूषन हरन गुसाईं।
बारहिंबार प्रनाम करौं अब हरहु सोक-समुदाई॥
घर के सजन हमारे जेते, सबनि उपाधि बढाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥

बालपन तें मीरां कीन्हीं गिरिधरलाल मिताई।
सा तो अब छूटत नहिं क्योंहूँ, लगी लगन बरियाई॥
मेरे मात पिता के सम हौ हरि भक्तन सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समुझाई॥

श्रीतुलसीचरित' के अनुसार—

सो पत्र्या गुसाइं समाचार। जिमि लिखी हुती निज गति विचार॥'

'जाके प्रिय न राम-बैदेही' इत्यादि पद गोसाइंजी ने मीराबाई को लिख भेजा। यह दंत-कथा ही प्रतीत होती है। मीराबाई का गोलोक प्रयाण संवत् १६०३ में हो चुका था। उस समय गोसाइंजी अधिक से अधिक १३ वर्ष के रहे होंगे। यह पद साधारणतया सभी के लिए रचा गया है। इसका पुष्टीकरण 'तुलसी-ग्रन्थावली' के तीसरे खण्ड में स्व० पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने भी किया है।

१७४

जो पै रहनि राम सों नाहीं।
तौ नर खर कूकर सूकर सम वृथा जियत जग माहीं॥१॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सबही के।
मनुज देह सुर साधु सराहत, सो सनेह सिय पी के॥२॥
सूर, सुजान, सुपूत, सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरिभजन इँनारुन के फल तजत नहीं करुआई॥३॥
कीरति, कुल, करतूति, भूति भलि सील, सरूप सलोने।
तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलोने॥४॥

भावार्थ—जिसकी श्रीरामचन्द्रजी से प्रीति नहीं है, वह इस संसार में गधे, कुत्ते और सूअर के समान वृथा ही जीवन बिता रहा है (मानव जन्म रामभक्त होने से ही सार्थक हो सकता है अन्यथा नहीं)॥१॥

यों तो काम, क्रोध अहंकार लोभ, निद्रा, भय भूख और प्यास का सभी को अनुभव होता है पर जिस कारण से देवता और संतजन मनुष्य-शरीर की प्रशंसा करते हैं, वह तो श्रीसीतानाथ रघुनाथजी का प्रेम ही है॥२॥

कोई शूरवीर, चतुर, माता पिता की आज्ञा पालन करनेवाला सुपुत्र, सुन्दर लक्षणवाला तथा महान् गुणों से युक्त भले ही हो, परन्तु यदि वह हरिभजन नहीं करता, हरिपरायण नहीं है, तो वह इन्द्रायण के फल के समान है, जो देखने में सुन्दर होने पर भी अपना कड़वापन नहीं त्यागता॥३॥

कीर्ति, उच्चवंश, अच्छी करनी, बड़ी विभूति, शील और लावण्यमय स्वरूप होते हुए भी यदि उसका प्रभु रामचन्द्रजी के प्रति प्रेम नहीं है, तो ये सारे सद्गुण ऐसे हैं, जैसे बिना नमक की दाल या साग भाजी॥४॥

शब्दार्थ—गरुआई = भारीपन, बड़प्पन, इँनारुन = इन्द्रायण, एक कड़ुआ फल। सलोने = लावण्यमय, सुन्दर।

विशेष—(१) 'तो सर ... नाहीं'—हरि-विमुख जीव की तुलना गधा, कुत्ता और सूअर से की गई है। 'गधा' इसलिए कि वह मनुष्य-जीवन का व्यर्थ भार ही ढो रहा है उसे विवेक बुद्धि आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं मिला। 'कुत्ता' इसलिए कि बिना ही कारण नित्य भूँकता रहता है, विषय-विकार में लगा रहता है, दूसरे के घर पर लार टपकाता है। 'सूअर' इस कारण कि वह विषयरूपी भक्ष्य-अभक्ष्य सब कुछ खाता रहता है।

(२) 'काम ... पीवे'—यह इस श्लोक का छायानुवाद मालूम होता है —

आहार निद्रा भय-मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभि समाना॥

। १७६

राख्यो राम सुस्वामी सो नीच नेह न नातो।
एते अनादर हूँ तोहि ते न हातो॥१॥
जोरे नये नाते नेह फोकट फीके।
देह के दाहक गाहक जी के॥२॥
अपने अपने को सब चाहत नीको।
मूल दुहूँ को दयालु दूलह सी को॥३॥
जीव को जीवन, प्रान को प्यारो।
सुख हू को सुख राम सो बिसारो॥४॥
कियो करैगो तोसे खल को भलो।
ऐसे सुसाहब सो तू कुचाल क्यों चलो॥५॥
तुलसी तेरी भलाई अजहूँ बूझै।
राढउ राउत होत फिरिकै जूझै॥६॥

भावार्थ—रे नीच! तूने श्रीरामचन्द्रजी-सदृश सुन्दर स्वामी से न तो प्रेम रखा और न नाता ही जोड़ा। इतना अनादर करने पर भी उन्होंने तुझे नहीं त्यागा। तूने उन्हें छोड़ दिया, भुला दिया, पर वे जनवात्सल्य के नाते फिर भी तुझसे अलग नहीं हुए, सदा तेरे साथ ही रहे॥१॥

तूने नये-नये नाते और नया-नया प्रेम जोड़ा जो सब व्यर्थ और नीरस थे (उन सबसे कल्याण होना तो दूर रहा वरन्) वे (उलटे) तेरे शरीर को जलानेवाले और प्राणों के गाहक थे (प्रियजनों के न मिलने अथवा मिलकर बिछुड़ जाने से प्राणान्तक दुःख होता है; जीव उनके कारण और भी संसार-बंधन में दिन दिन जकड़ता जाता है)॥२॥

अपना और अपनों का तो सभी भला चाहते हैं किन्तु दोनों के कल्याण के मूल एक श्रीजानकीवल्लभ ही हैं॥३॥

वे जीवों के जीवन हैं, प्राणों के प्यारे हैं और सुख के भी सुख हैं अर्थात् जितने

भी मुख माने जा सकते हैं, उनके मूल कारण हैं। ऐसे श्रीरामचन्द्रजी को तूने भुला दिया। ॥४॥

जिन्होंने तेरा सदा भला किया और आगे भी जो भला ही करेंगे, ऐसे स्वामी के साथ तू ऐसी कुचालें क्यों चला? ॥५॥

हे तुलसी! यदि तू अब भी समझ जाय तो तेरी बन सकती है, क्योंकि बार-बार लड़ने से कायर भी शूरवीर हो जाता है। (सारांश यह कि अब भी चेत जा, पुरुषार्थ कर, तेरी सारी बिगड़ी करनी बन जायगी। निराश होने का कोई कारण नहीं) ॥६॥

शब्दार्थ—हातो = अलग हुआ। फोकट=बेकाम। सी=सीताजी। रा‍उ= कायर भी। रा‍उत=वीर।

विशेष—(१) 'जोरे फीके'—स्त्री-पुत्रादि के साथ सम्बन्ध जोड़ना व्यर्थ इसलिए है कि वे उपस्थित मृत्यु से नहीं बचा सकते, बल्कि उनके लिए जितने सुकर्म-कुकर्म किए उन सभी का फल भोगना पड़ेगा। अतएव उनके साथ का सम्बन्ध वृथा है। कहा है—

'गुरुन स स्यात स्वजनो न स स्यात पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात।
दैवं न तत स्यान्नपतिश्च स स्यान्नमोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥'

और फीके तो हैं ही, क्योंकि जो नित्य नहीं हैं परिवर्तनशील हैं, उनमें सरसता और आनन्द कहाँ?

(२) 'जीव प्यारो'—रामचरितमानस में भी यही कहा है—

प्रान प्रान को जीवन जी को

गीता के 'पुरुषस्त्वन्यस्तदुच्यते' के अनुसार आत्मा का नियन्ता कोई अन्य ही है। वही जीव का जीव आत्मा का आत्मा प्राण का प्राण है।

(३) 'प्रान'—प्राण पाँच प्रकार के माने गये हैं—हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान और सब शरीर में व्यान। इन सबका संचारक परमात्मा है।

१७७

जो तुम त्यागो राम, हौं तो नहिं त्यागो।
परिहरि पाय काहि अनुरागो॥१॥
सुखद सुप्रभु तुम सो जग माहीं।
स्रवन नयन मन-गोचर नाहीं॥२॥
हौं जड़ जीव, ईस रघुराया।
तुम मायापति, हौं बस माया॥३॥
हौं तो कुजाचक, स्वामि सुदाता।
हौं कुपूत, तुम हौ पितु-माता॥४॥
जो पै कहुँ कोउ पूछन बानो।
तो तुलसी बिनु मोल बिकानो॥५॥

भावार्थ—हे रामजी ! आप यदि मुझे त्याग दें तो भी मैं आपको त्यागने वाला नहीं क्योंकि आपके चरणों को छोड़कर मैं और किससे अपना प्रेम जोड़ूँ ? ॥१॥

आपके समान गुणवान् सुन्दर स्वामी (आज तक) इस संसार में न कानों से सुना है न आँखों से देखा है, और न मन में अनुमान से ही कोई दूसरा आता है ॥२॥

हे रघुनाथजी ! मैं जड़ जीव हूँ और आप विभु हैं ईश्वर हैं। आप माया के स्वामी हैं (माया आपके अधीन है) और मैं माया के वश होकर रहता हूँ। (माया से आच्छन्न रहता हूँ अतएव विकारी हूँ) ॥३॥

मैं एक भिखमंगा हूँ और आप बड़े ही उदार स्वामी हैं। मैं आपका पुत्र हूँ और आप मेरे माता पिता हैं। आप यह कि मैं कभी आपको अपना नहीं मानता, तो भी आप सदा मेरा पालन पोषण किया करते हैं ॥४॥

यदि कहीं कोई भी मेरी बात पूछता (मेरी जरा भी इज्जत करता) तो मैं बिना ही मोल (उसके हाथ में) बिक जाता। (पर किसी ने मुझे रखा ही नहीं क्योंकि मैं) पौरुषहीन हूँ, मुझे रखकर कोई करेगा क्या ? मेरे तो यदि कोई ग्राहक हैं, तो एक आपही हैं आपही मुझे खरीदकर अपना दास बना लीजिए) ॥५॥

शब्दार्थ—गोचर = इन्द्रियों के विषय। बातो=बात।

विशेष—(१) हौं जड़ बस माया—स्पष्टतः जीव और ब्रह्म का भिन्नत्व यहाँ सिद्ध किया गया है। जीव को जड़ इसलिए कहा गया है कि मायाकृत आवरण के कारण सदसत् ज्ञान का उसमें अभाव रहता है। अणुत्व होने से उसका ज्ञान परिमित रहता है। वह स्वपुरुषार्थ से अनन्त के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं सोच सकता अतएव वह चैतन्य होते हुए भी, जड़ ही है। इसके विरुद्ध परमात्मा ईश है, विभु है, अनन्त ज्ञानसंपन्न है। माया के अधीन होने से जीव में सुख-दुःख आदि द्वन्द्व रहते हैं किन्तु कैवल्यरूप ब्रह्म माया अपरिच्छिन्न परमात्मा द्वंद्वों से विमुक्त है। तत्वतः ब्रह्म का अंशस्वरूप (ममैवांशो जीवलोके—गीता) होने के कारण जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य अवश्य है किन्तु माया के प्राबल्य से जो माया ब्रह्म के अधीन है, जीव अपना 'स्वरूप' भूल बैठा है। यदि माया मिथ्या न होती, तो ब्रह्मस्वरूप जीव पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ता। पर ऐसा नहीं है।

(२) 'जो बिकाता'—दुनिया भर में घूम फिर चुकने के अनन्तर आपके द्वार पर आया हूँ। यही ऐसा एक बाजार है जहाँ रद्दी से भी रद्दी चीज बिक जाती है। और यह दरबार दीन को आदर यह भी सुना था, इसलिए मुझे पूरा विश्वास हो गया कि यहाँ अवश्य ही मेरा आदर होगा।

१८८

भयेहूँ उदास राम, मेरे आस रावरी।
आरत स्वारथी सब कहैं बावरी ॥१॥
जीवन को दानी घन कहा ताहि चाहिए।
प्रेम नेम के निबाहे चातक सराहिए ॥२॥

मीन तें न लाभ लेस पानी पुन्य पीन को ।
जल बिनु थल कहा मीचु बिनु मीन को ॥३॥
बड़े ही की ओट, बलि, बाचि आये छोटे है ।
चलत खरे के सग जहा-तहा खोटे हैं ॥४॥
यहि दरबार भलो दाहिनेहुँ-बाम को ।
मोको सुभदायक भरोसो राम नाम को ॥५॥
कहत नसानी ह्वै है हिये नाथ, नीको है ।
जानत कृपानिधान तुलसी के जी की है ॥६॥

भावार्थ—हे रघुनाथजी ! आप भले हो मेरी ओर से उदासीन हो जायँ, पर मुझे तो आपकी ही आशा है। जो लोग दुखी अथवा स्वार्थी होते है, वे पागलों की-सी बातें किया करते हैं, विचारकर बातें नहीं करते (यही दशा मेरी है) ॥१॥

जो मेघ पानी का दान करता है और प्राणियों की रक्षा करता है, उस किस वस्तु की कमी ? किस प्रेम का (अटल) नियम निबाहने के कारण पपीहे की ही प्रशसा होती है। (भाव यह है कि मेघ पपीहे को किसी स्वार्थवश स्वाति का जल नहीं देता केवल उसका प्रेम-नेम देखकर ही वह ऐसा करता है, किन्तु उसका प्रेम इतना बढ़ा होता है कि देनेवाले की तो तारीफ नहीं होती वरन् लेनेवाले पपीहे की ही होती है ॥२॥

पवित्र और पुष्टिकारक जल को मछली से लेशमात्र भी लाभ नहीं, पर मछली के लिए, जल को छोड़कर, यहीं ऐसा भी कोई स्थान है जहा वह अपने प्राण बचा सके ? (तात्पर्य यह है कि वह जल को छोड़कर कहीं भी जीवित नहीं रह सकती, जल पर उसका अगाध प्रेम है और इसी कारण से उसकी प्रशसा होती है) ॥३॥

मैं आपकी बलैया लेता हूँ देखिए, बड़ो के सहारे ही (सदा) छोटे बचते आये हैं, जहाँ-तहाँ खरे सिक्कों के साथ खोटे भी चल जाते है। (भाव यह कि आपके सच्चे भक्त असली सिक्के है, और मैं एक पाखण्डी नकली सिक्का, किन्तु आपके नाम की छाप से तथा सत्सग से मैं भी उनके साथ ससार सागर पार कर जाऊँगा ॥४॥

आपका यह दरबार कुछ ऐसा है, कि यहा भले-बुरे सभी का भला होता है, भले ही कोई आपके अनुकूल हो या प्रतिकूल। (जैसे विभीषण सम्मुख होने से तथा रावण विमुख होने से मुक्त हुआ)। हे नाथ ! मुझे तो केवल आपके श्रेयस्कर नाम का ही बल भरोसा है ॥५॥

कह देने से बात बिगड़ जायगी, (क्योंकि कहता हूँ आप हूँ स्वार्थी हूँ) इसलिए मन की मन में ही रखना अच्छा है फिर आप तो तुलसी के जी की, हे कृपानिधान, सब जानते ही हैं। क्योंकि आप अन्तर्यामी हैं, आपसे कुछ छिपा नहीं) ॥६॥

शब्दार्थ—जीवन=पानी, जल। पीन=पुष्ट। मीच=मौत। बाँचि आये=बच आये। खरा=चोखा, असली। दाहिना=अनुकूल। बाम=प्रतिकूल।

विशेष—(१) 'चातक सराहिए'—उदारता तो मेघ की है, परन्तु प्रशसा चातक की की जाती है। इसी प्रकार मुझे निहाल तो आप करेंगे, पर तारीफ होगी मेरी। यह

आपकी अनन्य भक्ति की महिमा है और यही अनन्यता आपकी कृपा से ही मिलती है। अतएव जीव में जो कुछ भी योग्यता है उसके मूल कारण आप ही हैं।

(२) "जनु बिनु ... बारि को"—यथा—

'सर सूखे पंछी उड़ैं और सरनि समाहिं।
दीन मीन बिनु पच्छ के, कहु रहीम कहँ जाहिं॥'

इसी अनन्य निष्ठा के कारण मीन की सराहना होती है। इसी प्रकार आपको छोड़कर मुझे कहीं भी ऐसा कोई ठौर ठिकाना नहीं जहाँ मैं स्नान, पान या प्राण न बचा सकूँ। रहता तो मैं स्वार्थवश आपकी शरण में हूँ पर इसे 'अनन्यता' कहा जाता है। और मेरी प्रशंसा के पुल बाँधे जाते हैं। इसे अनन्यता कहते हैं और मेरी तारीफ करते हैं। यह आपकी ही कृपा है।

(३) बड़े छोटे हैं—जैसे अजामिल धोखे से आपका नारायण नाम पुकारकर यम-यातना से त्राण पा गया।

(४) 'कहत नसानी ह्वै है'—क्योंकि आरत स्वारथी सब कहु बात बावरा।"

'आन कहौं सब स्वारथ हेतू। रहत न आरत के चित चेतू॥

[रामचरितमानस

तथा—

'कामार्त्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु। [मेघदूत

राग बिलावल

१७६

कहाँ जाउँ, कासों कहौं, को सुनै दीन की।
त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन की॥१॥
जग जगदीस घर घरनि घनेरे हैं।
निराधार के अधार गुनगन तेरे हैं॥२॥
गजराज-काज खगराज तजि धायो को।
मोसे दोष कोष पोसे तोसे माय जायो को॥३॥
मोसे कूर कायर कुपूत कौड़ी आध के।
किये बहुमोल तैं करैया गीध स्राध के॥४॥
तुलसी की तेरे ही बनाये, बलि बनैगी।
प्रभु की बिलंब अंब दोष दुख जनैगी॥५॥

......—कहाँ जाऊँ? किससे कहूँ? कौन इस (साधनहीन) दीन की सुनेगा? जिसे कहीं ठौर ठिकाना नहीं, जो सब तरह से निःसहाय है उसकी गति तीनों लोकों में एक तू ही है। (केवल तू ही उसे शरण में ले सकता है)॥१॥

यों तो दुनिया में घर घर जगदीश भरे पड़े हैं (सभी अपने-आपको कहते हैं, कि दुनिया के मालिक हमी हैं।) पर जिसे कोई सहारा नहीं उसके लिए तो एक तेरे ही

गुणों का आधार है। (भाव यह, तेरे ही गुणों को गानकर संसार सिन्धु को वह पार करता है) ॥२॥

गजेन्द्र को छुड़ाने के लिए गरुड़ की सवारी छोड़कर भी कौन दौड़ा था? जिसने मुझ-जैसे महान् अपराधी का भी पालन-पोषण किया, ऐसा एक तुझे छोड़कर किस जननी ने जना है? (किसी माई के लाल में यह बलबूता न था, जो मुझ-सरीखे घोर पातकी का उद्धार कर देता) ॥३॥

मुझ-जैसे दुष्ट, कायर, कुपूत और आधी कौड़ी की कीमतवाला को भी हे जटायु के श्राद्ध करनेवाले! तूने बहुमूल्य बना दिया (मुझे पहले कोई फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं समझता था, पर आज, तेरी कृपा से, मैं जगत में पूज्य माना जाता हूँ) ॥४॥

बलिहारी! तुलसी की (बिगड़ी हुई) करनी तेरे ही बनाये बन सकेगी। तेरी विलम्बरूपी माता दोष और दुःखरूपी संतान ही जनेगी। भाव यह, कि यदि तूने मुझे निहाल करने में देर लगाई, तो फिर मुझे दोष और दुःख के सिवाय और मिलेगा ही क्या? (अतः तू शीघ्र ही मेरी बिगड़ी करनी को सुधार दे) ॥५॥

शब्दार्थ—अगहीन = निःसहाय। खगराज=गरुड़ से तात्पर्य है। दोषकोष= अपराधों का भाण्डार महान् अपराधी। पोसे=पोषण किया, पालन किया। जायो= जना, पैदा किया।

विशेष—(१) अगहीन—अगहीन पर यह दोहा बहुत ठीक घटता है—

'नहिं विद्या, नहिं बाहुबल, नहिं खरचन को दाम।
तुलसी मोसे पतित की, तुम पति राखो राम॥'

(२) 'गजराज' धायो को—देखिए यह भावपूर्ण कवित्त—

'दीन भयो गजराज, हीन भयो बल हूँ तें,
टूटि गयो मान टेरयो हरी-हरी' करिकै।
पौढ़ें प्रभु रमा-संग पीत-पट राते रंग,
सोवे उठि धाये नाथ नैन आये भरिकै॥
आधीरात धाये नाथ चक्र सुदर्सन लिये
काटि दीनो ग्राहफंद जरी-जरी करिकै।
'तुलसी' त्रिलोकी-नाथ, भक्तनि के सदा साथ,
गरुड़ छाड़ि धाये नाथ 'करी-करी करिकै॥'

(३) 'मोसे कूर' बहुमोल—कवितावली रामायण में इसीको ज्यों का त्यों दोहराया गया है—

'राम नाम ललित ललाम कियो लाखनि को,
बड़ो कूर कायर कपूत कौड़ी आध को।'

१८०

बारक बिलोकि, बलि, कीजे मोहि आपनो।
राय दसरथ के तू उथपन-थापनो॥१॥

साहिब सरनपाल सबल न दूसरो।
तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो ॥२॥
वचन करम तेरे मेरे मन गड़े हैं।
देखे सुने जाने मैं जहान जेते बड़े हैं ॥३॥
कौन कियो समाधान सनमान सीला को।
भृगुनाथ सो रिषी जितैया कौन लीला को ॥४॥
मातु पितु-बंधु हित लोक बेदपाल को।
बोल को अचल, नत करत निहाल को ॥५॥
संग्रही सनेहबस अधम असाधु को।
गीध सबरी को कहौ करिहै सराधु को ॥६॥
निराधार को अधार दीन को दयालु को।
मीत कपि केवट-रजनिचर भालु को ॥७॥
रंक, निरगुनी, नीच जितने निवाज है।
महाराज! सुजन-समाज ते बिराज है ॥८॥
साची बिरुदावली न बढ़ि कहि गई है।
सीलसिंधु! ढील तुलसी की बेर भई है ॥९॥

भावार्थ—हे नाथ! बलिहारी! एक बार मेरी ओर देखकर मुझे भी अपना लीजिए। हे श्री दशरथ-नन्दन! आप उखड़े हुए जीवों को भी फिर से जमानेवाले हैं। (जिनका सर्वस्व हरण हो चुका उन्हें भी उनके पद पर पुनः स्थापित करनेवाले हैं।) ॥१॥

आपके समान कोई दूसरा शरणागतों का पालनेवाला सर्वसमर्थ स्वामी नहीं है। आपका नाम लेते ही ऊसर खेत भी उपजाऊ हो जाता है। (भाव यह कि जिनके पूर्व संस्कारों में सुख का कहीं नाम भी नहीं था वे भी आपके नाम के प्रभाव से भक्ति आनंद ज्ञान आदि धान्य से सम्पन्न हो जाते हैं) ॥२॥

आपके वचन और कर्म मेरे मन में जम गये हैं। (यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि शरणागतों का उद्धार और दीनों पर दया करना आपका स्वभाव है)। और मैंने उन लोगों को भी देख सुन और समझ लिया है जो दुनिया में बड़े कहे जाते हैं ॥३॥

उनमें से किसने पापाणी अहल्या का शाप दूर कर उसे शान्ति प्रदान की, और किसने सहज ही परशुराम जैसे महाक्रोधी ऋषि को जीत लिया? ॥४॥

माता पिता और भ्राता के लिए किसने लोक और वेद की मर्यादा का पालन किया? कौन अपने वचनों पर अडिग रहा? और प्रणाम के करते ही प्रणत को किसने निहाल कर दिया? ॥५॥

प्रेम के अधीन होकर किसने नीचों और दुष्टों को इकट्ठा किया अपनाया? और गीध और शबरी का पिता माता की तरह और कौन श्राद्ध करेगा? ॥६॥

जिनका कहीं भी कोई आश्रय नहीं, उनका आधार (सिवा आपके) कौन है ? दीनों पर कृपा करनेवाला कौन है ? और बानर निषाद, राक्षस तथा रीछों का मित्र कौन है ? (सिवा आपके दूसरा कौन हो सकता है ?) ॥७॥

हे महाराज ! आपने जितने दीनों, मूर्खों और नीचों पर कृपा की है वे सब साधुओं के समाज में आज सुशोभित हो रहे हैं, सन्त-समाज में उनकी भी अच्छी गणना हो रही है ॥८॥

यह आपकी सच्ची-सच्ची बड़ाई कही गई है, (एक अक्षर भी) बढ़ाकर नहीं कहा है। किन्तु, हे शील के समुद्र ! तुलसीदास के ही लिए इतना अधिक विलम्ब क्यों हो रहा है ? (यही एक आश्चर्य है ! आपकी विरदावली के अनुसार तो अब तक इसकी भी सुनाई हो जानी चाहिए थी।) ॥९॥

विनोद—(१) 'उथपा थापनो'—जैसे सुग्रीव और विभीषण को, जो अपने अपने भाई के साथ द्रोह करने से जड़ से उखड़ चुके थे फिर से स्थापित किया, उन्हें राज्यपद दिला दिया।

(२) सीला—शिला का अपभ्रंश है।

(३) 'भृगुनाथ सो'—सो (सरीखा) परशुरामजी के अपरिमित बल, वीर्य और तेज का द्योतक है।

(४) 'न बढ़ि कहि गई है'—इस कथन में अत्युक्ति या कवि चमत्कार लेशमात्र भी नहीं है। यह हृदय के सच्चे उद्गार हैं, ठकुरसुहाती नहीं है।

१८१

केहू भाँति कृपासिन्धु मेरी ओर हेरिए।
मोको और ठौर न, सुटक एक तेरिए ॥१॥
सहस सिला तें अति जड़ मति भई है।
कासो कहौं, कौन गति पाहनहि दई है ॥२॥
पद राग-जाग चहौं कौसिक ज्यों कियो हौं।
कलि-मल खल देखि भारी भीति भियो हौं ॥३॥
करम कपीस बालि बली त्रास त्रस्यो हौं।
चाहत अनाथ-नाथ ! तेरी बाँह बस्यो हौं ॥४॥
महामोह-रावन विभीषन ज्यों हयो हौं।
त्राहि तुलसीस ! त्राहि तिहूँ ताप तयो हौं ॥५॥

भावार्थ—हे कृपासागर ! किसी भी तरह मेरी ओर देखो तो। मेरा कोई और ठिकाना नहीं है, एक तुम्हारा ही पक्का आसरा है (यदि तुम्हीं ने छोड़ दिया, तो फिर कहाँ, किसका होकर रहूँगा ?) ॥१॥

मेरी बुद्धि हजारों शिलाओं से भी जड़ हो गई है। (अब मैं उसे चैतन्य करने के लिए तुम्हें छोड़कर) और किससे कहूँ ? पत्थरों को किसने मुक्त किया है। तुम्हीं ने, बस इतने ही से समझ लो। जैसे तुमने एक पाषाणी का उद्धार कर दिया था उसी प्रकार मेरी जड़ बुद्धि को भी चैतन्य और शुद्ध बना दो ॥२॥

जिस प्रकार महर्षि विश्वामित्र ने (तुम्हारे संरक्षण में निर्विघ्न) यज्ञ किया था, उसी प्रकार मैं भी एक यज्ञ करना चाहता हूँ। वह यज्ञ है तुम्हारे चरणों में भक्ति-लाभ करना। किन्तु कलि के पापरूपी दुष्टों को देखकर मैं अत्यन्त डर गया हूँ (कि कहीं ये सारा किया-कराया नष्ट भ्रष्ट न कर दें जैसे मारीच, ताड़का आदि राक्षस विश्वामित्र का यज्ञ विध्वस्त कर दिया करते थे) ॥३॥

कुटिल कर्मरूपी बन्दरों के बलवान राजा बालि से बहुत डर रहा हूँ, सो हे अनाथों के नाथ! जैसे तुमने बालि को मारकर सुग्रीव को अभय कर दिया था, उसी प्रकार मैं भी आपकी बाहु की छाया में बसना चाहता हूँ मुझे भी कुटिल कर्मों से बचाकर अपना लो ॥४॥

जैसे, रावण ने विभीषण को मारा था, उसी प्रकार मुझे यह महान मोह मार रहा है। हे तुलसी के स्वामी! मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो मैं संसार के तीनों तापों से जला जा रहा हूँ ॥५॥

शब्दार्थ—टेक=सहारा बल। पद राग=चरणों में अनुराग। जाग=(याग) यज्ञ। भियो हौं=डर गया हूँ। तयो हौं=जल रहा हूँ।

विशेष—(१) तिहूँ ताप'—दैहिक, भौतिक और दैविक।

॥ १८२ ॥

नाथ! गुनगाथ सुनि होत चित चाउ सो।
राम रीझिबे को जानौं भगति न भाउ सो ॥१॥
करम, सुभाउ, काल ठाकुर न ठाउ सो।
सुधन न, सुतन न, सुमन सुआउ सो ॥२॥
जाचौं जल जाहि कहै अमिय पिआउ सो।
कासों कहौं काहू सो न बढ़त हिआउ सो ॥३॥
बाप! बलि जाउँ आपु करिये उपाउ सो।
तेरेही निहारे परै हारेहू सुदाउ-सो ॥४॥
तेरेही सुझाये सूझै असुझ सुझाउ सो।
तेरेही बुझाये बूझै अबुध बुझाउ सो ॥५॥
नाम अवलंबु अंबु दीन मीन राउ सो।
प्रभु सों बनाइ कहौं, जीह जरि जाउ सो ॥६॥
सब भाँति बिगर एक सुबनाउ सो।
तुलसी सुसाहिबहि दियो है जनाउ सो ॥७॥

भावार्थ—हे नाथ! आपकी गुणावली को सुन-सुनकर मेरे चित्त में चाव-सा होता है किन्तु हे रघुनाथजी! जिस भक्ति और भावना से आप प्रसन्न होते हैं, उसे मैं नहीं जानता (यदि जानता होता, तो मुझे आपके गुणों के सान्निध्य से परमानन्द प्राप्त न हो गया होता?) ॥१॥

कारण कि न तो मेरी करनी अच्छी है, न स्वभाव उत्तम है और न समय ही अनुकूल है (कलियुग है), न कोई मालिक है, न कहीं कोई ठौर ठिकाना है, न (साधन रूपी) धन है, न नीरोग शरीर है (कि जिससे योगाभ्यास आदि करूँ), न निश्चल चित्त है, और न लम्बी आयु ही है। (सारांश, भगवत्प्राप्ति का एक भी साधन मेरे पास नहीं है। सब प्रकार से बिना आधार का हूँ) ॥२॥

जिससे मैं, प्यास के मारे पानी माँगता हूँ, वह उलटा मुझसे ही अमृत पिलाने के लिए कहता है। मैं अपनी बात किससे कहूँ? कहने की किसी से हिम्मत नहीं पड़ती (मन की मन में ही रखता हूँ) ॥३॥

हे पिताजी! बलिहारी! आप ही कुछ ऐसा उपाय कर दीजिए (कि जिससे यह सारा अजमजम दूर हो जाय) क्योंकि आपके दाव देने मात्र से हारने पर भी अच्छा दाँव सा हाथ लग जाता है। बड़े-बड़े पापी भी आपकी कृपा से बैकुण्ठ-धाम के अधिकारी हो जाते हैं ॥४॥

आप यदि सुझा दें तो अदृष्ट वस्तु भी दीखने लगती है, और आपके समझा देने पर अगोचर वस्तु भी अनुभव में आ जाती है। अब जो मेरी समझ में नहीं आ रहा है, उसे आप ही समझा दीजिए ॥५॥

देखिए आपके नाम का जो आधार है, वही तो पानी है और उसमें रहनेवाला मैं दीन मीनों का राजा हूँ। बड़े भारी मत्स्य के समान हूँ, जो मैं अपने स्वामी से कपट भरी बात कहता होऊँ तो यह जीभ जल जाय ॥६॥

मेरी करनी सभी प्रकार से बिगड़ चुकी है, केवल एक ही अच्छी बात बनी हुई है। वह यह कि तुलसीदास ने अपनी करनी अपने मालिक को वक्त पर जना दी है ॥७॥

दाय—ठाकुर=मालिक। सुभाउ = (सुआयु) बड़ी उम्र। अमिय= अमृत। हिआउ = साहस। अबुझ = जो समझ में न आय। जीह = जीभ। जनाउ= सूचना।

विशेष—(१) करम सुभउ—एक तो कुटिल कर्म फिर नीच स्वभाव, तिस पर कलियुग! सब तरह से अनाथ भी हूँ, कोई धनी धोरी नहीं, ठौर ठिकाना नहीं, महाकंगाल, आजीवन रोगी और चचल चित्त! यह भी नहीं, कि आयु लम्बी हो, जिससे कुछ-न कुछ साधन बन जाय। मेरा उपचार क्योंकर हो सकता है?

'ग्रह-ग्रहीत पुनि बात बस तापर बीछी मार।
ताहि पियाइय बारुनी कहो कौन उपचार॥'

(२) जाँचौ पियाउ सो—तात्पर्य यह है कि जब मैं किसी से भूख-प्यास के मारे कुछ माँगता हूँ, तब वह मुझे सिद्ध महात्मा समझकर मुझसे उलटा धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र आदि माँगता है। यह लोकमान्यता मुझे बहुत खल रही है, क्योंकि—

'लोकमान्यता अनल सम, कर तप-कानन दाह।'

(३) 'तेरे हा सुदाउ-सो'—भरतजी ने भी यही कहा है—

'हारेहु खेल जितायेहु मोही।'

[रामचरितमानस

(४) 'मीन राउ बड़ा मत्स्य तालाब में नहीं रह सकता। उसका निवास

स्थान तो समुद्र ही है। अत मैं केवल राम नामरूपी महासमुद्र में ही आनन्द कल्लोल कर सकता हूँ अन्यत्र नही।

राग आसावरी

१८३

राम प्रीति की रीति आप नीके जनियत है।
बडे की बडाई छोटे की छोटाई दूरि करै,
ऐसी विरुदावली, बलि बेद मनियत है ॥१॥
गीध को कियो सराध, भीलनी को खायो फल,
सोऊ साधु-सभा भली भांति भनियत है।
रावरे आदरे लोक वद हूं आदरियत,
जोग ग्यान हूं ते गरू गनियत है ॥२॥
प्रभु की कृपा कृपालु कठिन कलि हूं काल,
महिमा समुझि उर अनियत है।
तुलसी पराये वस भये रस अनरस,
दीनबन्धु ! द्वारे हठ ठनियत है ॥३॥

भावार्थ—हे श्रीरामजी ! प्रीति की रीति आप ही भलीभांति जानते है। बलिहारी ! वेदो ने आपकी विरदावली इस प्रकार मानी है कि आप बडे का बडप्पन (अभिमान) और छोटे की छोटाई अर्थात दीनता को दूर कर देते है ॥१॥

आपने जटायु गीध को पिण्डदान दिया और शबरी के फल (बेर) खाये। यह बात भी सत समाज में अच्छी तरह बखानी जाती है। जिस किसी ने भी आपसे आदर सम्मान पाया उसका लोक और वेद दोनो ही आदर करते है। आपका प्रेम योग और ज्ञान से भी बडा माना जाता है ॥२॥

हे कृपालु ! आपकी कृपा से इस कराल कलिकाल में भी आपकी महिमा को समझकर हृदय में धारण करता हूँ। यद्यपि तुलसी पराधीन अर्थात विषयों के अधीन होकर आपके प्रेम से अनरस अर्थात आपके प्रेमानन्द से विमुख हो रहा है तथापि हे हर ! वह आपके द्वार पर अडा बैठा है (बिना आपकी कृपा-दृष्टि पाये वह हटने का नहीं) ॥३॥

शब्दार्थ—सराध = श्राद्ध। भनियत है = कहते है। गरू = भारी।

विशेष—(१) प्रीति —प्रीति रीति के छह प्रकार है—

'ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्य वक्ति च पृच्छति।
भुक्ते भोजयते चैव षड्विध प्रीतिलक्षणम् ॥'

(२) गीध —जटायु की उत्तरक्रिया पर कहा है—

दशरथ ते दसगुन भगति सहित तासु करि काज।
सोचत बन्धु समेत प्रभु कृपासिंधु रघुराज ॥'

(३) 'भीलनी'—शबरी ने श्रीराम का इस प्रकार अनुपम आतिथ्य किया—

पद पङ्कजात पखारि पूजे पथ स्रम विरहित भये।
फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दौना नये।
प्रभु खात पुलकित गात, स्वाद सराहि आदर जनु जये।
फल चारिहूँ फलचारि दे परचारि फल सबरी दये॥

(४) 'रावरे आदरियत'—कहा है—

'जापर कृपा राम की होई। ता पर कृपा करहिं सब कोई॥
[रामचरितमानस

१८४

राम - नाम के जपे जाइ जिय की जरनि।
कलिकाल अपार उपाय ते अपाय भये,
जैसे तम नासिवे को चित्र के तरनि॥१॥
करम - कलाप परिताप, पाप साने सब,
ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि।
दम्भ, लोभ, लालच, उपासना बिनासि नीके,
सुगति साधन भई उदर - भरनि॥२॥
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ग्यान,
बचन बिसेष बेष, कहूँ न करनि।
कपट कुपथ कोटि, कहनि रहनि खोटि,
सकल सराहैं निज - निज आचरनि॥३॥
मरत महेस उपदेस हैं कहा करत,
सुरसरि तीर कासी धरम - धरनि।
राम नाम को प्रताप, हर कहैं, जपैं आपु,
जुग - जुग जानैं जग बेदहूँ बरनि॥४॥
मति राम-नाम ही सों, रति राम-नाम ही सों,
गति राम - नाम ही की बिपति-हरनि।
राम-नाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक,
तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि॥५॥

भावार्थ—मन का जलन राम-नाम के जपने से ही जाती है (मन शान्त होता है) कलियुग में और जितने कुछ साधन हैं वे ऐसे व्यर्थ हो जाते हैं, जैसे अंधेरा दूर करने के लिए चित्रलिखित सूर्य॥१॥

कर्मों का तो समूह शास्त्र-समूह है। (कर्मकाण्ड शास्त्रों में भगाध भरा पड़ा है) परन्तु वह सब दुःख और पापों में सना हुआ है। (पाप-संताप के कारण एक भी सत्कर्म विधि विहित पूर्ण नहीं हो पाता)। कर्मों का करना ऐसा है जैसे किसी वृक्ष में अच्छे

सुन्दर फूल फलें, पर फल लगें ही नहीं। भाव यह है कि यज्ञ, याग आदि साधन दमन सुनने में तो सुसाध्य और सरल जान पड़ते हैं पर अन्त में दुःसाध्य हो जाते हैं जिससे फल कुछ भी हाथ नहीं लगता। पाखण्ड लाभ और लोभ ने उपासना का घोर कर लिया है। और मोक्ष पेट भरने का साधन हो गया है ॥२॥

न तो योग बनता है न समाधि ही उपाधि रहित सधती है (उसमें भी संकल्प विकल्प उठा करते हैं।) वैराग्य और ज्ञान लम्बी चौड़ी बातें मारने और ऊपरी वेश भूषा के लिए ही रह गये हैं करनी कुछ भी नहीं कोरी कथनी ही है। कपट भरे करोड़ों कुमार्ग चल पड़े हैं। कहनी और रहनी सभी खोटी हो गई है। सभी अपना अपना भाव रखो की डींग हाँकते हैं सभी अपने को सर्वश्रेष्ठ समझ रहे हैं ॥३॥

शिवजी गंगा के तट पर काशी की पवित्र भूमि पर मरते समय जीव को क्या उपदेश देते हैं? वे श्रीराम-नाम के प्रताप का वर्णन करते हैं। दूसरों से कहते हैं और स्वयं भी जपते हैं। अनेक युगों से इसे संसार जानता है, और वेद भी कहते चले आये हैं ॥४॥

राम-नाम में ही बुद्धि को लगाना चाहिए राम नाम से ही लगन लगानी चाहिए और राम-नाम की ही शरण लेनी चाहिए, क्योंकि एक यही साधन जन्म मरणरूपी विपत्तियों को दूर करनेवाला है। हे तुलसी! यदि तू राम-नाम पर विश्वास किए रहेगा और सदा अपना प्रेम दृढ़ बनाये रहेगा तो श्रीरघुनाथजी कभी न कभी अपने दयालु स्वभाव से तुझ पर अवश्य कृपा करेंगे ॥५॥

शब्दार्थ—अपाय=व्यय अनिष्टरूप। तरनि=सूर्य। कलाप=समूह। फोकट =वृथा किसी काम का नहीं। ढरेंगे=कृपा करेंगे।

विशेष—(१) केवल करनि—

'करनी बिनु कथनी कथै अज्ञानी दिन रात।
कूकर ज्यों भूँकत फिरै सुनी-सुनाई बात॥

[कबीर

(२) मरत धरनि—

पेयं पेयं श्रवणपुटके रामनामाभिरामं
ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम्।
जल्पन् जल्पन् प्रकृति विकृतौ प्राणिनां कर्णमूले
वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपि काशी निवासी॥

[काशी खण्ड

१८५

लाज न आवत दास कहावत।
सो आचरन विसारि सोच तजि, जो हरि तुम कहँ भावत ॥१॥
सकल संग तजि भजत जाहि मुनि, जप, तप, जाग बनावत।
मो सम मंद महाखल पावर, कौन जतन तेहि पावत ॥२॥

हरि निरमल, मलग्रसित हृदय, असमजस मोहि जनावत।
जेहि सर काक कक बक सूकर, क्यो मराल तहँ आवत ॥३॥
जाकी सरन जाइ कोविद दारुन त्रयताप बुझावत।
तहँ गये मद मोह लोभ अति सरगहुँ मिटत न सावत ॥४॥
भव-सरिता कहँ नाउ सन्त यह कहि औरनि समुझावत।
हौं तिनसो हरि परम बैर करि, तुम सो भलो मनावत ॥५॥
नाहिन और ठौर मो कहँ, तातें हठि नातो लावत।
राखु सरन उदार चूडामनि! तुलसिदास गुन गावत ॥६॥

भावार्थ—हे रघुनाथजी! मुझे (आपका) दास कहलाने में शर्म भी नहीं आती। जो आचरण आपको अच्छा लगता है, उसे मैं बिना किसी विचार के छोड़ देता हूँ। (संतों का आचरण छोड़ देने पर मुझे पश्चात्ताप भी नहीं होता। इतने पर भी मैं आपका दास बनता हूँ) ॥१॥

सब प्रकार की आसक्ति छोड़कर जिसे मुनिगण भजते हैं, जिसके लिए जप, तप और यत्न करते हैं, उस प्रभु को मुझ जैसा मूर्ख, भारी दुष्ट और पापी कैसे पा सकता है? ॥२॥

भगवान तो परम विशुद्ध हैं और मेरा हृदय है पापपूर्ण, महामलिन। मुझे यह असमंजस जान पड़ता है कि जिस तालाब में कौए, गीध, बगुले और सूअर रहते हैं वहाँ हंस क्या आने लगे? आशय यह कि मेरे महामलिन हृदय में भगवान वास करने नहीं आयेंगे। वे तो उन्हीं मुनियों के हृदय मन्दिर में विहार करेंगे, जिन्होंने ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि साधना द्वारा अपने हृदय को निर्मल बना लिया है ॥३॥

जिनकी (तीर्थों की) शरण में जाकर ज्ञान के साधक जन सांसारिक तीनों कठिन तापों को शान्त कर देते हैं अर्थात् दैहिक दैविक और भौतिक दुःखों से मुक्त हो जाते हैं, वहाँ भी जाने पर मुझे अहंकार, अज्ञान और लोभ अधिक सतायेंगे, क्योंकि सौतियाडाह स्वर्ग में भी नहीं छूटता, वहाँ भी वह साथ ही लगा फिरता है ॥४॥

मैं दूसरों को यह कहकर समझाता रहता हूँ कि संसाररूपी नदी के पार जाने के लिए सन्तजन ही नौका हैं, किन्तु हे हरे! मैं (स्वयं) उनसे भारी शत्रुता रखकर आपसे अपने कल्याण की इच्छा रखता हूँ ॥५॥

मैं सन्त-द्रोही होने के कारण आपके साथ सम्बन्ध जोड़ने के लायक तो नहीं हूँ, (पर करूँ क्या लाचारी है) मुझे कहीं और ठौर ठिकाना तो है ही नहीं, इसीलिए जबर-दस्ती ही आपसे नाता जोड़ता फिरता हूँ और आपका बनना चाहता हूँ। हे दाताओं में शिरोमणि रघुनाथजी! यह तुलसीदास आपके गुणों का गान कर रहा है, इसे अंगीकार कर लीजिए (मेरी भलाई-बुराई को ताक पर रख दीजिए और अपने सहज स्वभाव से मुझ पर कृपा कर दीजिए) ॥६॥

शब्दार्थ—भावत=अच्छा लगता है। सग=आसक्ति। कक=गीध। सावत=ईर्ष्या

विशेष—(१) 'क्यों मराल आवत'—जिस सरोवर में श्रीरामरूपी हंस

विहार करते हैं, उसका वर्णन भक्तवर बैजनाथजी ने इस प्रकार किया है —

'जिनके हृदयरूपी तडाग में प्रेमरूप पावन अमल जल भरा समता, शांति, सन्तोष, मान विराग, विवेक कमल फूले, राम-नाम स्मरणरूप मुक्तासमूह वहाँ रामरूप हंस विहार करता है। परन्तु मेरे हृदयरूप तडाग में जो विषय-वासनारूप मला जल भरा, परस्त्रीचाह विष्ठा है ताने कामरूप सूकर बसत परधन चाह शवक भक है वहाँ लोभ रूप बगुला है, परहानि अपवाद मृतक मास है ता हेतु क्रोध, ईर्ष्या काक कंक बसत, तहाँ राघवरूप हंस कैसे आवहिंगे ?'

(२) मिटत न सावत'—जीव की दो स्त्रियाँ हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति। ये दोनों दिन रात कलह मचाये रहती हैं। स्थूल शरीर छूट जाने पर इनसे पिंड नहीं छूटता। सूक्ष्म शरीर में भी इनका लडना-झगडना बना रहता है। जहाँ कहीं भी जीव जाता है, ये दोनों सौतिया डाह से उसके पीछे पीछे लगी फिरती हैं।

१८६

कौन जतन बिनती करिये।
निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ॥१॥
जेहि साधन हरि, द्रवहु जानि जन, सो हठि परिहरिये।
जातें बिपति जाल निसिदिन दुख, तेहि पथ अनुसरिये ॥२॥
जानत हूँ मन बचन करम पर हित कीन्हें तरिये।
सो बिपरीत देखि पर सुख, बिनु कारन ही जरिये ॥३॥
स्रुति पुरान सबको मत यह सतसंग सुदृढ धरिये।
निज अभिमान मोह ईर्षा बस तिन्हहिं न आदरिये ॥४॥
संतत सोइ प्रिय मोहिं सदा जातें भवनिधि परिये।
कहौ अब नाथ, कौन बल तें संसार सोग हरिये ॥५॥
जब कब निज करुना सुभाव तें द्रवहु तौ निस्तरिये।
तुलसिदास बिस्वास आन नहिं, कत पचि पचि मरिये ॥६॥

भावार्थ—हे नाथ! मैं किस प्रकार बिनती करूँ? जब अपने (नीच) आचरणों की ओर देखता हूँ उन पर विचार करता हूँ समझता हूँ तब साहस छोडकर हृदय में हार मानकर डर जाता हूँ। (मैं तो आपके सामने आने ही योग्य नहीं ऐसा घोर पापी हूँ) ॥१॥

हे हरे! जिस साधन से आप इस जन को दास जानकर इस पर कृपा करते हैं, अपना लेते हैं उसे मैं हठपूर्वक छोड रहा हूँ। जहाँ दिन रात विपत्ति के जाल में फँसकर दुःख ही मिलता है उसी रास्ते पर चला करता हूँ ॥२॥

यह जानते हुए भी कि मन, वचन और कर्म से दूसरों की भलाई करने से संसार सागर पार कर जाऊँगा, मैं उलटा ही आचरण करता हूँ दूसरों के सुख को देख कर बिना ही कारण जला जा रहा हूँ ॥३॥

वेदा और पुराणा सभी का यह सिद्धान्त है कि सन्ता का सग खूब दृढतापूर्वक करना चाहिए, सत्सग किसी भी प्रकार नही छोड़ना चाहिए, पर म अपने अहकार, अज्ञान और ईर्ष्या के वश होकर सत्सग का आदर कभी नहीं करता, सन्ता के साथ सदा द्रोह ही करता हूँ ॥४॥

मुझे सदा वही अच्छा लगता है, जिसमे ससार-समुद्र में ही पडा रहूँ। फिर, हे नाथ! आप ही कहिए, म किस बल-बूते पर ससार के दु ख दूर करूँ? ॥५॥

यदि कभी आप अपने कारुणिक स्वभाव से मुझ पर पिघल जाय, तभी मेरा निस्तार होगा अन्यथा नहीं, क्योंकि तुलसीदास को किसी और का विश्वास नहीं, तब वह किसलिए (दूसरे साधना म) पच पचकर मरे ॥६॥

शब्दार्थ—द्रवहु=कृपा करते हो। अनुसरिये=चलते ह। सन्तत=सदा। सोग=शोक।

१८७

ताहि ते आयो सरन सवेरें।
ग्यान, विराग, भगति साधन कछु सपनेहुँ नाथ न मेरें ॥१॥
लोभ मोह मद, काम, क्रोध रिपु फिरत रैन दिन घेरें।
तिनहिं मिले मन भयो कुपथ रत फिरै तिहारेहि फेरें ॥२॥
दोप निलय यह विपय सोक प्रद कहत सत स्रुनि टेरें।
जानत हूँ अनुराग तहा अति सो हरि तुम्हरेहिं प्रेरें ॥३॥
विप पियूप सम करहु अगिनि हिम, तारि सकहु विन वेरें।
तुम सम ईस कृपालु परमहित पुनि न पाइहौं हेरें ॥४॥
यह जिय जानि रहौ सब तजि रघुबीर भरोसे तेरें।
तुलसिदास यह विपति वागुरो तुमहिं सा बनै निवेरें ॥५॥

भावार्थ—हे नाथ! इसी कारण मैं जल्दी आपकी शरण में आ गया हूँ (जल्दी इसलिए कि न जाने कब मृत्यु का ग्रास हा जाना पड)। मेरे पास स्वप्न म भी ज्ञान, वैराग्य भक्ति आदि साधन नहीं ह (जिनके बल पर म ससार-सिन्धु से पार हो जाता) ॥१॥

लोभ, अज्ञान अहकार, काम और क्रोधरूपी शत्रु मुझे सदा घेरे रहते ह, (क्षण भर भी मेरा पिण्ड नही छोडते)। इन सबके साथ मिलकर यह मन भी कुमार्गी हो गया ह। अब यह आपके ही फेरने से फिरेगा (निश्चल होगा, अन्यथा नहीं) ॥२॥

सतजन और वेद पुकार पकारकर कहते ह कि यह विषयासक्ति, दोषा की खानि है दु खदायक ह पर यह जानते हुए भी म उसी में अनुरक्त रहता हूँ। सो, हे हरे! यह आपकी ही प्रेरणा ता नही ह? (नही तो ऐसा कौन मूर्ख होगा, जा जानबूझकर कुएँ में गिरेगा?) ॥३॥

आप (अपने सामर्थ्य से) विष का अमृत एव अग्नि को हिम बना सकते हैं, आप बिना ही बेडे के पार कर सकते ह। आपके समान समर्थ, कृपालु और परमहितू ढूढने पर भी नही मिलेगा। (यदि इस जन्म में आप-सरीखे स्वामी को भूलकर चूक

गया तो फिर अगले जन्मों में ऐसा दाँव मिलने का नहीं ॥४॥

हृदय में यह जानकर हे रघुनाथजी ! मैं सब छोड़-छाड़कर आपके ही भरोसे आ पड़ा हूँ। तुलसीदास का यह विपत्तिरूपी जाल आपके ही काटे कटेगा ॥५॥

शब्दार्थ—सबरें = जल्दी, पहले से ही। निलय = घर। बेरे=बेड़ा। बागुरो = जाल।

विशेष—(१) ताहि तें—क्योंकि हे प्रभो ! मैं आपकी यह प्रतिज्ञा सुन चुका हूँ—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'

[भगवद्गीता

(२) विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध।

(३) तुम्हरेहि प्रेरे—जीव का प्रेरक परमात्मा है। जो कुछ वह कराता है, वही यह करता है। दुर्योधन ने कहा था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

(४) तुमहि सो बन निबरें—क्योंकि 'जो बाँधै सोइ छोरै।'

१८८

मैं तोहिं अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहि मोहि हरि के बल, प्रगट कपट आगार ॥१॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किये विचार।
ज्यों कदलीतरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार ॥२॥
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायो पार।
महामोह-मृगजल सरिता महँ बोरयो हौं वारहिं वार ॥३॥
सुनु खल, छल बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार।
सहित सहाय तहाँ बसि अब, जेहि हृदय न नन्दकुमार ॥४॥
तासों करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार।
सो परि डरै मरै रजु अहि तें बूझै नहिं व्यवहार ॥५॥
निज हित सुनु सठ, हठ न करहिं जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभु के दासनि तजि भजहि जहाँ मद मार ॥६॥

भावार्थ—रे संसार ! आज मैंने तुझे जान-पहचान लिया तेरा ठीक-ठीक भेद आज मेरी समझ में आ गया। तू साक्षात् मानो कपट का घर है पर अब तू मुझे (अपने कपट जाल में) नहीं बाँध सकता क्योंकि मुझे श्रीहरि का बल प्राप्त हो गया है (परमात्मा के सामने तेरा अस्तित्व तक नहीं रहता छलबल की तो बात ही क्या) ॥१॥

देखने मात्र में हो तू सुन्दर प्रतीत होता है पर विचार करने पर विवेकबुद्धि से सोचने पर तू कुछ भी नहीं, वस्तुतः तेरा अस्तित्व ही नहीं है। जैसे केले के पेड़ को देखो

तो उसमें से कभी गूदा निकलता हो नही, जितना ही छीलो, छिलका ही छिलका निकलता जायेगा। (यही दशा ससार की है। जितना ही अधिक इस पर विचार किया जाये उतना ही यह नि सार प्रतीत होगा) ॥२॥

तेरे लिए म अनेक जन्मो से भटकता रहा हू, पर आज तक तेरा पार नही मिला। (यह ज्ञान नही हुआ कि तू क्या ह, किसलिए है, मेरा-तेरा क्या रिश्ता है) तूने मुझे महामोहरूपी मृगतृष्णा की नदी में बार-बार डुबाया। (ससार की झूठी विषयासक्ति में मुझे अनेक बार फँसना पडा) ॥३॥

अरे शठ! सुन भले तू करोडों प्रकार के छलबल किया करे, पर श्रीहरि का परमभक्त तेरे वश में होनेवाला नही। तू तो अपनी सेना समेत वही जाकर डेरा डाल जिस हृदय में नन्दनन्दन श्रीकृष्ण का वास न हो (भगवत शून्य हृदय म ही सासारिक प्रवृत्तियो का साम्राज्य रहता ह) ॥४॥

जो तेरा भेद न समझता हो उसी के साथ तू अपनी चाल चल, क्योंकि वही रस्सीरूपी साप से डरकर मरेगा, जो उसके रहस्य को न जानता होगा ॥५॥

अरे दुष्ट! अपने हित की बात सुन जो तू कुटुम्ब समेत अपनी खैर चाहता ह तो अब हठ न कर। तुलसीदास के प्रभु श्रीरघुनाथजी के सेवको को छोडकर तू वहा भाग जा, जहा अहकार और काम निवास करते हो ॥६॥

शब्दार्थ—आगार = स्थान। विचार = ज्ञान। सार = गूदा। सहाय = सेना।

विशेष—(१) इस पद में गोसाइजी ने ससार को मायावाद सिद्धान्त के अनुसार मिथ्या माना ह, पर साथ ही हम उनका यह वाक्य—"कोउ कह सत्य, झूठ कह कोउ जुगल प्रबल करि मान। तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै नही भूले। हरि प्राप्ति के लिए विरक्ति का होना आवश्यक ह और इसलिए ससार तो क्या, असल में ससार की विषयासक्ति को मिथ्या माना गया ह।

(२) 'न पायो पार'—वस्तुत जिस समुद्र का अस्तित्व हो नही, उसका पार क्या मिलेगा? पार पा लेना 'वध्यापुत्रान्वेषण' ही ह।

(३) 'सहित नन्दकुमार'—क्योंकि—

'कहु रहीम का करि सकै ज्वारी चोर लबार।
जो पति राखनहार है माखन चाखनहार॥'

राग गौरी

१८९

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहि तौ भव-बेगारि महँ परिहौ छूटत अति कठिनाई रे ॥१॥
बाँस पुरान साज सब अठकठ सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचंद मन्द मोल बिनु डोला रे ॥२॥
बिषम कहार मार मद मान चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मन्द बिलन्द अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे ॥३॥

काट कुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठाउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेट लगाऊ रे ॥४॥
मारग अगम संग नहिं संबल नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भव त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे ॥५॥

भावार्थ—अरे भाई! राम राम राम राम कहता चलो नहीं तो कहीं संसार की बेगार में पड़ गये तो छूटना बड़ा कठिन हो जायगा। (अत्यन्त कठिन इसलिए कि न तो संसार का कभी अंत होगा और न तेरी प्रवृत्तियों का ही। जन्म मरण का चक्र सदा चलता ही रहेगा। हाँ यदि तू राम राम जपता चला जायगा तो माया जन्य विषयरूपी शत्रु तुझे बेगार में न पकड़ सकेंगे (क्योंकि राम के दास पर उनकी माया नहीं चलती।)

हमारे कुटिल मन्द कर्मचन्द ने बिना ही मोल का ऐसा निकम्मा डोला मत्थे मढ़ दिया है कि जिसमें बाँस पुराना लगा है बेतरतीब अटसट साज लगे हुए हैं जो सड़ा हुआ है और तिकोना है (यहाँ इस तिकोन खटोले से शरीर की उपमा दी गई है। कर्म बड़ई है उसने हमें शरीररूपी डोला बनाकर मुफ्त दे दिया है। हमारी तो इसे लेने की इच्छा भी नहीं थी। अनेक जन्म जन्मान्तर से जो विषय प्रवृत्ति चली आ रही है, वही इसमें पुराना बाँस है। प्रकृति, महत्तत्त्व और अहंकार ये तीन पाटियाँ तथा सत्व, रज और तमोगुण, ये तीन पाये हैं। यही इसमें अटसट साज लगे हैं। असल में, इसकी सारी ही सामग्री, ज्ञान-दृष्टि से क्षणभंगुर है। इसीसे इसे सड़ा कहा गया है। जागृति स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ हैं ये ही इस खटोले के तीन कोने हैं। अज्ञानियों के लिए तो यह डोला ही है, वे इसी शरीर को सर्वस्व मानकर विषय वासना में आकण्ठ डूबे हुए सुख मान रहे हैं पर ज्ञानियों की दृष्टि में यह मन्द डोला है यह स्वयं उनके लिए भाररूप हो रहा है जन्म मरण का कारण बन रहा है। अब इस शरीररूपी डोले के संबंध में और भी स्पष्ट रीति से कहते हैं) ॥२॥

इसको उठानेवाले कहार विषम हैं (दो, चार या आठ कहार डोला उठाया करते हैं पर इस शरीररूपी डोले के उठानेवाले कहार पाँच हैं और वे हैं जिह्वा नेत्र नासिका श्रवण और त्वचा अथवा इनके विषय रस रूप गन्ध शब्द और स्पर्श) ये कहार कामरूपी मदिरा पीकर मतवाले हो रहे हैं इसलिए एक-से पैर रखते हुए नहीं चलते कोई किधर पैर रखता है तो कोई किधर (नेत्र अपने विषय की ओर दौड़ते हैं तो कान अपने विषय की ओर नाक किधर को भागती है तो जीभ किसी और ही तरफ। इस मनमानी घरजानी चाल चलने से डोला कब तक चल सकेगा और कहीं न कहीं पटक देगा) कभी नीचे की ओर कभी ऊँचे की ओर चलाने से धक्के और झटके लग रहे हैं और इस खींचतान से भारी कष्ट हो रहा है (इन्द्रियाँ कभी बुरी वासनाओं की ओर दौड़ती हैं और कभी सद्वासनाओं की ओर किन्तु मन के संकल्प विकल्प के कारण पूरा कुछ भी नहीं होता जीव बेचारा बीच में व्यर्थ ही धक्के खा रहा है इस ऐंचातानी में पड़कर रो रोकर दिन बिता रहा है) ॥३॥

रास्ते में कांटे बिछे हैं (अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हैं) कंकड़ पड़े हैं पत्थर बड़ा बढ़ों (गेंड़ा की तरह) बिछे पड़े हैं। ठौर-ठौर पर लपेटने हैं (पतों-पत्ता

के माग में अनेक बाधाएँ ह, मोह-ममता ही कड ह, विपले विषय बेलें ह और कर्मो की विकट झझट ही उलझन ह। इन सब कारणो से पग पग पर रुक जाना पडता ह। शरीर यात्रा निर्विघ्न हा नही सकती)। और ज्या-ज्या आगे बढते जाते हैं, त्या त्या लक्ष्य-स्थान दूर होता चला जा रहा ह। (आशय यह ह कि आत्मानुभूति करने के लिए जा जो उपाय करते ह, माया बीच में पडकर सारे किये कराये पर पानी फर देती ह। चाहते ह कि ब्रह्मानन्द का पीयूष पान करें, पर मिलता ह विषय सुरा का विषभरा प्याला। सुलझने का ज्यों-ज्या प्रयत्न करते ह त्यों त्या और और उलझते ही जात हैं।) काई ऐसा सगी साथी भी नही मिलता, जिसके साथ जस तस वहा तक पहुँच जाये ॥४॥

माग बडा कठिन ह साथ में राह-खच भी नही (ऐसे सत्कम भी नही किए ह, कि जिनके भरोसे रास्ता तय कर लिया जाय) और जहा जाना ह, उस गाँव का नाम तक याद नही (कही जसे-तैसे चलते चलते किसी और ही गाव में पहुँच जायें तो बडी आफत हो) इसलिए हे श्रीरामजी! इस तुलसीदास के (जन्म मरणरूपी) ससार भय को आप ही कृपाकर दूर कीजिए ॥५॥

विशेष—(१) राम कहत भाई रे—यहा राम कहत चलु तीन बार लिखा गया ह। सभव ह जीव का त्रिविध दुख याने दैहिक दैविक और भौतिक दूर करन के लिए तीन बार यह उपदेश दिया गया हो।

(२) विषम बगारा र—स्वर्गीय रामेश्वर भट्टजी ने इस चरण का अथ लिखते हुए इन्द्रिया के वपम्य और खाचतान पर एक सुदर छप्पय दिया है —

'कान निरन्तर गान-तान सुनिबोही चाहत।
आखें चाहति रूप रनिदिन रहति सराहत॥
नासा अतर-सुगध चहति फूलन की माला।
त्वचा चहति सुख सेज सग कोमलतन बाला॥
जावो रसना हूँ चाहति रहति नित खाटे मीठे चरपरे।
इन पचन इहि सरपच सों भुवन को भिच्छुक करे॥

(३) इस पद की भाषा जन साधारण की ह। कई अवधीभाषा के शब्द आये हैं। मुहावरे भी ग्रामीण हैं। इतना ऊँचा दार्शनिक सिद्धान्त सवसाधारण के हृदय में बठाने के लिए ही सभवत गोसाइजी ने ऐसा किया है।

१६०

सहज सनेही राम सा तैं कियो न सहज सनेह।
तातें भव भाजन भयो, सुनु अजहुँ सिखावन एह॥१॥
ज्यां मुख मुकुर बिलोकिये, अरु चित न रहै अनुहारि।
त्यों सेवतहुँ न आपन, ये मातु पिता, सुत, नारि॥२॥
दै-दै सुमन तिल बासिकै अरु खरि परिहरि रस लेत।
स्वारथ हित भूतल भरे मन मेचक, तनु सेत॥३॥
करि बीत्यो, अब करतु है, करिबे हित मीत अपार।
कबहुँ न कोउ रघुबीर-सो नेह निबाहनहार॥४॥

जासो सब नातो फुरै, तासो न करी पहिचानि।
ताते कछु समुझ्यो नहीं, कहा लाभ कह हानि ॥५॥
साचो जान्यो झूठ को, झूठे कहँ साँचो जानि।
को न गयो, को न जात है, को न जैहै करि हितहानि ॥६॥
वेद कह्यो, बुध कहत हैं, अरु हौंहुँ कहत हौं टेरि।
तुलसी प्रभु साँचो हितू, तू हिय की आँखिन हेरि ॥७॥

भावार्थ—तून स्वभाव स ही स्नह करनवाले श्रीरामचन्द्रजी से सहज स्नेह नहीं किया। इसीलिए तू ससार म बार-बार जन्म लन योग्य हुआ ह बार बार जन्म और मरण का पात्र हुआ ह। (फिर भी अभी कुछ बिगडा नहीं) अब भी तू मेरी यह सिखावन सुन ॥१॥

जसे दपण म मुख का प्रतिबिम्ब दीख पडता ह पर वह मुखाकृति वस्तुत उसके अन्दर नहीं होती उसी प्रकार ये माता पिता पुत्र और स्त्री सेवा करते हुए भी वस्तुत अपन नहीं ह। तात्पय यह कि इनके साथ जो रिश्ते मान लिय गय ह व कवल स्वाथ के ह वास्तव म कोई भी किसी का सगा सम्बन्धी नहीं ह ॥२॥

(अब तनिक इन स्वार्थियो की लीला तो देखो) जैसे, तिलो में फूल रख रखकर उन्हें सुगन्धमय बनात ह किन्तु तल निकाल लेन पर खली को फोक समझकर फेंक देते ह वैसे ही सम्बन्धियो की दशा ह (अर्थात जब तक किसी म सौन्दय रहता ह धन कमाने की शक्ति रहती ह बल पौरुष रहता ह तब तक उसका सम्मान किया जाता ह उस पर सवस्व निछावर किया जाता ह किन्तु रूप धन और बल नष्ट हो जान पर उसे कोई पूछता भी नहीं। इस पृथिवी पर ऐसे ही स्वार्थी लोग भर पड ह जिनका मन काला है और शरीर शुभ्र ह ऊपर स तो बड सुन्दर दीखत ह पर मन उनका महामलिन और छल कपट स भरा ह ॥३॥

तून कितने मित्र बनाय कितन बना रहा ह और कि[illegible] हार डाला किन्तु कभी निकाम में भी श्रीरघुनाथजी-सरीखा प्रम को (एकरस) [illegible]क भी मित्र मिलने का नहीं ॥४॥

जिसके कारण सारे सम्बन्ध सच्चे प्रतीत होने ह उसके साथ तूने (आज तक) पहचान तक नहीं की र। इसी कारण तू अभी तक यह नहीं समझ पाया कि क्या तो सच्चा लाभ ह और क्या हानि ॥५॥

जिसन असत (जगत) को सत्य और सत (परमात्मा) को मिथ्या मान रखा ह, एसे अपने हित का नष्ट करनवाल कौन ह जो अपने सच्चे कल्याण का नाश करके (ससार से) नहीं चला गया कौन नहीं जा रहा ह और कौन नहीं जायगा। (साराश ऐसे मूढ जीव सहस्रो की सख्या म मरत जीत रहत ह उनका जन्म लेना ही व्यथ ह) ॥६॥

वेदो ने कहा ह विद्वान् कहते ह और म भी पुकार पुकारकर कह रहा हूँ कि तुलसी के स्वामी श्रीरघुनाथजी ही सच्च हितू ह। तनिक तू अपन हृदय के नत्रो से देख तो अन्त करण में इस बात पर विचार तो कर ॥७॥

शब्दाथ—भव भाजन=ससार में बार-बार जन्म मरण के योग्य। अनुहारि=

सूरत । खरि = खली, तेल निकाल लेने के बाद तिलों में से जो फोक निकलता है । मेचक = काला । फुर = सच्चा साबित होता है ।

विशेष—(१) 'द-द लेत'—यह दृष्टान्त बड़ा ही उपयुक्त है । स्वार्थी मनुष्य वास्तव में, काम-वश सौंदर्य आदि का उपभोग करते हैं, उपासना नहीं । यदि परम ईश्वरीय विभूतियाँ समझकर वे उनकी उपासना करें, उनका उपभोग करना छोड़दें, तो यह ससार उसी क्षण स्वर्ग में परिणत हो जाय, मिथ्या जगत सत्यरूप हो जाय ।

(२) 'मन सेत'—अथवा यों कह सकते हैं कि—

विषरस भरा कनकघट जसे ।'

(३) 'नेह निबाहनिहार'—प्रेम तो क्या क्षणिक प्रेम की आसक्ति एक क्षण में ही हो जाती है । बाह्य जगत का प्रेम ऐसा ही अस्थायी माना गया है । प्रेम तो अन्तर्जगत का ही, भगवदीय ही, सच्चा, सदा एकरस है ।

(४) सांचो जानि—आत्म को अनात्म और अनात्म को आत्म मानना ही अविद्या है । कुछ-का-कुछ मान लेने से तो किसी वस्तु का सर्वथा ही न जानना कहीं अच्छा है ।

१६१

एक सनेही साचिलो केवल कोसलपालु ।
प्रेम कनौडो राम-सो नहिं दूसरो दयालु ॥१॥
तन-साथी सब स्वारथी, सुर व्यवहार-सुजान ।
आरत अधम अनाथ हित को रघुवीर समान ॥२॥
नाद निठुर, समचर सीखी, सलिल सनेह न सूर ।
ससि सरोग दिनकर बडे, पयद प्रेम-पथ कूर ॥३॥
जाको मन जासो बँध्यो, ताको सुखदायक सोइ ।
सरल सील साहिब सदा, सीतापति सरिस न कोइ ॥४॥
सुनि सेवा सही को करै परिहरै को दूषन देखि ।
केहि दिवान दिन दीन को, आदर अनुराग बिसेखि ॥५॥
खग-सबरी पितु मातु ज्यों माने, कपि को किये मीत ।
केवट भेंट्यो भरत-ज्यों, ऐसो को कहु पतित-पुनीत ॥६॥
देह अभागहिं भाग को, को राखै सरन सभीत ।
वेद विदित, बिरुदावली कबि कोबिद गावत गीत ॥७॥
कैसेउ पाँवर पातकी, जेहि लई नाम की ओट ।
गाँठी बाँध्यो दाम तो परख्यो न फेरि खर-खोट ॥८॥
मन मलीन कलि किलविषी होत सुनत जासु कृत-काज ।
सो तुलसी कियो आपनो, रघुबीर गरीब निवाज ॥९॥

भावार्थ—केवल कोसलेन्द्र श्रीरामचन्द्र ही एक सच्चे स्नेही हैं । प्रेम प्राप्ति का

१९०

जौं पै जानकिनाथ सों नातो नेहु न नीच।
स्वारथ परमारथ कहा, कलि कुटिल बिगोयो बीच॥१॥
धरम बरन आश्रमनि के पैयत पोथिही पुरान।
करतब बिनु बेष देखिये, ज्यों सरीर बिनु प्रान॥२॥
बेद बिदित साधन सबै सुनियत दायक फल चारि।
राम प्रेम बिनु जानिबो जैसे सर सरिता बिनु बारि॥३॥
नाना पथ निरबान के, नाना बिधान बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे जपु राम-नाम दिन राति॥४॥

भावार्थ—अरे नीच ! यदि श्रीजानकीनाथ रामचन्द्रजी से तूने प्रेम नहीं किया, उनसे नाता नहीं जोड़ा तो स्वार्थ और परमार्थ तू कैसे सिद्ध कर सकेगा ? (भाव यह है, कि बिना भगवत् प्रेम के न तो कोई यह लोक बना सकता है न परलोक ही)॥१॥

चारों वर्ण और चारों आश्रम के धर्म केवल पोथियों और पुराणों में ही लिखे पाये जाते हैं, उनके अनुसार कर्माचरण कोई नहीं करता। करनी कहीं नहीं दिखाई देती केवल भेष ही दीखते हैं। जैसे बिना प्राणों के शरीर, वैसे ही बिना धर्माचरण के ये कोरे भेष हैं॥२॥

सुनते हैं कि वेदों में जितने भी प्रसिद्ध प्रसिद्ध (कर्मकाण्ड के) साधन हैं वे सब अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के देनेवाले हैं किन्तु बिना श्रीरामभक्ति के उन सबका जानना ऐसा है, जैसे बिना पानी के तालाब और नदियाँ। (सारांश यह कि भगवत् प्रेम विहीन समस्त वेद-वेदान्त का ज्ञान निस्सार है)॥३॥

मुक्ति के यों अनेक पन्थ हैं भाँति भाँति के उपाय हैं किन्तु हे तुलसी ! तू तो मेरे कहने से, दिन रात केवल राम नाम का ही जप किया कर (अन्य साधनों और अन्य मतान्तरों से तू कुछ भी प्रयोजन न रख)॥४॥

विशेष—(१) 'नातो'—सेव्य सेवक भाव के नाते से ही प्रयोजन हो सकता है क्योंकि बिना इस सम्बन्ध के मुक्ति दुर्लभ है। कहा भी है—

सेवक सेव्य भाव बिनु, तरिय न भव उरगारि।

[रामचरितमानस

(२) 'करतब ... देखिए'—कबीरदासजी ने कहा है —

साधु भया तो क्या भया, माला पहिरीं चार।
बाहर भेस बनाइया, भीतर भरीं भगार॥

(३) 'रामप्रेम ... बारि'—यहाँ सिद्धान्तरूप से भक्ति ज्ञान से बड़ी मानी है। केवल ज्ञान भक्ति के बिना निष्प्राण है सानुराग ज्ञान ही मुक्ति का मुख्य द्वार है।

(४) 'नाना पथ निरबान के'—दार्शनिकों ने मोक्ष की अनेक परिभाषाएँ लिखी हैं। जैसे— वस्तु का सावयव (सांगोपांग) ज्ञान ही मोक्ष है शास्त्रों के अर्थ के अनुकूल निर्दिष्ट आचरण करना ही मोक्ष है, दृश्य और अदृश्य के ज्ञान का जो अभाव है, वही मोक्ष है महावाक्यों (तत्त्वमसि सोऽहं आदि) का विवरण ही मोक्ष है स्वात्मा

न्द की ज्ञानमयी अवस्था ही मोक्ष ह। 'अस्ति' और नास्ति' इस उभयात्मक ज्ञान क विच्छेद को ही मोक्ष कहते ह, 'शब्दब्रह्म' के यथेष्ट ज्ञान का ही मोक्ष मानना चाहिए, निर्विकल्प समाधिगत आनन्द का मोक्ष मानना चाहिए एकदेशिक सिद्धान्त से सिद्ध जो भक्ति का विधान है वही मोक्ष ह, आत्मसमर्पण करने क अनन्तर भगवत्प्राप्ति क लिए जो परम विरहाकुलता अनुभव होती ह, उसे ही मोक्ष कहना चाहिए, इत्यादि अनेक मत और व्याख्याएँ मोक्ष की ह।

(५) 'तू मेर रीति'—केवल 'राम नाम-स्मरण' से मुक्ति की प्राप्ति सभव ह, यही निष्कर्ष निकलता ह। गोसाइजी का यही सर्वतोभद्र सिद्धान्त ह।

१९३

अजहुँ आपने राम के करतब समुझत हित होइ।
कहँ तू, कहँ कोसलधनी, तोको कहा कहत सब कोइ ॥१॥
रीझि निवाज्यो कबहिं तू, कब खीझि दई तोहिं गारि।
दरपन बदन निहारिकै, सुबिचारि मान हिय हारि ॥२॥
बिगरी जनम अनेक की, सुधरत पल लगै न आधु।
'पाहि कृपानिधि' प्रेम सो कहे को न राम कियो साधु ॥३॥
बालमीकि केवट-कथा, कपि भील भालु सनमान।
सुनि सनमुख जो न राम सो तिहि को उपदेसहिं ग्यान ॥४॥
का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति रीति निरबाहु।
जासु बन्धु बध्यो ब्याध ज्यो, सो सुनत सोहात काहु ॥५॥
भजन बिभीषन को कहा, फल कहा दियो रघुराज।
राम गरीब निवाज के बडी बाह बोल की लाज ॥६॥
जपहि नाम रघुनाथ को, चरचा दूसरी न चालु।
सुमुख, सुखद, साहिब, सुधी, समरथ, कृपालु, नतपालु ॥७॥
सजल नयन, गदगद गिरा, गहबर मन, पुलक सरीर।
गावत गुनगन राम के केहि की न मिटी भव भीर ॥८॥
प्रभु कृतग्य सरबग्य हैं, परिहरु पाछिली गलानि।
तुलसी तोसो राम सो कछु नई न जान-पहिचानि ॥९॥

भावार्थ—अब भी, जो तू अपने (नीच कर्मों को) और श्रीरामचन्द्रजी के (करुणापूर्ण) करतबों को समझ ले, तो तेरा कल्याण हो सकता ह। कहाँ तो तू और कहाँ कोशलेन्द्र महाराज रामचन्द्र! (पृथिवी-आकाश का अन्तर ह) तुझे सब लोग क्या कहते ह? (तदीय अर्थात् यह जीव भागवत ह। 'तू भगवान् का ह, क्या यह सम्बन्ध सुलभ ह? ऐसा सम्बन्ध बडे बड योगियो को भी प्राप्त नहीं होता पर तुझे यह सौभाग्य स सुलभ हो गया ह) ॥१॥

प्रसन्न होकर रघुनाथजी न कब तुझ पर कृपा की और अप्रसन्न होकर कब? और फिर (अपनी करतूतों के लिए हार मान से) विवेकरूपी दर्पण में देखने से यह प्रकट

विशेष (१) 'ग्यान बिराग ... हिनारे'—भाव साम्य श्लोक—

> 'श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो,
> क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
> तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
> नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
>
> [श्रीमद्भागवत

१६८

> बलि जाउँ हौं राम गुसाईं। कीजै कृपा आपनी नाईं॥१॥
> परमारथ सुरपुर साधन सब स्वारथ सुखद भलाई।
> कलि सकोप लोपी सुचाल, निज कठिन कुचाल चलाई॥२॥
> जहँ-जहँ चित चितवत हित तहँ नित नव बिषाद अधिकाई।
> रुचि भावती भभरि भागहि, समुहाहिं अमित अनभाई॥३॥
> आधि मगन मन, ब्याधि बिकल तन, बचन मलीन झुठाई।
> एतेहुँ पर तुमसों तुलसी की, प्रभु, सकल सनेह सगाई॥४॥

भावार्थ—हे श्रीराम! हे नाथ! मैं अपने को आप पर न्योछावर करता हूँ। आप अपने स्वभाव से ही (दीन वत्सलता की दृष्टि से) मुझ पर कृपा कीजिए॥१॥

परमार्थ के, स्वर्ग के तथा स्वार्थ में अर्थात् व्यवहार के जो-जो सुख देनेवाले और कल्याणकारक उपाय हैं उन सबकी रीतियों को कलियुग ने क्रोध करके लुप्त कर दिया है और अपनी दुःखदायक कुचालों को चला दिया है (पुण्य और सत्कर्मों का लोप करके दम्भ, छल, कपट आदि का प्रचलन किया है)॥२॥

जहाँ जहाँ यह मन अपना हित देखता है, वहाँ नित्य नूतन दुःख ही बढ़ते जाते हैं। रुचि को अच्छा लगनेवाली बातें दूर से ही डरकर भाग जाती हैं, मनचाही एक भी बात पूरी नहीं होती, और सामने वे ही चीजें आ जाती हैं, जो पसंद नहीं। (भाव इष्ट साधन करते हुए अनिष्ट घेर लेते हैं)॥३॥

मन संकल्प विकल्प में लीन हो रहा है, शरीर रोगों से व्याकुल है, और वाणी झूठी और मलिन हो रही है, किन्तु यह सब होते हुए भी हे नाथ! आपके साथ इस तुलसीदास का सम्बन्ध और प्रेम ज्यों का त्यों बना हुआ है॥४॥

विशेष—(१) कलि ... चलाई—कबीर साहब क्या ही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

> 'डर लागै औ हाँसी आवै अजब जमाना आया रे।
> धन दौलत ले माल खजाना बेस्या नाच नचाया रे॥
> मुट्ठी अन्न साधु कोइ माँगै, कहैं नाज नहिं आया रे।
> कथा होय तहँ स्रोता सोवै बक्ता मूड़ पचाया रे॥
> होय जहाँ कहिं स्वाग तमासा, तनिक न नींद सताया रे।
> भंग, तमाखू, सुलफा, गाँजा सूखा खूब उड़ाया रे॥

गुर चरनामृत-नेम न धारे, मधुवा चाखन आया रे।
उलटी चलन चली दुनिया में, ताते जिय घबराया रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, का पीछे पछताया रे॥'

(२) समुहाहिं अनभाई'—स्वर्गीय भट्टजी ने इसका यह अर्थ किया है—वे समुहाहिं कहिये सामने इतनी चली आती हैं कि जिनका ठिकाना नहीं। जिनका ठिकाना नहीं' कदाचित् 'अनभाई' का अर्थ किया गया है। किन्तु 'अनभाई', 'रुचि भावती' का उलटा शब्द है जिसका अर्थ 'नापसन्द' है।

(३) सगाई'—सेव्य-सेवक भाव का सम्बन्ध।

शब्दार्थ—लोपी = मेट डाली। भावती=मनोवाञ्छित। भभरि=डरकर। समुहाहिं=सामने आ जाती हैं। अनभाई=बुरी, अनिष्टकारिणी। आधि=चिंता संकल्प-विकल्प। व्याधि = रोग।

१६६

काहे को फिरत मन करत बहु जतन,
मिटै न दुख बिमुख रघुकुल-बीर।
कीजै जो कोटि उपाइ, त्रिबिध ताप न जाइ,
कह्यो जो भुज उठाय मुनिवर कीर॥१॥
सहस टेव बिसारि तुही धौं देखु बिचारि,
मिलै न मथत बारि घृत बिनु छीर।
समुझि तजहि भ्रम, भजहि पद-जुगम,
सेवत सुगम गुन गहन गँभीर॥२॥
आगम निगम ग्रन्थ, रिषि मुनि सुर सन्त,
सबही को एक मत, सुनु मति धीर।
तुलसिदास प्रभु बिनु, पियास मरै पसु,
जद्यपि है निकट सुरसरि-तीर॥३॥

भावार्थ—अरे मन! तू किसलिए बहुत-सारे उपाय करता फिरता है? (तू भले ही अनेक यत्न किया कर, पर) ये तेरे दुःख तब तक दूर होने के नहीं, जब तक तू रघुवंश शिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी से विमुख है। भगवद्विमुख कोई करोड़ों उपाय क्यों न करे, परन्तु उसके तीनों ताप (दैहिक दैविक और भौतिक) नष्ट नहीं हो सकते, यह बात मुनिश्रेष्ठ शुकदेवजी ने भुजा उठाकर कहा है॥१॥

अपने सहज स्वभाव को भूलकर अर्थात् चंचलता छोड़कर एकाग्रचित्त से तू ही विचारकर देख तो, कि कहीं पानी के मथन से, बिना दूध के, घी मिल सकता है? (इसी प्रकार विषयों में अनुरक्त रहकर कोई ब्रह्मानन्द का पीयूष पान नहीं कर सकता यह सुधा तो विरक्ति और विवेक से ही प्राप्त होगी।) इस बात को समझकर तू भ्रम को छोड़ दे (जो तू शरीर ही को आत्मा मान रहा है इस मिथ्या ज्ञान को त्याग दे) और श्रीरामचन्द्र जी के उन युगल चरणों का सेवन कर, जो सेवा से सुलभ हैं, **और सद्गुणों** के गम्भीर

बन हैं अर्थात जिन चरणों की सेवा करने से विवेक वैराग्य, समता, शान्ति आदि सदगुण अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ॥२॥

बुद्धि को स्थिर करके शास्त्रों वेदों अन्य ग्रन्थों तथा ऋषियों मुनियों, देवताओं और संतों का जो एक निश्चित सिद्धान्त है उसे ध्यान से तू सुन (और वह सिद्धान्त यही है कि विषयासक्ति को छोड़कर भगवद्भजन करना चाहिए)। हे तुलसीदास! यद्यपि गंगा-तट निकट है तो भी बिना स्वामी के पशु प्यासा ही मर जाता है (इसी प्रकार यद्यपि भगवत्प्राप्ति के सारे साधन विद्यमान हैं तथापि बिना भगवत्-कृपा के यह जीव शान्ति-लाभ करने के लिए तड़प तड़पकर मर रहा है) ॥३॥

शब्दार्थ—कीर=शुकदेव से अभिप्राय है। टव=भाष्त। जुगम=(युग्म) दोनों। आगम=शास्त्र। निगम=वेद।

विशेष—(१) कह्यो कीर—श्रीमद्भागवत में मुनिश्रेष्ठ परमहंस शुकदेवजी ने कहा है—

घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्वधर्मविवर्जिता।
वासुदेवपरा मर्त्यास्ते कृतार्था न संशय ॥'

(२) सहज टव—जैसे—

हरष विषाद ग्यान अग्याना। जीवधर्म अहमिति अभिमाना ॥'

१९७

नाहिन चरन रति ताहि तें सहौं बिपति
कहत स्रुति सकल मुनि मतिधीर।
बसै जो ससि उछंग सुधा-स्वादित कुरंग
ताहि क्यों भ्रम निरखि रविकर नीर ॥१॥
सुनिय नाना पुरान, मिटत नाहिं अज्ञान
पढ़िय न समुझिय जिमि खग कीर।
बूझत बिनहिं पास सेमर सुमन आस,
करत चरत तेइ फल बिनु हीर ॥२॥
कछु न साधन सिधि जानौं न निगम बिधि,
नहिं जप तप बस मन न समीर।
तुलसिदास भरोस परम करुना कोस,
प्रभु हरिहैं बिषम भवभीर ॥३॥

भावार्थ—मेरा प्रेम श्रीरघुनाथजी के चरणों में नहीं है इसीसे नाना प्रकार के दुःख मैं भोग रहा हूँ (मन ही मन्हीं) वेद और समस्त बुद्धिमान मुनियों ने भी यही कहा है क्योंकि जो हिरण चन्द्रमा की गोद में अमृत का स्वाद ले रहा है उसे भला मृगतृष्णा के जल में भ्रम क्यों होगा? (जिस जीव को ब्रह्मानन्द के रस का चसका लग गया उसे संसारी विषय धोखे में नहीं डाल सकते। मैं विषयों में पड़ा हुआ हूँ इसलिए दुःख भोग रहा हूँ! जो श्रीहरि के चरणों का उपासक होता तो ये विपत्तियाँ ही क्यों आतीं) ॥१॥

जैसे तोता पढता या रटता तो सब कुछ है, पर समझता कुछ भी नही, वैसे ही अनेक पुराणो के सुनने मात्र से मोह दूर नहीं होता। (अज्ञानी) तोता बिना फंदे के स्वय बँध जाता है, आप ही चोंगली पकडकर लटक रहता है, वह सेमर के फूल की आशा करता है, (देखता है, कि इसका फूल इतना सुदर है तो फल कितना मीठा न होगा, पर) ज्योंही उसमें चोंच मारता है, उसे बिना गूदे का सारहीन फल मिलता है, अर्थात रुई के सिवा उसमें खाने के लिए कुछ भी नही मिलता तब पछताता है (इसी प्रकार मनुष्य विषयरूपी चोंगली पकडकर आप ही बँधा रहता है स्त्री, पुत्र, धन आदि पर मोहित होकर उनका सग्रह करने में लगा रहता है। पर उनसे बिछुडते ही दुखी हो जाता है ॥२॥

न तो मेरे पास कोई साधन है, और न कोई सिद्धि ही प्राप्त हुई है। मुझे वैदिक विधियाँ भी ज्ञात नही। जप-तप भी करना नही जानता, और न प्राणायाम से मन ही वश में किया है। इस तुलसीदास को तो करुणा के भाण्डार भगवान् रामचन्द्रजी का ही एकमात्र भरोसा है। वही इसकी भयानक सासारिक विपत्ति को दूर करेंगे, जन्म-मरण के चक्र से मुक्त करेंगे ॥३॥

शब्दार्थ—उछग=गोद। कुरग=हिरण। रविकरनीर=मृगतृष्णा का जल। कीर=तोता। बधत=बँध जाता है। पास=(पाश) जाल। चरत=चोंच मारता है। हीर=गूदा।

विशेष—(१) सुनिय अग्यान'—कबीर साहब भी कहते है—

> पढे - गुने सीखे सुने मिटी न ससय - सूल।
> कह कबीर कासों कहूँ, ये ही दुख का मूल॥
> साखी कहै गहै नहीं चाल चली नहिं जाय।
> सलिल मोह - नदिया बहै पाँव नहीं ठहराय॥'

(२) 'सेमर हीर'—तोते को ऐसी ही चेतावनी कबीर साहब भी दे रहे हैं—

> 'सेमर सुवना बेगि तजु, घनी बिगुचन पाँख।
> ऐसा सेमर जो सेवै, हिरदय नाहीं आँख॥'

(३) 'बिधि'—शौच, दान यज्ञानुष्ठान पुरश्चरण यत्र-मत्र, पचाग्नि, प्राणायाम, समाधि साधना आदि।

(४) 'करुना'—श्रीव्रजनाथजी ने 'करुणा' की परिभाषा इस प्रकार की है—

> सेवक-दुख ते दुखित ह्वै, स्वामि बिकल ह्वै जाय।
> दुख हरि सुख साजै सुरस करुना गुन सो आय॥'

१६९

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, वचन अरु ही ते॥१॥
सहसबाहु दसवदन आदि नृप, बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन - धाम सँवारे अन्त चले उठि रीते॥२॥
सुत बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते।
अन्तहुँ तोहि तजैंगे पामर! तू न तजै अबही ते॥३॥

बन हैं, अर्थात जिन चरणों की सेवा करने से विराग, वैराग्य, समता, शान्ति आदि सद्गुण अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ॥२॥

बुद्धि को स्थिर करके शास्त्रों, वेदों अन्य ग्रन्थों, तथा ऋषियों, मुनियों, देवताओं और सन्तों का जो एक निश्चित सिद्धान्त है उसे ध्यान से तू सुन (और वह सिद्धान्त यही है, कि विषयासक्ति को छोड़कर भगवद्भजन करना चाहिए) । हे तुलसीदास ! यद्यपि गंगा-तट निकट है, तो भी बिना स्वामी के पशु प्यासा ही मर जाता है (इसी प्रकार यद्यपि भगवत्प्राप्ति के सारे साधन विद्यमान हैं तथापि बिना भगवत्-कृपा के यह जीव शान्ति-लाभ करने के लिए तड़प तड़पकर मर रहा है) ॥३॥

शब्दार्थ—कीर=शुकदेव से अभिप्राय है । टेव=आदत । जुगम=(युग्म) दोनों । आगम=शास्त्र । निगम=वेद ।

विशेष—(१) 'कह्यो कीर'—श्रीमद्भागवत में मुनिश्रेष्ठ परमहंस शुकदेवजी ने कहा है—

'घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्वधर्मविवर्जिता ।
वासुदेवपरा मर्त्यास्ते कृतार्था न संशयः ॥'

(२) 'सहज टेव'—जैसे—

'हरष बिषाद ग्यान अग्याना । जीवधर्म अहमिति अभिमाना ॥'

१९७

नाहिन चरन रति ताहि तें सहौं बिपति
कहत स्रुति सकल मुनि मतिधीर ।
बसै जो ससि उछंग सुधा स्वादित कुरंग,
ताहि क्यों भ्रम निरखि रबिकर नीर ॥१॥
सुनिय नाना पुरान, मिटत नाहिं अग्यान
पढ़िय न समुझिय जिमि खग कीर ।
बझत बिनहिं पास सेमर सुमन आस,
करत चरत तेइ फल बिनु हीर ॥२॥
कछु न साधन सिधि, जानौं न निगम बिधि,
नहिं जप तप बस मन न समीर ।
तुलसिदास भरोस परम करुना कोस,
प्रभु हरिहैं बिषम भवभीर ॥३॥

भावार्थ—मेरा प्रेम श्रीरघुनाथजी के चरणों में नहीं है, इसीसे नाना प्रकार दुःख मैं भोग रहा हूँ, (मैं ही नहीं) वेदों और समस्त बुद्धिमान मुनियों ने भी यही कहा है क्योंकि जो हिरण चन्द्रमा की गोद में अमृत का स्वाद ले रहा है उसे भला मृगतृष्णा के जल में भ्रम क्यों होगा ? (जिस जीव को ब्रह्मानन्द के रस का चसका लग गया, उसे संसारी विषय धोखे में नहीं डाल सकते । मैं विषयों में पड़ा हुआ हूँ, इसीलिए दुःख भोग रहा हूँ । जो श्रीहरि के चरणों का उपासक होता तो ये विपत्तियाँ ही क्यों आतीं) ॥१॥

जसे तोता पढता या रटता तो सब कुछ ह, पर समझता कुछ भी नही, वैसे ही अनेक पुराणो के सुनने मात्र से मोह दूर नहीं होता। (अज्ञानी) तोता बिना फदे के स्वय बँध जाता ह, आप ही चौंगली पकडकर लटक रहता ह वह सेमर के फूल की आशा करता है, (देखता ह, कि इसका फूल इतना सुदर ह, तो फल कितना मीठा न होगा, पर) ज्योही उसमें चोंच मारता ह, उसे बिना गूदे का, सारहीन, फल मिलता ह, अर्थात रुई के सिवा उसमें खाने के लिए कुछ भी नही मिलता, तब पछताता ह (इसी प्रकार मनुष्य विषयरूपी चौंगली पकडकर आप ही बँधा रहता ह स्त्री, पुत्र, धन आदि पर मोहित होकर उनका सग्रह करने में लगा रहता ह। पर उनसे विछुडते ही दुखी हो जाता ह ॥२॥

न तो मेरे पास कोई साधन है, और न कोई सिद्धि ही प्राप्त हुई ह। मुझे वैदिक विधियाँ भी ज्ञात नही। जप-तप भी करना नही जानता, और न प्राणायाम से मन ही वश में किया ह। इस तुलसीदास को तो करुणा के भाण्डार भगवान रामचद्रजी का ही एकमात्र भरोसा ह। वही इसकी भयानक सासारिक विपत्ति को दूर करेंगे, जन्म-मरण के चक्र से मुक्त करेंगे ॥३॥

शब्दार्थ—उछग=गोद। कुरग=हिरण। रविकरनीर=मृगतृष्णा का जल। कीर=तोता। बझत=बँध जाता ह। पास=(पाश) जाल। चरत=चोंच मारता है। हीर=गूदा।

विशेष—(१) 'सुनिय अग्यान'—कबीर साहब भी कहते ह—

'पढे - गुने, सीखे - सुने मिटी न ससय सूल।
कह कबीर कासो कहूँ, ये ही दुख का मूल॥
साखी कहै गहै नहीं चाल चली नहिं जाय।
सलिल मोह नदिया बहे, पाव नहीं ठहराय॥'

(२) 'सेमर हीर'—तोते को ऐसी ही चेतावनी कबीर साहब भी दे रहे हैं—

सेमर सुवना बेगि तजु, घनी बिगुचन पाँख।
ऐसा सेमर जो सेव, हिरदय नाहीं आँख॥'

(३) 'विधि'—शौच, दान यज्ञानुष्ठान पुरश्चरण, यत्र मत्र, पचाग्नि, प्राणायाम, समाधि, साधना आदि।

(४) करुना—श्रीबैजनाथजी ने 'करुणा' का परिभाषा इस प्रकार की ह—

सेवक दुख ते दुखित ह्वै, स्वामि बिकल ह्वै जाय।
दुख हरि सुख साज तुरस, करुना गुन सो आय॥'

१९८

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही ते ॥१॥
सहसबाहु दसवदन आदि नप बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन-धाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते ॥२॥
सुत बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते।
अन्तहुँ तोहि तजेंगे पामर! तू न तजै अबही ते ॥३॥

अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घी ते ॥४॥

भावार्थ—अरे! अवसर बीत जाने पर तेरे मन को पछताना पडेगा, इसलिए कठिनता से मिलनेवाला मनुष्य शरीर पाकर भगवच्चरणारविन्दो का भजन कर्म वचन और हृदय से तू कर (अब भी कुछ नही बिगडा) ॥१॥

सहस्रबाहु और रावण सरीखे (महाप्रतापी) राजा भी बलवान काल से नही बचे उन्हें भी काल का ग्रास बनना पडा। जो 'हम, हम' करते हुए धन और धाम सँभालने म लगे रहे व भी अत समय यहा से खाली हाथ ही चले गये (एक कौडी भी उनके साथ न गई।)॥२॥

पुत्र स्त्री आदि को मतलबी यार समझ इन सबसे तू प्रेम न बढा, क्योंकि तेरे ये सदा के साथी नही ह, न पहले थे और न आगे रहेंगे। रे मूर्ख! जब ये सब के सब तुझे अत समय छोड ही देंगे तो तू इन्हें अभी से छोड क्या नहा देता? (जसे, ये तेरे साथी न बनेंगे, वैसे तू भी इनका साथी न बन) ॥३॥

रे मूढ! (अविद्यारूपी निद्रा से) जाग जा, अपने स्वामी (श्रीरघुनाथजी) से प्रेम कर और विषयो से सुख पाने की दुराशा को मन से छोड दे। हे तुलसीदास! कहीं कामनारूपी अग्नि बहुत-सा विषयरूपी घी डालने से बुझती है? (वह तो और भी प्रज्वलित होगी। शान्तिरूपी जल स ही बुझती ह।) ॥४॥

शब्दार्थ—जी ते = हृदय से। रीते = खाली हाथ।

विशेष—(१) हम हम रीते कबीर साहब सुनिए क्या चेतावनी देते हं—

हम का ओढ़ाव चदरिया चलती बिरियाँ।
प्रान राम जब निकसन लागे उलट गइ दोउ नन पुतरियाँ॥
भीतर से जब बाहर लाये छूट गइ सब महल अटरियाँ॥
चार जने मिलि खाट उठाइन रोवत ल चले डगर-डगरियाँ॥
कहत कबीर सुना भाई साधो सग चलीं वह सूखी लकरियाँ॥

तथा—

पाँचों नौबत्त बाजतीं, होत छतीसों राग।
सो मंदिर खाली पडा बठन लागे काग॥
आस-पास जोधा खडे, सबी बजाव गाल।
माँझ महल से ले चला ऐसा काल कराल॥'

(२) सुत बनितादि स्वारथरत—ऋषि वाल्मीकि का उदाहरण ह। देवर्षि नारद के कहने पर जब उन्होंने अपने कुटुम्बी जनों म पूछा कि तुम लोग मेरे पुण्य-पाप के साथी हो या नहीं तो उनका उत्तर था हमें तुम्हारे पुण्य-पाप से क्या मतलब? हम तो खाने-पीने के साथी हैं। हम क्या जानें कि तुम हमारे लिए कहाँ से किस प्रकार क्या क्या लाते हो? वाल्मीकि के हृदय म तत्काल ज्ञान का उदय हो गया।

(३) बुझै न काम—इसी भाव-साम्य—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥'

[मनुस्मृति

१८९

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो।

तजि हरिचरन सरोज सुधारस, रविकर जल लय लायो ॥१॥

त्रिजग, देव नर, असुर अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो।

गृह वनिता, सुत, बन्धु भये बहु, मातु पिता जिन्ह जायो ॥२॥

जाते निरय निकाय निरन्तर, सोइ इन्ह तोहिं सिखायो।

तुव हित होइ कटै भव-बन्धन सो मगु तोहिं न बतायो ॥३॥

अजहुँ विषय कहँ जतन करत, जद्यपि बहु विधि डहँकायो।

पावक-काम भोग घृत तें सठ, कैसे परत बुझायो ॥४॥

विषयहीन दुख मिले विपति अति, सुख सपनेहुँ नहिं पायो।

उभय प्रकार प्रेत पावक ज्यों धन दुखप्रद स्रुति गायो ॥५॥

छिन छिन छीन होत जीवन, दुरलभ तनु वृथा गँवायो।

तुलसिदास, हरि भजहि आस तजि काल उरग जग खायो ॥६॥

भावार्थ—रे मूर्ख मन! किसलिए इधर उधर दौड़ा दौड़ा फिरता है? श्रीहरि-चरणारविन्दों का अमृत रस छोड़कर मृगतृष्णा के जल में क्यों लौ लगा रहा है? भाव यह कि ब्रह्मानन्द को छोड़कर संसार के भूठे विषयों की ओर मन मृग को क्यों दौड़ा रहा है ॥१॥

पशु पक्षी, देवता, मनुष्य, राक्षस एवं अनेक सांसारिक योनियों में तू भटक आया है, जहाँ जहाँ तू गया वहाँ बहुत सारे घर, स्त्री, पुत्र, भाई तथा तुझे जन्म देनेवाले माता-पिता हो चुके हैं (न जाने कितनी बार तू कितनों से रिश्ता जोड़ चुका है) ॥२॥

जिस कर्म के करने से तुझे सदा अनेक नरकों में जाना पड़ता है, लोगों ने तुझे वही विषय भोगों का पाठ सिखाया। वह मार्ग नहीं सुझाया जिस पर चलने से तेरा सांसारिक कष्ट कट जाये, जन्म मरण से तू छूट जाये ॥३॥

इस प्रकार कई तरह से तू छला जा चुका है, फिर भी आज तक तू विषय भोगों के ही लिए उपाय कर रहा है। रे दुष्ट! (तनिक विचार तो कर) कामरूपी अग्नि में भोगरूपी घी डालने से वह कैसे शान्त होगी? (जितना ही विषय भोग तू करेगा, उतनी ही कामाग्नि और और भड़केगी, वह तो विरक्तिरूपी जल से ही बुझेगा, अन्यथा नहीं) ॥४॥

फिर जब तुझे विषयों की प्राप्ति नहीं हुई, तब बड़ा ही दुःख हुआ, स्वप्न में भी सुख नहीं मिला। इसलिए वेदों ने विषयरूपी सम्पत्ति को दोनों ही प्रकार से प्रेत की आग के समान दुःखप्रद बतलाया है। (जैसे वन में यात्री भ्रम की आग देखकर मार्ग भूल जाते हैं, और भ्रम में पड़कर उनसे न आगे बढ़ा जाता है, न पीछे को ही लौटते बनता है, उसी प्रकार विषयों के मिथ्या प्रलोभन में पड़कर, मनुष्य लोक और परलोक दोनों से ही हाथ धो बैठता है। न तो उसे यथेष्ट विषय-साधन मिलते हैं और न उनकी ओर से अरुचि ही होती है।) ॥५॥

तेरा जीवन क्षण क्षण में क्षीण होता जा रहा है। इस दुर्लभ शरीर को तूने व्यर्थ

ही गँवा दिया। अतएव, हे तुलसीदास! तू संसारी सुखों की आशा छोड़कर केवल श्री हरि का भजन कर। सावधान! कालरूपी साँप संसार को ग्रसे जा रहा है (न जाने, कब किस घड़ी तू भी काल का ग्रास बन जाय) ॥६॥

शब्दार्थ—रविकरजल=मृगतृष्णा का पानी कोरा भ्रम। तिरजग=(तिर्यक्) पशु पक्षी, सर्प आदि। निरय=नरक। निकाय=समूह। दहकायो=छला गया। प्रेत पावक=लुक की चमक जिसे लोग भूत की आग कहा करते हैं। यह जंगलों में प्रायः दिखाई देती है, और चमककर तुरन्त बुझ जाती है।

विशेष—(१) ध्रुव बतायो—जिन्होंने अपनी संतति को बचपन से ही परमार्थ का उपदेश दिया, ऐसे माता पिता इने गिने ही मिलते हैं। कहाँ मिलती है ध्रुव की माता सुनीति और महारानी मदालसा-जैसी माताएं?

(२) पावक बुझायो—जब तक विषयों में आसक्ति रहेगी, तब तक वे कभी शान्त होने के नहीं। अनासक्त कर्म बन्धन का कारण नहीं है, परन्तु अनासक्ति अत्यन्त कठिन है। अतः वैराग्य और अभ्यास दोनों आवश्यक हैं। यह मन अभ्यास और वैराग्य से ही वश में हो सकता है। गीता में कहा है—

'असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलं।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते॥'

(३) छिन छिन तनु—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥'

[कबीर

२००

तांबे सो पीठि मनहुँ तनु पायो।
नीच मीचु जानत न सीस पर ईस निपट बिसरायो॥१॥
अवनि रवनि, धन धाम सुहृद सुत, को न इन्हहिं अपनायो।
काके भये, गये सँग काके, सब सनेह छल छायो॥२॥
जिन्ह भूपनि जग जीति बाँधि जम अपनी बाँह बसायो।
तेऊ काल कलेऊ कीन्हे तू गिनती कब आयो॥३॥
देखु बिचारि सार का साँचो, कहा निगम निजु गायो।
भजहि न अजहुँ समुझि तुलसी तेहि, जेहि महेस मन लायो॥४॥

भावार्थ—रे जीव! (क्या कहना!) मानो तूने ताँबे से मढ़ा हुआ शरीर पाया है! तभी तो तू इस पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर शरीर को अजर अमर मानकर विषय भोगों में लीन हो रहा है। हे नीच! तू यह नहीं जानता, कि मौत तेरे सिर पर नाच रही है? तूने परमात्मा को बिलकुल ही भुला दिया (शरीर का भरण-पोषण ही जीवन का सर्वस्व समझ लिया।) ॥१॥

पृथिवी स्त्री धन मकान मित्र और पुत्र को किसने अपना नहीं माना? किन्तु

(तनिक विचार तो कर) ये किसके हुए ? किसके साथ (मरते समय) गये ? इन सबके प्रेम में केवल कपट भरा हुआ है ।।२।।

जिन राजाओं ने सारे संसार को जीतकर, दिग्विजय कर काल को भी ... बनाकर अपने अधीन कर लिया था, उन्हें भी जब एक दिन मृत्यु ने अपना ग्रास बना लिया, तब तेरी तो गिनती ही क्या है ? ।।३।।

विचारपूर्वक (ज्ञान-दृष्टि से) देख सच्चा सार क्या है ? और, वेदों ने निश्चय रूप से क्या कहा है ? हे तुलसी ! अब भी तू श्रीराम का समन्वय नहीं भजता है ।

शब्दार्थ—मीचु = मौत । रवनि=(रमणी) स्त्री । कलेऊ=कलेवा भोजन । निजु=सिद्धांतरूप से । लायो=लगाया ।

विशेष—(१) नीच सीस पर'—कबीर साहब की इस पर साखी है—

'माली आवत देखिकै, कलिया करे पुकार ।
फूली-फूली चुनि लई, कालिह हमारी बार ।।

(२) 'गये सँग काके'—

'इक दिन ऐसा होइगा, कोउ काहू का नाहिं ।
घर की नारी को कहै तन की नारी जाहिं ।।'

(३) जेहि महेस मन लायो —शिवजी पार्वती से कहते हैं—

'अहं जपामि देवेशि, रामनामाक्षरद्वयम ।
श्रीरामस्य स्वरूपस्य ध्यानं कृत्वा हृदिस्थले ।।

२०१

लाभ कहा मानुष-तनु पाये ।
काय वचन-मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराये ।।१।।
जो सुख सुरपुर नरक, गेह-बन आवत बिनहिं बुलाये ।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन समुझत नहिं समुझाये ।।२।।
पर-दारा पर द्रोह, मोहबस किये मूढ़, मन भाये ।
गरभवास दुखरासि जातना तीव्र बिपति बिसराये ।।३।।
भय, निद्रा, मैथुन, अहार सबके समान जग जाये ।
सुर दुरलभ तनु धरि न भजे हरि, मद अभिमान गँवाये ।।४।।
गई न निज पर बुद्धि सुद्ध ह्वै रहे न राम लय लाये ।
तुलसिदास यह अवसर बीते का पुनिके पछिताये ।।५।।

भावार्थ—मनुष्य शरीर पाने से लाभ ही क्या हुआ यदि वह कभी स्वप्न में भी मन, वचन और कर्म से पराये काम नहीं आया, उससे कोई परोपकार नहीं बना ।।१।।

विषय-सम्बन्धी जो सुख बिना ही बुलाये, आपसे आप स्वर्ग नरक घर और वन में प्राप्त हो जाता है, उस सुख के लिए रे मन ! तू अनेक प्रकार के उपाय कर रहा है ! समझाने पर भी नहीं समझता ।।२।।

अरे मूढ़ ! तूने अज्ञानवश पराई स्त्री के लिए और दूसरों से वैर बाँधने के लिए

जो मन म आया सो किया (विवेक से काम नही लिया)। पूवजन्म में तूने गभ में जो महा दु ख भोगे उनका दारुण कष्ट भूल गया? (यह नही साचा कि इन मनमाने कुकर्मों से फिर वहा गभवास क दु ख भोगने पड़ेंगे) उनके कारण गभ में आना पड़ा ॥३।

या तो जिस किसी ने ससार में जन्म लिया, उसमें भय, नीद, काम, आहार आदि एक सरीखे ही पाये जाते ह किन्तु देवताओ को भी दुलभ मनुष्य शरीर पाकर तूने भग वान का भजन नही किया और मद और अहकार में उसे खो दिया ॥४॥

जिन्होने अपने और पराय का भेद नही छोडा और निमल अन्त करण से श्री रघुनाथजी से प्रेम नही जोडा उन्हें, हे तुलसीदास! ऐसा सुअवसर निकल जाने पर फिर पछताने स क्या मिलेगा?

शब्दाथ —काय = (काया) शरीर। घटत=करता ह, आता ह। निज पर बुद्धि=अपने और पराये का भेद भाव।

विशेष—(१) 'घटत न काज पराय'—पिछले कई पदो में वराग्य का प्रतिपादन किया गया ह। कच्चे दिलवालो पर वराग्य का रग बडी जल्दी चढ जाता ह और उतर भी तुरन्त जाता ह। ये जन अज्ञानवश ससार का ठीक ठीक रहस्य नही समझ पाते उसे दूर से ही देखकर डर जाते ह और कायर की तरह पूछ दबाकर भागते ह। वराग्य का प्राय यही अथ किया जाता ह कि ससारी पदार्थों को जिस रूप म वे ह उसी रूप में, छोड देना चाहिए भले ही उनमें आसक्ति बनी रहे। इस पद में गोसाइजी स्वार्थ से विरक्त कराकर जीव को पुन परोपकार में लोक सग्रह के कर्मों में प्रवत्त करा रहे हैं। वे विरक्त का अथ वीर' करत ह, 'कायर नही। परोपकार अथात लोकोपकार के लिए स्वाथ त्याग की बडी आवश्यकता ह, और इसी कारण विषयो की ओर से घणा कराकर विरक्ति का उपदेश किया गया है। यह पद गीता क कमयोग की ओर हठात मन को आकृष्ट करता ह।

(२) भय जाये —भाव साम्य देखिए—

'आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिनराणाम।'

[भत हरि

(३) 'यह अवसर पछिताये'—सत्य ह,

आछे दिन पाछे गये हरि से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करे, चिडिया चुग गई खेत॥'

[कबीरदास

२०२

काज कहा नरतनु धरि सारयो।
पर उपकार सार स्रुति को जो धोखेहुँ न विचारयो ॥१॥
द्वैतमूल भय सूल सोक फल, भवतरु टरै न टारयो।
रामभजन तीछन कुठार लै सो नहिं काटि निवारयो ॥२॥
ससय सिन्धु नाम बोहित भजि निज आतमा न तारयो।
जनम अनेक विवकहीन बहुजोनि भ्रमत नहिं हारयो ॥३॥

देखि आन की सहज सम्पदा, द्वेष अनल मन जारयो ।
सम, दम, दया, दीन-पालन, सीतल हिय हरि न सँभारयो ॥४॥
प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति तैं मन क्रम वचन बिसारयो ।
तुलसिदास यहि आस सरन राखिहि जेहि गीध उधारयो ॥५॥

भावार्थ—मनुष्य शरीर धारण करके तूने आखिर किया क्या? जो परोपकार वेदों का सार है उस पर तूने भूलकर भी विचार नहीं किया ॥१॥

यह संसार मानो एक वृक्ष है। द्वैतमात्र अर्थात भेदबुद्धि ही इसकी जड़ है, भय काँटे हैं और दुःख इसके फल हैं। यह वृक्ष हटाने पर भी नहीं हटता। क्योंकि जब तक इसकी द्वैतरूपी जड़ कट नहीं जाती तब तक इसका हटाना सम्भव नहीं। यह तो केवल रामनामरूपी तेज कुल्हाड़ी से ही कटता है। परन्तु तूने ऐसा किया नहीं ॥२॥

संसाररूपी समुद्र से पार हो जाने के लिए राम-नाम नौकारूप है, सो उसका सेवन कर, भजन कर, तूने अपनी आत्मा को (अविद्या से) नहीं तारा। अनेक जन्म तक अज्ञान वश अनेक योनियों में घूमता हुआ भी अब तक तू नहीं थका ॥३॥

दूसरों की सहज सम्पत्ति देखकर ईर्ष्यारूपी आग में मन को जलाता रहा। शम दम, दया और दीनों का पालन करते हुए हृदय को शांत कर तूने भगवत्सेवा नहीं की ॥४॥

तूने मन से, कर्म से, और वचन से उन श्रीरघुनाथजी को भुला दिया जो तेरे (सच्चे) स्वामी हैं, गुरु हैं पिता हैं और मित्र हैं। हे तुलसीदास! इतनी तो आशा फिर भी है, कि जिसने जटायु गीध को तार दिया, वही तुझे अपनी शरण में रखेंगे ॥५॥

शब्दार्थ—सारयो=पूरा किया, बनाया। बोहित=नौका।

विशेष—(१) 'पर उपकार सार स्रुति को'—व्यास भगवान कहते हैं—
अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥'

(२) 'भवतरु'—नीचे के पद्य में 'संसार-वृक्ष' का साङ्गोपाङ्ग वर्णन आया है—
'अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंचबिस अनेक पर्न सुमन घने ॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवित फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे ॥'
[रामचरितमानस

संसार-वृक्ष का रूपक बहुत प्राचीन है। वेद में भी यह आया है—
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'

२०३

श्रीहरि गुरु-पदकमल भजहु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख-निधान भगवान ॥१॥
परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम मिलन अति दूरि।
जद्यपि निकट हृदय निज रहे सकल भरिपूरि ॥२॥

कार किया जाये। (परोपकार में ही नर शरीर की सार्थकता है) ॥८॥

अष्टमी के समान आठवाँ उपाय यह है, कि श्री रामचन्द्रजी अष्टप्रकृति (पृथिवी, जल, तेज, वायु आकाश, मन बुद्धि और अहंकार) से पर शुद्धस्वरूप हैं। जब तक हृदय से अनेक प्रकार की कामनाएं दूर नहीं हुई तब तक वे कैसे मिल सकते हैं? (शुद्ध आनन्दघन भगवान का निवास निष्काम, निर्विकार पवित्र हृदय में ही होता है।) ॥९॥

नवमी के समान नवाँ साधन यह है कि जिसने इस नौ दरवाजे की नगरी अर्थात नौ छेद वाले शरीर में रहकर *अपनी आत्मा का श्रेयस नहीं साधा, वह नाना योनियों* में भटकता फिरेगा। (क्योंकि विषयों में फँसकर वह कभी जन्म मरण से छुटकारा न पा सकेगा, और सदा आत्मघाती ही कहा जाएगा।) ॥१०॥

दशमी के समान दसवाँ साधन यह है कि संयम करना चाहिए क्योंकि जिसने दसों इन्द्रियों का संयम करना नहीं जाना इन्द्रियों को वश में नहीं किया, उसके सारे ही साधन निष्फल जाते हैं उस असंयत मनुष्य को धनुर्धारी श्रीराम का दर्शन नहीं होता। (इन्द्रिय लोलुप को भगवतरसास्वादन स्वप्न के समान है।) ॥११॥

एकादशी के समान ग्यारहवाँ साधन यह है कि एकवृत्त चित्त करके (सब ओर से हटाकर एक लक्ष्य में लगाकर) भगवत्सेवा करनी चाहिए। इसी आराधना से (परमार्थरूपी एकादशी) व्रत का फल मिलता है और वह फल है जन्म मरण से मुक्त हो जाना ॥१२॥

द्वादशी के दिन जैसे (व्रत के उपरान्त) दान दिया जाता है वैसे ही बारहवाँ साधन यह है कि ऐसा दान देना चाहिए कि जिससे तीनों लोकों में कोई भी भय न रहे। उस द्वादशीरूपी बारहवें साधन का (पारण यही है कि सदा परोपकार में लगा रहना चाहिए। (इस दान और पारण से) फिर शोक नहीं व्यापता ॥१३॥

त्रयोदशी के समान तेरहवा साधन यह है कि जागृति स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को त्यागकर भगवान का भजन करना चाहिए (सदा एकरस निर्बाध रूप से *भगवदभजन करना चाहिए) नारायण मन, कर्म और वाणी से परे हैं* सबमें व्याप रहे हैं, स्वयं व्याप्य हैं अर्थात दृश्यरूप भी हैं और अनन्त अपरिमित हैं। (अतएव उनका भजन इन अवस्थाओं को त्याग देने पर ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि जब तक जीव अवस्था भेद में रहेगा, तब तक वह अनन्त, सर्वव्यापी परमात्मा का पूर्णरूपेण चिंतन कर नहीं सकता।) ॥१४॥

चतुर्दशी के समान गोपाल (इन्द्रियों के नियन्ता) भगवान चौदहवों लोकों में रम रहे हैं। जड़ और चैतन्य सब कुछ भगवान् का ही रूप है। जब तक जीव की भेद बुद्धि दूर नहीं हुई, मेरे-तेरे का भेद भाव नाश नहीं हुआ तब तक श्रीरघुनाथजी संसाररूपी जाल को छिन्न भिन्न नहीं करते जन्म मरण से नहीं छुड़ाते ॥१५॥

अब पूर्णमासी के समान पन्द्रहवाँ साधन जो सर्वोत्कृष्ट, पूर्ण साधन है, यह है कि शान्त शीतल अभिमान रहित ज्ञानमय और सर्वविषयों से विरक्त हो जाना चाहिए तभी परमानन्द का अमृतरस उपलब्ध होगा। इस महारस को केवल भगवान् के सेवक ही जानते हैं। (विषयी जन इसे क्या समझ सकेंगे!) ॥१६॥

यहाँ गोसाइँजी ने फाल्गुन मास की पूर्णमासी का वर्णन किया है। यह पूर्णमासी

अन्य महीनों की पूर्णमासी से कहीं अधिक आनन्दमयी समझी जाती है)। होली में दैहिक, भौतिक और दैविक इन तीनों तापों को जला देना चाहिए। फिर फाग खेलनी चाहिए (आनन्द मनाना चाहिए जब तक संसारी दुःखों का लेश भी रहेगा, तब तक जीव निश्चिन्त होकर परमानन्द प्राप्ति का महोत्सव नहीं मना सकता।) जो तू अपने मन में परमानन्द प्राप्ति की इच्छा करता है, तो इस मार्ग पर चल (उपर्युक्त पन्द्रह साधनों को क्रम-क्रम से साध) ॥१७॥

वेदों, पुराणों और पण्डितों का यही मत है कि भगवान् की लीलाओं का कीर्तन ही होली के अवसर पर गाने के गीत हैं। इन सब साधनों पर विचार करके संसार सागर को पार कर जाना चाहिए और फिर कभी (भूलकर भी) यम-सेना के फन्दे में न पड़ना चाहिए। (जन्म मरण के चक्र में न फँसना चाहिए।) ॥१८॥

अविद्या का नाश करनेवाले दुःखों के हर्ता और आनन्द की राशि केवल नारायण ही हैं। भले ही अनेक उपाय करो पर वे, सन्तों के अनुग्रह के बिना, प्राप्त होने के नहीं (सन्त-कृपा सबसाधना में प्रधान है) ॥१९॥

संसार-समुद्र से तरने के लिए सन्तों के पवित्र चरण ही नौका हैं। हे तुलसीदास! (इस नौका पर चढ़कर अर्थात् सन्तों के चरणों की सेवा करके) दुःखों का नाश करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी बिना ही प्रयास प्राप्त हो जाते हैं ॥२०॥

शब्दार्थ—द्वैतमति=भेद-बुद्धि। चरहि = विचरण कर। परस = स्पर्श। षड वर्ग = काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। सप्तधातु = अस्थि, चर्म रक्त, मांस, मज्जा मेद और वीर्य। नौद्वारपुर=नौ छेदवाला शरीर। पारन=व्रत के उपरान्त का भोजन। अति = जड़ से। लागु = आरूढ़ हो जा। चाँचरि = फाग के गीत।

विशेष—(१) श्रीहरि गुरु—यहाँ गुरु और हरि में अभेदत्व का प्रतिपादन किया गया है। गुरु की सेवा करने से हरि की प्राप्ति होती है। कबीर साहब कहते हैं—

'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागों पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो लखाय॥'

(२) परिवा'—चन्द्रमा की षोडश कलाएँ हैं। एक-एक तिथि में एक-एक कला की वृद्धि होती है।

'अमृतां मानदां तुष्टिम्पुष्टिम्प्रीतिं रतिं तथा।
लज्जां, श्रियं, स्वधां, रात्रिं, ज्योत्स्ना, हंसवनीं तत॥
छायां च पूरणीं वामाममाचन्द्रकला इमा॥'

[शारदा तिलक

श्रीबैजनाथजी ने इसी प्रकार जीव की भी षोडश कलाएँ कही हैं—निराशा उदासना, शांति, जिज्ञासा, करुणा, मुदिता स्थिरता, सुमग, उदासीनता, श्रद्धा, लज्जा, साधुता, तृप्ति, क्षमा विवेक और विद्या।

(३) 'प्रेम दूरि'—

'जद्यपि प्रभु सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगटि होत भगवाना॥'

[रामचरितमानस

(४) 'रूपक विचार'—

'जाके पेट भगत हूँ नाहीं, ताके भारी खाई।
कौन कुम्भ उदर ज्यों लरिका गर को मरै बड़ाई॥

(५) 'पनिहारी'—निम्नलिखित कबीर के गाने पर विचार कीजिए—

'ऐसी नगरिया में केहि विधि रहना। नित उठि कलंक लगावै सहना॥
एकै कुआँ पाँच पनिहारी। एकै लेजुर भरै नौ नारी॥
फटि गया कुआँ विनसि गई बारी। बिलग भई पाँचों पनिहारी॥
कहैं कबीर नाम बिनु बेरा। उठि गया हाकिम लुटि गया डेरा॥

(६) शरणागति—प्रथम दृष्टया पद विनय-भाव का। भक्ति अनुसार राम का स्मरण यहाँ किया गया है।

(७) षोडश भुजा—भू भुव स्व मह जन तप सत्य तल, अतल, वितल सुतल तलातल रसातल और पाताल।

(८) साधना का चरम—यथापि—

मधुरा भाव हारिका भाव का जगनाथ।
साधु चरम सेवन किया, कछु ना आय हाथ॥

(९) यह पद साहित्य, भक्ति एवं तत्त्वज्ञान की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर है। साधक जनों के लिए तो हृदय का यह पद हार ही है। क्रमशः इस पर चलता हुआ साधक पूर्ण सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं।

२०४

जो मन लागै रामचरन अस।
देह गेह सुत वित कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस ॥१॥
द्वन्द्वरहित, गतमान, ग्यानरत, विषय विरत खटाइ नाना कस।
सुखनिधान सुजान कोसलपति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होहिं बस ॥२॥
सर्वभूत हित, निर्व्यलीक चित, भगति प्रेम दृढ़ नेम एकरस।
तुलसिदास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतो सीसदस ॥३॥

भावार्थ—यदि यह मन श्रीरघुनाथजी के चरणों में इस प्रकार लग जाय जैसे यह शरीर गृह पुत्र धन और स्त्री में मग्न हो जाता है (स्वभाव से ही उनके मोह में फँस जाता है) ॥१॥

तो यह द्वन्द्वों (सुख दुःख आदि) से रहित हो जाय, इसका अभिमान दूर हो जाय यह ज्ञान में तल्लीन हो जाय तथा अनेक कष्टों से या उपायों से निर्मल होकर या देहासक्ति से हटकर विषयों से विरक्त हो जाय। ऐसे भाव पर आनन्दघन सुचतुर कोशलेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी क्या न उसके वश में हो जायें? ॥२॥

(जो जीव भगवच्चरणारविन्दों में इस प्रकार प्रेम करेगा) वह सब प्राणियों के हित में अपने को लगा देगा उसका चित्त शुद्ध हो जायगा भक्ति और प्रेम दृढ़ हो जायेंगे और उसके नियम त्रिकालाबाधित सदा एकरस रहेंगे अर्थात् वह सुख-दुःख सम्पत्ति-

विपत्ति आदि द्वन्द्वों में सम्पन्न वा विपन्न न होगा। हे तुलसीदास हो सकेगी, जब रावण का वध करनेवाले समर्थ स्वामी (श्रीरामजी)

शब्दार्थ—कलत्र=स्त्री। खटाई=निभा जाये परख में कस=परीक्षा। निर्व्यलीक=निर्मल, निष्कपट। एकरस=त्रिकालाबाधि

विशेष—(१) 'जो मन अस'—इस प्रकार भगवत्सेवा करनी सा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

> स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
> करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
> मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
> घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
> पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
> कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

(२) 'खटाइ नाना कस'—श्रीव्रजनाथजी के अनुसार स्वर्गीय भट्टजी ने इसका यह अर्थ किया है—'वह (संसार के) विषयों से ऐसे अलग हो जाता है, कि जैसे कस (काँसा) के पात्र में धरी अनेक खट्टी वस्तुओं से मन फिर जाता है।' यह अर्थ भी घट सकता है, श्रीव्रजनाथजी ने इस विस्तार के साथ लिखा है।

(३) 'जेहि सीसदस'—जिसने दस शिरवाले रावण का वध किया है वही दशों इन्द्रियों पर विजय-लाभ कराकर परमहंस अवस्था को प्राप्त कराएगा।

(४) सहज स्वभाव से निष्कपट भाव से भगवच्चरणारविन्दों में प्रेम करना चाहिए—यही इस पद का निचोड़ है।

२०५ 5

जो मन भज्यो चहै हरि सुरतरु।
तौ तजि विषय विकार सारभजु, अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु॥१॥
सम, संतोष, बिचार बिमल अति सतसंगति, ये चारि दृढ करि धरु।
काम, क्रोध, अरु लोभ, मोह मद, राग, द्वेष निसेष करि परिहरु॥२॥
स्रवन कथा, मुख नाम हृदय हरि, सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु।
नयनन निरखि कृपा-समुद्र हरि अग जगरूप भूप सीतावरु॥३॥
इहै भगति बैराग्य-ग्यान यह हरि-तोषन यह सुभ ब्रत आचरु।
तुलसिदास सिव-मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डरु॥४॥

भावार्थ—हे मन! जो तू श्रीहरिरूपी कल्पवृक्ष का सेवन करना चाहता है, तो विषय विकारों को, काम लिप्सा को छोड़कर साररूप श्रीराम-नाम का भजन कर, और जो मैं कहता हूँ उस पर अब भी आचरण कर (अभी भी कुछ बिगड़ा नहीं)॥१॥

समता, सन्तोष, निर्मल ज्ञान और सत्संग, इन चारों को दृढ़तापूर्वक (हृदय में) रख ले। इनको हृदयंगम करके इनका अनुसरण कर। काम, क्रोध, लोभ, अज्ञान, अहंकार एवं राग और द्वेष को सर्वथा त्याग दे, हृदय में इनका लेशमात्र भी न रहे। (क्योंकि जब-

य दुगुण हृदय म रहगे तब तक सद्गुणों को वहाँ दाव जमने को नही, काम काँचन के आगे क्षम दम का निवाह हो नही सकता) ॥२॥

कानो स भगवत्कथा सुनाकर मुख स (राम) नाम का स्मरण हृदय म भगवद् ध्यान और मस्तक से प्रणाम तथ हाथो स भगवान् की सवा किया कर। नत्रो स कृपा सागर जड चतय म व्याप्त महाराजा जानकीवर रामचन्द्रजी का दशन किया कर (इसी म तर शरीर को साथकता ह नही तो विषया का अनुसरण करता हुआ तू मनुष्य शरीर को यो ही व्यथ खो दगा न तो लोक बनगा न परलोक ही)। ३।

यही भक्ति ह यही वराग्य ह यही ज्ञान ह और इसी से भगवान् प्रसन्न होते ह, अतएव तू इसी शभ कल्याणकारी व्रत का साधन कर। हे तुलसीदास! यह माग शिवजी का बतलाया हुआ ह। इस (कल्याणयुक्त) माग पर चलन से स्वप्न म भी (जन्म-मरण का) भय नही रहता ॥४॥

शब्दाथ —सम=(शम) शान्ति, समभाव। निसेष=(निशष) पूणतया। अग=जड। जग=चतय। तोषन=प्रसन्न करनवाला। सिवमत=शिवजी का कहा हुआ सिद्धात कल्याणकारी मत।

विनेष—(१) विषय विकार —शब्द रूप रस गध, स्पश, इन्द्रियो के भोग विलास जो नितान्त निस्सार ह। विवक द्वारा इन विषयो को निस्सारता देखकर सार स्वरूप आत्मा की उपासना ही श्रयस्कर ह। जब अन्त करणचतुष्टय नि शषरूप से विशुद्ध हो जाता ह तभी भगवदभक्ति का, हरि कङ्कय का, अधिकार प्राप्त होता ह।

(२) अग जग रूप —सब व्यापी परमात्मा।

सियाराममय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुगपानी॥

[रामचरितमानस

(३) हरि तोषन —भगवान् केवल अनन्य भक्ति द्वारा ही प्रसन्न होत ह। अनन्य उपासक का लक्षण ह—

न विधिन निषेधश्च प्रेमयुक्त रघुत्तमे।
इन्द्रियाणामभाव स्यात सोऽनन्योपासक स्मृत ॥

[श्रीमहारामायण

(४) सपनहुँ नाहिन डर —प्रमाण ह—

'निभय वरणव पद'।

शरणागत जीव वास्तव म निभय हो जाता ह। भगवान न स्वय उसे निभय कर दन का वचन दिया ह—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

[वाल्मीकि रामायण

२०६

नाहिन और कोउ सरनलायक दूजो श्रीरघुपति-सम विपति निवारन।
काको सहज सुभाउ सेवकबस काहि प्रनत पर प्रीति अकारन॥१॥

जन गुन अलप गनत सुमेरु करि, अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।
परम कृपालु, भगत चिंतामनि, बिरद पुनीत पतितजन-तारन ॥२॥
सुमिरत सुलभ दास दुख सुनि हरि चलत तुरत पटपीत सँभार न।
साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपद-सुता अरु बारन ॥३॥
जाको जस गावत कवि कोविद, जिन्हके लोभ, मोह मद, मार न।
तुलसिदास तजि आस सकल भजु कोसलपति मुनिबधू-उधारन ॥४॥

भावार्थ—श्रीरघुनाथजी के समान विपत्तियों का दूर करनेवाला तथा शरण लेने योग्य कोई दूसरा नहीं है (शरण तो उसी की लेनी चाहिए, जो निर्भय होकर रक्षा कर सके, सो श्रीराम को छोड़कर ऐसा कोई समर्थ नहीं। सभी किसी-न-किसी भय से स्वयं ही पीड़ित हैं)। शरणागतों पर किसका अकारण प्रेम है? ॥१॥

जब श्रीरघुनाथजी अपने दास के जरा से गुण को देखते हैं, तब वे उसे सुमेरु पर्वत के सदृश महान् मानते हैं, और उसके करोड़ों दोषों को देखकर भी भूल जाते हैं। कारण कि वे बड़े ही दयालु भक्तों के लिए चिंतामणिरूप हैं (जो-जो भक्त माँगते हैं, वह पाते हैं) और पवित्र करने के विरदवाले तथा पापियों का (संसार सागर से) उद्धार कर देनेवाले हैं ॥२॥

स्मरण करते ही बिना किसी कठिनाई के प्राप्त हो जाते हैं। अपने दास का कष्ट सुनकर इतनी शीघ्रता से (दुःख दूर करने को उसके पास) दौड़ आते हैं कि अपने पीताम्बर तक को नहीं सँभालते (जहाँ जैसे बैठे होते हैं, वहाँ से वैसे ही दौड़कर चले आते हैं)। इस बात के साक्षी पुराण, वेद, शास्त्र, द्रौपदी और गजेंद्र, ये सब हैं (मैं कवि-कल्पना से काम नहीं ले रहा हूँ, इसके उदाहरण भी पाये जाते हैं) ॥३॥

जिनके अंतर में लोभ, मोह, अहंकार और काम नहीं हैं, ऐसे कवि और ज्ञानी पुरुष जिनकी कीर्ति का गान करते हैं, हे तुलसीदास! सारी लोक परलोक की आशाओं को छोड़कर, अहल्या का उद्धार करनेवाले उन कोशलेश श्रीराम का ही तू भजन कर ॥४॥

शब्दार्थ—दवन = (दमन) दूर करनेवाला। समन=(शमन) शांति देनेवाला। सिराहिं न=पूरे नहीं होते हैं। बारक = एक बार। लुब्ध=लोभी। सुगति=मोक्ष। कारुनीक=कृपालु।

विशेष—(१) प्रीति अकारन—निष्कारण निष्काम प्रेम ही, वास्तव में प्रेम है। किसी वस्तु की इच्छा करके जो प्रेम किया जाता है वह तो व्यापार है। सकाम प्रेम स्थिर भी नहीं रहता। सो ऐसा निष्काम प्रेम भगवान् ही जीवों पर करते हैं, और किसी का सामर्थ्य नहीं है।

(२) 'पटपीत सँभार न'—श्रीभट्टजी ने यह अर्थ किया है—"दास के दुःख को सुनते ही वे तुरत अपने पीताम्बर को सँभालकर चलते हैं अर्थात् भक्त का दुःख दूर करने के लिए पीताम्बर पहन, तुरन्त जाने को तैयार हो जाते हैं, पर यदि पीताम्बर पहनने लगेंगे तो देर न हो जायगी? पीताम्बर तो पहने से ही पहने हुए हैं। अतः तुरंत दौड़कर बिना उसे सँभाले ही अपने भक्त के पास चले जाते हैं। पाठ 'सँभार न' है, न कि

२०७

भजिबेलायक, सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिन।
आनँदभवन, दुखदवन, सोकसमन, रमारमन गुन गनत सिराहिं न ॥१॥
आरत, अधम, कुजाति, कुटिल, खल, पतित, सभीत कहूँ जे समाहिं न।
सुमिरत नाम बिबसहूँ बारक पावत सो पद, जहाँ सुर जाहिं न ॥२॥
जाके पद-कमल लुब्ध मुनि मधुकर, बिरत जे परम सुगतिहु लुभाहिं न।
तुलसिदास सठ तेहि न भजसि कस, कारुनीक जो अनाथहिं दाहिन ॥३॥

भावार्थ—भजन करने योग्य, सुख देनेवाला और शरण में रखनेवाला स्वामी श्रीरघुनाथजी के समान कोई दूसरा नहीं है। उन आनन्दधाम, दुःखों का नाश करनेवाले, शोक हरनेवाले लक्ष्मीकान्त भगवान् के गुण गिनते गिनते कभी पूरे नहीं होते। क्योंकि वे अनन्तगुण विशिष्ट हैं ॥१॥

जो दुखी, नीच, अन्त्यज, कपटी, दुष्ट पापी और भयभीत कहीं भी शरण नहीं पा सकते, वे भी एक बार ही श्रीरामनाम स्मरण कर उस पद पर पहुँच जाते हैं जहाँ देवता भी नहीं जा सकते ॥२॥

जिनके चरणरूपी कमलों में ऐसे विरक्त मुनि मधुप लुब्ध रहते हैं (रसलोलुप बने बैठे हैं), जिन्हें मोक्ष तक का लाभ नहीं (जो मोक्ष-सुख को भी तुच्छ समझकर भगवान् के चरणारविन्दों का परागपान कर रहे हैं) हे शठ! तुलसीदास! उन करुणामय प्रभु का भजन तू क्यों नहीं करता है जो अनाथों पर सदा कृपा करते हैं? ॥३॥

शब्दार्थ—दवन=(दमन) दूर करनेवाला। समन=(शमन) शान्ति देनेवाला। सिराहिं न=पूरे नहीं होते हैं। बारक=एक बार। लुब्ध=लोभी। सुगति=मोक्ष। कारुनीक=कृपालु।

विशेष—(१) 'सुमिरत जाहिं न'—प्रमाण है—

'सकृदुच्चारयेद्यस्तु रामनामपरात्परम्।
शुद्धान्तःकरणो भूत्वा निर्वाणमधिगच्छति॥

[पद्मपुराण

(२) सुगतिहु लुभाहिं न—क्योंकि—

'सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं—

[रामचरितमानस

'चारौं मुक्ति भरैं तहँ पानी, घर छावैं ब्रह्मज्ञानी।

—हरिराम व्यास

राग कल्याण

२०८

नाथ सो कौन बिनती कहि सुनावौं।
त्रिबिध बिधि अमित अवलोकि अघ आपने,
सरन सनमुख होत सकुचि सिर नावौं ॥१॥

विरचि हरिभगति को वेष वर टाटिका,
कपट-दल हरित पल्लवनि छावौं।
नामलगि लाइ लासा ललित बचन कहि,
व्याध ज्यों विषय बिहँगनि बझावौं ॥२॥

कुटिल सतकोटि मेरे रोम पर वारियहि,
साधुगनती मे पहलेहि गनावौं।
परम बर्बर खर्ब गर्ब पर्बत चढ्यो,
अग्य सर्बग्य, जन मनि जनावौं ॥३॥

साच किधौं झूठ मोको कहत, कोउ
कोऊ राम! रावरो, हौं तुम्हारो कहावौं।
बिरद की लाज करि दासतुलसिहि देव!
लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावौं ॥४॥

भावार्थ—हे नाथ! आपको मै किस प्रकार अपनी विनती कह सुनाऊँ? अपने नाना प्रकार के (मन वचन और कर्म से उत्पन्न) अगणित पापों को ओर देखकर जब मैं आपकी शरण में आता हूँ, तब सामना होते ही लज्जावश सिर नीचा कर लेता हूँ (आँख से आँख नहीं मिला सकता, क्योंकि मेरे पास एक भी पुण्य का बल नहीं, कि जिससे आपकी शरण प्राप्त कर सकूँ) ॥१॥

भगवद्भक्तों का भेष धारणकर सुन्दर टट्टी बनाता हूँ, और कपटरूपी हरे हरे पत्तों से उसे छा देता हूँ। (तिलक लगाकर कण्ठी माला पहनकर राम-नाम जपता हूँ और इस धोखे से दूसरों की आँखों में धूल झोंकता हूँ। पाखण्ड कर-कर लोगों को ठगना मेरा कर्त्तव्य हो गया है)। आपके (राम) नाम की लग्गी लगाकर मधुर वचनों का लासा लगा देता हूँ। (राम राम जपता हुआ ऐसी मधुर वाणी बोलता हूँ कि लोग सचमुच ही मुझे महात्मा समझने लगते हैं) फिर बहेलिया की तरह विषयरूपी पक्षियों को फँसा लेता हूँ। (लोगों की दृष्टि में तो वैष्णव बनकर राम राम जपता हूँ पर करता क्या क्या हूँ सो सुनिए रूपवती स्त्रियों को काम-दृष्टि से देखता हूँ, काम-वार्त्ता सुनता हूँ सुगंधित माला धारण करता हूँ और जितने भी भोग विलास हैं उन सभी में इंद्रियों को फँसाता हूँ) ॥२॥

मेरे एक रोम पर सौ करोड पापी निछावर किए जा सकते हैं, पर तो भी अनेकों साधुओं की गणना में सर्वप्रथम गिनवाना चाहता हूँ संत शिरोमणि बनने का दावा रखता हूँ। मैं बड़ा ही असभ्य और नीच हूँ, पर अभिमान के पहाड़ पर चढ़कर बैठा हूँ। महामूर्ख होते हुए भी अपने आपको श्रेष्ठ बतलाता हूँ ॥३॥

हे भगवन्! कह नहीं सकता कि झूठ है या सच पर कोई कोई मुझे देखकर कहते हैं कि 'यह रामजी का है' और मैं भी 'आपही का' कहलाया चाहता हूँ। हे देव! तब फिर अपने बाने की लाज रखकर इस तुलसीदास को आप अपना ही लीजिए (क्योंकि यदि इससे, अब आपने मुझे न अपनाया तो मैं किसका होकर रहूँगा? मेरी क़लई खुल जाने पर मैं कोई मुझ पर विश्वास करेगा और न अपनी शरण में ही लेगा। इसलिए आप ही

२१०

और कहँ ठौर रघुबंस मनि मेरे।
पतित-पावन, प्रनत-पाल, असरन सरन,
बाकुरो बिरद बिरुदैत केहि केरे ॥१॥
समुझि जिय दोष अति रोष करि राम जो,
करत नहिं कान बिनती बदन फेरे।
तदपि ह्वै निडर हौं कहौ करुना सिन्धु !
क्याऽब रहि जात सुनि बात बिन हेरे ॥२॥
मुख्य रुचि होत बसिबे की पुर रावरे,
राम ! तेहि रुचिहिं कामादि गन घेरे।
अगम अपवग, अरु स्वग सुकृतैक फल,
नाम बल क्यो बसौं जम नगर नेरे ॥३॥
कतहुँ नहिं ठाउँ, कहँ जाउँ कौसलनाथ !
दीन बितहीन हौ, बिकल बिनु डेरे।
दास तुलसिहि बास देहु अब करि कृपा
बसत गज गीध ब्याधादि जेहि खेरे ॥४॥

भावार्थ—हे रघुवंशमणि ! मेरे लिए और कहाँ स्थान है ? (आपके चरणों को छोड़कर, बताओ और कहाँ जाऊ ?) पापियो को पवित्र करनेवाले, शरणागतों को पालनेवाले एवं अनाथों को शरण देनेवाले तो एक आप ही हैं। आपका सा बाँका बाना और किस बाने वाले का है ? ॥१॥

हे रघुनाथजी ! अपने मन में मेरे अपराधों को समझकर क्रोध से यद्यपि आप मेरी विनती पर ध्यान नही देते है और मेरी ओर से अपना मुँह फेरे हुए हैं, तो भी मैं निर्भय होकर हे करुणा सागर ! यही कहूँगा कि मेरी बात सुनकर उस पर ध्यान दिये बिना आपसे कैसे रहा जायगा ! (क्योंकि जब आप किसी दीन की पुकार सुनते है तो तुरन्त उस पर ध्यान देते हैं पर मेरी ही बार टाल-टूल कर रहे हैं, इसीसे मुझे आश्चर्य होता है।) ॥२॥

(यदि आप मेरी इच्छा पूछते हैं तो सुनिए) सबसे प्रमुख कामना तो मेरी यही है कि मैं आपके धाम (साकेत लोक) में जाकर रहूँ किन्तु हे नाथ ! उस रुचि को काम क्रोध लोभ और मोह घेरे हुए हैं (ये दुष्ट उस इच्छा को दबा देते हैं)। मोक्ष तो महा दुर्लभ है (क्योंकि कामनाओं का समूल नाश नही हुआ)। स्वर्ग मिलना भी कठिन है क्योंकि वह केवल सत्कर्मों के फल से प्राप्त होता है (मैंने सत्कर्म तो कोई किया नही, स्वर्ग कैसे जा सकता हूँ ?)। अब रहा नरक सो आपके नाम के बल भरोसे पर वहाँ भी नहीं जा सकता हूँ। (क्योंकि जो राम-नाम का स्मरण करता है, वह नरक-यातना से छूट जाता है।) ॥३॥

अब मुझे कहीं भी रहने के लिए ठौर नहीं रहा। कहाँ जाऊँ ? हे कोशलेश ! मैं

निघन और दीन हूँ (धनाढ्य होता तो कहीं रहने का घर बनवा लेता)। निवास स्थान के न होने से व्याकुल हो रहा हूँ। अत हे नाथ ! इस तुलसीदास को कृपाकर उसी गाव में रहने को स्थान दे दीजिए जहा गजेन्द्र, जटायु, व्याध (वाल्मीकि) आदि रहते हैं ॥४॥

शब्दार्थ—बाँकुरो=बाँका, निराला। विरुदैत=बानावाला। कयाऽब=क्या + अब। अपवग=मोक्ष। खेरे=खडे म गाव में।

विनोद—(१) 'करत नहिं फेरें'—ऐसा न कीजिए क्योंकि—

'सुरति करो मेरे साइयाँ, हम हैं भव जल माँहि।
आपे ही बहि जायँगे जो नहिं पकरो बाँहि॥'

(२) 'स्वग नेरें'—स्वग जाने में मेरे ये पाप बाधक हैं और नरक जाने में आपका राम-नाम ! साधक तो कहीं भी कोई नहीं दिखाई देता।

(३) 'व्याध'—वाल्मीकि से आशय है। पहले यह एक बहेलिया थे। नाम रत्नाकर था। पीछे देवर्षि नारद के उपदेश से जीव हिंसा त्यागकर 'मरा मरा' जपने लगे, और मुक्त हो गये। कहा है—

उलटा नाम जपत जग जाना।
बालमीकि भे ब्रह्म समाना॥'

श्रीकृष्ण के चरण म बाण मारनेवाले जरा' नामक व्याध से भी आशय हो सकता है।

श्रीदेवनारायण द्विवेदी ने अपनी टीका में एक तीसरे ही पुराण प्रसिद्ध व्याध से आशय लिया है, जिसका नाम धर्म' था।

२११

कबहुँ रघुबंसमनि ! सो कृपा करहुगे।
जेहि कृपा व्याध गज, विप्र, खल नर तरे,
तिन्हहि सम मानि मोहि नाथ उद्धरहुगे॥१॥
जोनि बहु जनमि किये करम खल बिबिध बिधि,
अधम आचरन कछु हृदय नहिं धरहुगे।
दीनहित ! अजित सर्वज्ञ समरथ प्रनतपाल
चित मृदुल निज गुननि अनुसरहुगे॥२॥
मोह मद मान कामादि खल मण्डली
सकुल निरमूल करि दुसह दुख हरहुगे।
जोग-जप-जग्य बिग्यान ते अधिक अति,
अमल दृढ़ भगति दै परम सुख भरहुगे॥४॥
मन्दजन-मौलिमनि सकल साधन-हीन,
कुटिल मन, मलिनजिय, जानि जो डरहुगे।
दासतुलसी वेद बिदित बिरुदावली,
बिमल जस नाथ ! केहि भाँति बिस्तरहुगे॥५॥

कमल का एक फूल लेकर आपकी शरण में गया, तब उसके दीन वचन सुनकर चक्र सुदर्शन लेकर आप गरुड़ को वहीं छोड़ तुरन्त (दौड़ते हुए) चले आये (मानो गरुड़ भी उसका आर्त्त वचन न सुन सके) ॥२॥

जब (भरी सभा में) दुष्ट दुःशासन द्रौपदी के वस्त्र उतारने लगा, तब केवल उसके इतना कहने पर ही कि 'हाय ! भगवान् मेरी लाज रखिए' आपने विविध रंगों के वस्त्रों का ढेर लगा दिया (उसकी साड़ी इतनी लम्बी बना दी कि खींचते-खींचते दुःशासन थक गया, पर उसे उसका छोर न मिला) ॥३॥

यह समझ-बूझकर देव, मनुष्य, मुनि और विद्वज्जन आपके चरणों की सेवा करते हैं। राजा नृग का उद्धार करने वाले समर्थ भगवान ने किसको अभय नहीं किया ? (जो उनकी शरण में गया उसी को अभय कर दिया) ॥४॥

शब्दार्थ—सुनाभ=चक्र। पाहि=रक्षा करो। बरन=रंग। नृग=एक राजा का नाम।

विशेष—(१) 'सुनाभ'—श्रीयुत भट्टजी ने इसका अर्थ 'नाभि' लिखा है, अर्थात् नाभि का धारण करनेवाले भगवान् सुनाभ। इस अर्थ में शक्लिष्ट है। 'सुनाभ' का अर्थ चक्र होता है। यही अर्थ नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'तुलसीग्रन्थावली' में भी माना गया है।

राग कल्याण

२१४

ऐसी कवन प्रभु की रीति ?
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पावरनि पर प्रीति ॥१॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ ॥२॥
काम मोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह।
जगत पिता बिरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह ॥३॥
नेम तें सिसुपाल दिनप्रति देत गनि-गनि गारि।
कियो लीन सु आपु में हरि राज-सभा मँझारि ॥४॥
ब्याध चित दै चरन मार्यो मूढ़मति मृग जानि।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ॥५॥
कौन तिन्ह की कहै जिन्ह के सुकृत अरु अघ दोउ।
प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥६॥

भावार्थ—(भगवान के सिवाय) और किस स्वामी की ऐसी रीति है जो अपने बाने की लाज रखने के लिए पवित्र जनों का त्याग कर पामर जनों पर प्रेम करता है ? ॥१॥

पूतना स्तनों में विष लगाकर उन्हें (भगवान् कृष्ण को) मारने गई थी, किन्तु कृपालु यादवराज श्रीकृष्ण ने उसे माता की-सी सुगति (मोक्ष) प्रदान की ॥२॥

आपने काम-मोहित गोपिकाओं पर ऐसी कृपा की कि उनके चरणों की धूलि

जगत्पिता ब्रह्मा ने भी अपने मस्तक पर चढाई (क्योंकि प्रेमस्वरूपा गोपियों का आपने अपना ही स्वरूप दे दिया था) ॥३॥

जो शिशुपाल नित्य नियम से गिन गिनकर गालियाँ देता था (नित्य श्रीकृष्ण को सौ गालियाँ देने का उसका सकल्प था), उस भगवान् ने राजाओं की सभा में देखते देखते अपने स्वरूप में लीन कर लिया ॥४॥

मूख बहेलिये ने तो हिरण समझकर आपके चरणों में निशाना लगाकर (बाण) मारा, पर उसे आपने, अपने दयालु स्वभाव से सदेह गोलोक भेज दिया ॥५॥

जिन्होंने पुण्य और पाप दोनों ही किये हैं उनके लिए तो क्या कहा जाय ? (क्योंकि उनका सदगति पाने का कुछ-न कुछ तो अधिकार था ही) किन्तु उन्होंने तो प्रत्यक्ष पापमूर्ति तुलसी को भी शरण में रख लिया है, यही आश्चय है ॥६॥

शब्दार्थ—कालकूट = विष। बानि = स्वभाव। सुकृत = पुण्य।

विशेष—(१) 'पूतना'—कहते हैं कि यह किसी पूवजन्म में अप्सरा थी। वामन रूपधारी विष्णु का रूप देखकर, वात्सल्य स्नेह से, उनके मन में आया कि इस बालक को पुत्र मानकर अपने स्तनों का दूध पिलाऊँ। अन्तर्यामी भगवान् उसके मन की इच्छा ताड गये। वही अप्सरा पूतना के नाम से किसी घोर पाप के कारण, राक्षसी हुई। भगवान् कृष्ण ने मातृ भक्ति प्रदर्शित कर उसे स्वग भेज दिया।

(२) 'काम-मोहित गोपिकनि पर' श्रीमद्भागवत में महाराज परीक्षित ने ब्रह्मर्षि शुकदेव से जब यह प्रश्न किया कि गोपियाँ तो काम मोहित थी उन्हें परमपद कैसे प्राप्त हुआ तब शुकदेव ने यह उत्तर दिया, कि जिन्होंने समस्त ससार को भी आनन्दनन्दन पर न्योछावर कर उनसे निष्काम प्रीति जोड़ी, भला वे काम मोहित हो सकती हैं ? गोपियों की उपमा किससे दी जाय ? एक प्रेमदीवानी गोपी कहती है —

> 'चौंक पहिरावौ, पाँव बेडी लै भरावौ,
> गाढ़े बधन बँधावौ औ खिचावौ काची खाल सों।
> विष लै पिलावौ ताप मूठ भी चलावौ, माझ
> धार में बहावौ बाँधि पत्थर 'कमाल सों॥
> बिच्छू लै बिछावौ ताप मोहि लै सुलावौ फेरि
> आग भी लगावौ बाँधि कापड दुसाल सों।
> गिरि से गिरावौ, काले नाग से डसावौ,
> हा हा, प्रीति ना छुड़ावौ गिरिधारी नन्दलाल सों॥'

तथा—

> 'कोउ कहो कुलटा कुलीन अकुलीन कहो,
> कोउ कहो रकिनि, कलकिनि कुनारी हौं॥
> कैसो देवलोक, परलोक, नरलोक, मैं तो
> लीनी है अलीक, लोक-लीकन ते न्यारी हौं॥
> तन जावौ धन जावौ 'देव गुरुजन जावौ,
> जीव क्यों न जावौ टेक टरति न टारी हौं॥

वृन्दावनवारी गिरिधारी की मुसुकानि,
पीतपटवारी वाही मूरति पै वारी हौं ॥'

सभी तो प्रेम परा भक्तिरूपा गोपिकाओं के विषय में कहा गया यह पद प्रसिद्ध है—

गोपी प्रेम की धुजा ।
जिन गुपाल कीन्हों बस अपने उर धरि स्याम भुजा ॥
सुक मुनि व्यास प्रसंसा कीनी उद्धव संत सराहीं ।
भूरि भाग्य गोकुल की वनिता अति पुनीत जगमाहीं ॥
कहा भयो जु विप्र कुल जनम्यो सेवा-सुमिरन नाहीं ।
स्वपच पुनीत दास परमानंद जो हरि-सनमुख जाहीं ॥

—परमानन्ददास

(३) व्याध—कहते हैं कि पूर्व जन्म में यह वालि वानर था। बदला चुकाने के लिए इसने भी धोखे से, भगवान् कृष्ण के चरण पर प्रहार किया। चरण में पद्म के चिह्न से मृग के नेत्र का भ्रम हो जाने से इसने बाण चला दिया। बाद को पता लगने पर इसे भारी दुःख और पश्चात्ताप हुआ, किन्तु भगवान् ने उसे सदेह स्वर्ग भेज दिया।

(४) उदारहृदय गोसाइँजी ने इस पद में श्रीकृष्ण भगवान् का ही गुणानुवाद गाया है। आश्चर्य है कि अनन्य (?) रामभक्त बैजनाथजी ने अपनी टीका में यह सिद्ध करने के लिए कि इस पद में श्रीकृष्ण का महत्त्व गौण है और ध्वनि से श्रीरामजी का ही प्राधान्य सिद्ध होता है व्यर्थ ही पृष्ठ रंग डाले हैं। इस पद में से तो कहीं भी ऐसा कोई अर्थ निकलता ही नहीं है। 'श्रीकृष्ण-गीतावली' के रचयिता गोसाइँजी के हृदय में कभी ऐसी संकीर्णता के भाव उद्भूत नहीं हुए होंगे।

२१५

श्रीरघुबीर की यह बानि ।
नीचहू सो करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि ॥१॥
परम अधम निषाद पावर, कौन ताकी कानि ?
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहिचानि ॥२॥
गीध कौन दयालु, जो बिधि रच्यो हिंसा सानि ?
जनक ज्यों रघुनाथ ताबहँ दियो जल निज पानि ॥३॥
प्रकृति मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन-खानि ।
खात ताके दिये फल अति रुचि बखानि-बखानि ॥४॥
रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि ।
भरत-ज्यों उठि ताहि भेंटत देह-दसा भुलानि ॥५॥
कौन सुभग सुसील बानर जिनहिं सुमिरत हानि ।
किये ते सब सखा, पूजे भवन अपने आनि ॥६॥

राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिनदानि।
भजहि एसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि ॥७॥

भावार्थ—श्रीरघुनाथजी का स्वभाव ही ऐसा है, कि वे मन में विशुद्ध और अनन्य प्रेम समझकर नीच जनों के प्रति भी स्नेह करते हैं ॥१॥

गुह निषाद महान नीच और पापी था, उसकी क्या प्रतिष्ठा थी? किन्तु रघुनाथ जी ने उसका प्रेम पहचानकर उसे पुत्र की तरह छाती से लगा लिया ॥२॥

जटायु गीध जिसे ब्रह्मा ने हिंसामय ही रचा था, कौन-सा दयालु था? किन्तु रघुनाथजी ने, अपने पिता के समान, उसे अपने हाथ से जलांजलि दी ॥३॥

शबरी स्वभाव से ही मैली-कुचैली थी नीच जाति की थी और सभी अवगुणों की खानि थी, परन्तु (उसकी सच्ची प्रीति देखकर) उसके हाथ के फल आपने स्वाद बखान बखानकर बड़े प्रेम से खाये (सूरदासजी ने तो यहाँ तक लिखा है कि उसके जूठे बेर खाये, क्योंकि वह चख चखकर मीठे बेर देती थी, और खट्टे फेंक देती थी) ॥४॥

राक्षस एवं शत्रु विभीषण को शरण में आया देख, आपने उठकर उसे भरत के समान हृदय से लगा लिया, उस समय प्रेमाधिक्य के कारण अपने शरीर की सुध-बुध भी भूल गये ॥५॥

बन्दर कौन-से सुन्दर और शील-स्वभाववाले थे? जिनका नाम लेने से भी अनिष्ट होता है, उन्हें भी आपने अपना मित्र बना लिया। (इतना ही नहीं, वरन्) जब अपने घर पर, अयोध्या में, आये, तब उनका भारी आदर-सत्कार भी किया ॥६॥

श्रीरामचन्द्रजी प्रकृति से ही दयालु, कोमल स्वभाववाले गरीबों के हितू और सदा दान देनेवाले हैं। इसलिए, हे तुलसी! तू तो छल-कपट त्यागकर ऐसे ही स्वामी का भजन कर (निष्कपट भाव से, अनन्य प्रेम से सदा भजन किया कर) ॥७॥

शब्दार्थ—कानि=प्रतिष्ठा। पानि=हाथ। दिन=नित्य।

विशेष—(१) 'गीध'-श्रीरामचन्द्रजी ने जटायु के साथ वास्तव में पिता के जैसा ही बर्ताव किया था। गोद में घायल मरणासन्न जटायु को लेकर आप कहते हैं—

मेरे जान, तात! कछु दिन जीजै।
देखिय आप सुवन-सेवा-सुख, मोहिं पितु को सुख दीजै॥
दिव्य देह इच्छा जीवन जग बिधि मनाइ माँगि लीजै।
हरिहर-सुजस सुनाइ, दरस दै लोग कृतारथ कीजै॥
देखि बदन, सुनि बचन अमिय, तन रामनयन जल भीजै।
बोल्यो बिहग बिहँसि, 'रघुबर बलि कहौं सुभाय पतीजै॥
मेरे मरिबे-सम न चारि फल होंहिं तौ क्यों न कहीजै।'
तुलसी प्रभु दियो उतरु मौन ही परी मनु प्रेम सहीजै॥'

(२) जिनहिं सुमिरत हानि—स्वयं हनुमान कहते हैं—
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तादिन ताहि न मिलै अहारा॥

(३) दिनदानि'—महान् उदार। श्रीभगवद्गुणदर्पण में 'औदार्य' गुण का यह लक्षण मिलता है—

'पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात ।
वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यं वचसा हरे ॥'

(४) इस पद में गोसाईंजी ने रघुनाथजी के सौशील्य, सौलभ्य, पतित-पावनता, वात्सल्य गाम्भीर्य आदि सद्गुणों का वर्णन किया है ।

२१६

हरि तजि और भजिय काहि ?
नाहिनै कोउ राम सो, ममता प्रनत पर जाहि ॥१॥
कनककसिपु बिरंचि को जन करम, मन अरु बात ।
सुतहि दुखवत बिधि न बरज्यो, काल के घर जात ॥२॥
सम्भु सेवक जान जग बहु बार दिय दस सीस ।
करत राम बिरोध सो सपनेहु न हटक्यो ईस ॥३॥
और देवन की कहा कहौं, स्वारथहि के मीत ।
कबहुँ काहु न राखि लियो कोउ सरन गयउ सभीत ॥४॥
को न सेवत देत सम्पति, लोकहू यह रीति ।
दासतुलसी दीन पर इक राम ही की प्रीति ॥५॥

भावार्थ—भगवान श्रीहरि को छोड़कर और किसका भजन करें ? श्रीरघुनाथजी के समान ऐसा कोई भी नहीं, जिसकी दीन शरणागतों पर ममता हो, जिसने उन्हें प्रेम से अपनाया हो ॥१॥

(उदाहरण लीजिए) हिरण्यकशिपु ब्रह्मा का भक्त था । वह कर्म, मन और वचन से उनकी भक्ति करता था । किन्तु ब्रह्मा ने उसे पुत्र को ताड़ना देते हुए न रोका । (फल यह हुआ कि) वह यमलोक चला गया (और ब्रह्मा खड़े खड़े देखते रह गये ! यदि वे पहले से उसे मना कर देते, उसे उसका अपना हित सुझा देते तो क्या वह काल का ग्रास बनता ? यह तो हुई ब्रह्मा की करतूत अब शिवजी की देखिए) ॥२॥

सारा संसार जानता है कि रावण शिवजी का भक्त था, और उसने कई बार अपने सिर काट-काटकर उनको अर्पित किए थे, किन्तु जब उसने श्रीरघुनाथजी के साथ वैर बिसाहा, तब आपने उसे स्वप्न में भी न रोका (चुप बैठे बैठे देखते रहे और उसे यम-धाम भेजवा दिया ।) ॥३॥

(ब्रह्मा और शिव का जब यह हाल है, तब) और देवताओं के विषय में क्या कहा जाय ? वे तो मतलबी मित्र हैं ही । किसी ने भी भयभीत शरणागत की रक्षा नहीं की (जब स्वयं ही वे निर्भय नहीं हैं, तब दूसरों की क्या रक्षा करेंगे ? ऐसों की शरण में जाना बेकार है ।) ॥४॥

खुशामद करने से कौन धन-दौलत नहीं देता है ? यह दुनिया का चलन ही है (जो सेवा करेगा, वह मेवा पायेगा) । किन्तु हे तुलसीदास ! दीनों पर तो एक श्रीरघुनाथजी का ही स्नेह है ॥५॥

शब्दार्थ—कनककसिपु = हिरण्यकशिपु नामक दैत्य । जन = भक्त । बात =

वचन । बरज्यो = रोका । ईस = शिवजी ।

विशेष—(१) 'देवन मीत'—रामचरितमानस में भी कहा है—
'सुर नर मुनि सब ही की रीती । स्वारथ लागि करहिं मे प्रीती ॥'

(२) 'सरन गये सभीति'—'सभीत शब्द' का अर्थ मृत्यु के भय से डरे हुए जीव का है । मृत्यु भय से बचानेवाला भगवान् के अतिरिक्त और कोई भी नहीं ।

२१७

जो पै दूसरो कोउ होइ ।
तौ हौ वारहिं बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ ॥१॥
काहि ममता दीन पर, काको पतितपावन नाम ।
पापमूल अजामिलहि केहि दियो अपनो धाम ॥२॥
रहे संभु बिरंचि, सुरपति, लोकपाल अनेक ।
सोक सरि बूडत करीसहि दई काहु न टेक ॥३॥
विपुलभूपति सदसि महँ नर-नारि कह्यो 'प्रभु पाहि' ।
सकल समरथ रहे, काहु न वसन दीन्हो ताहि ॥४॥
एक मुख क्या कहौं करुनासिंधु के गुन गाथ ?
भगतहित धरि देह काह न किया कोसलनाथ ॥५॥
आपसे कहुँ सौंपिये मोहि जापै अतिहि घिनात ।
दासतुलसी और निधि क्यो चरन परिहरि जात ॥६॥

भावार्थ—हे नाथ ! यदि कोई दूसरा होता, तो मैं बार बार रोकर अपना दुःख आपको ही क्यों सुनाता ? (मैं उसी के आगे अपना रोना रोता, आपको कष्ट न देता । पर क्या करूँ, आपको छोड़कर ऐसा कोई है ही नहीं जो दीन जनों के कष्ट दूर करे) ॥१॥

(आपको छोड़कर) दीनों पर किसकी ममता है कौन गरीबों को अपनाता है ? पापियों का उद्धार करनेवाला नाम किसका है ? और महापापी अजामेल को (धोखे से अपने पुत्र नारायण का नाम लेने पर) किसने अपना परम धाम दिया ? (ऐसे तो एक आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं है) ॥२॥

शिव ब्रह्मा, इन्द्र आदि अनेक लोकपाल थे पर दुःखरूपी नदी में डूबते हुए गजेन्द्र को किसी ने भी सहारा न दिया (आप ही गरुड को छोड़कर पैदल दौड़े) ॥३॥

जब अनेक राजाओं की सभा में अर्जुन की पत्नी द्रौपदी ने (दुःशासन द्वारा लाज जाते समय) कहा कि हे नाथ ! मेरी रक्षा कीजिए तब सभी तो समर्थ थे, पर किसने उसे वस्त्र-दान दिया (सब लोग बैठे बैठे देखते ही रहे ?, किसी ने भी उस अबला की लाज न बचाई) ॥४॥

हे करुणासागर ! आपके चरित्रों की कथा एक मुँह से कैसे कह सकता हूँ ? (आपके अनन्त गुणों का वर्णन अनन्त मुखों से ही हो सकता है एक मुख से नहीं) हे कोशलाधीश ! आपने नर शरीर धारण करके भक्तों का क्या-क्या हित-साधन नहीं किया ? ॥५॥

यदि आप मुझसे बहुत ही घिनाते हैं, तो मुझे किसी एसे के हाथ सौंप दीजिए, जो आपके ही समान हो (पर, यह असम्भव है क्योंकि आपके समान तो संसार में कोई है ही नहीं)। तुलसीदास किस और नरह आपके चरणों को त्यागकर कहां जाने लगा। भाव यह है, कि मैं आपही के चरणों का शरण में रहूंगा ॥६॥

शब्दार्थ—*बिपुल = बहुत से। सदसि = सभा में। नर नारि = अर्जुन की पत्नी,* द्रौपदी। *पाहि = रक्षा करो। करीस = गजेन्द्र। गाथ = कथा।*

विशेष—(१) बिरन भूपति ताहि'—'श्रीकृष्णगीतावली' में द्रौपदी-वस्त्र-हरण का यह पद प्रसिद्ध है—

कहा भयो कपट जुआ जो हौं हारी ?
समरधीर महाबीर पाच पति, क्यों देहैं मोहि होन उघारी ॥
राजसमाज सभासद समरथ भीषम द्रोन धनुधरधारी।
अबला अनघ अनवसर अनुचित होति हरि करिहैं रखवारी ॥
यो मन गुनति दुसासन दुरजन तमक्यो तकि गहि दुहुँ कर सारी।
सकुचि गात गोवति कमठी ज्यो हहरी हृदय, बिकल भई भारी ॥
अपनेनि को अपना बिलोकि बल सकल आस बिस्वास बिसारी।
हाथ उठाइ अनाथ नाथ सा पाहि पाहि प्रभु पाहि ? पुकारी ॥
तुलसी परखि प्रतीति प्रीतिगति, आरतपाल कृपालु मुरारी।
बसन बेष राखी बिसेखि लखि बिरदावलि मूरति नर नारी ॥'

(२) जाप घतिहि घिनात—घिन क्यो लगती ? घिन तो तब नहीं लगी जब गुह निषाद को हृदय से लगा लिया। रुधिर से सने हुए जटायु को गोद में बठा लिया, तब भी घिन नहीं लगी। शबरी के जूठे बेर खाते समय भी घिन नहीं लगी। तब तुलसी *नाम को ही देखकर क्या घिन लगती ? दास-दूत का तो कोई और ही कारण होगा, जिसे* स्वामी श्रीराम ही जानते होंगे।

२१८।

कबहिं देखाइहौ हरि चरन ?
समन सकल कलेस कलिमल सकल मंगल करन ॥१॥
सरद भव सुन्दर तरुनतर अरुन बारिज बरन।
लच्छि लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन ॥२॥
गंग-जनक, अनंग अरि-प्रिय, कपट बटु बलि छरन।
बिप्रतिय नृग बधिक के दुख-दोष दारुन दरन ॥३॥
सिद्ध सुर मुनि बृन्द-बंदित सुखद सब कहँ सरन।
सकृत उर आनत जिनहिं जन होत तारन तरन ॥४॥
कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत आरति हरन।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन ॥५॥

भावार्थ—हे हरे ! क्या कभी आप मुझे उन चरणों का दर्शन करायेंगे जो समस्त

दु खों और कलि के समस्त पापा का नाश करनेवाले और सवकल्याण के कारण है ॥१॥

जिनका रग शरद् ऋतु में उत्पन्न, सु दर और ताजे लाल-लाल कमलों के समान है, जिन्हें लक्ष्मी अपनी सु दर हथेलिया से दबाया करती ह, और जो अनुपम लावण्यमय ह ॥२॥

जो गगा के पिता ह, (अर्थात् जिन चरणा से गगा की उत्पत्ति हुई ह), जो कामदेव को भस्म करनेवाले शिवजी के प्यारे ह, तथा जिन्हाने कपट-ब्रह्मचारी का रूप धारणकर राजा बलि को छला ह। जिन्हाने (गौतम) ब्राह्मण की पत्नी अहल्या को शाप विमुक्त कर दिया, राजा नृग को दिव्य देह प्रदान की और हिंसक निषाद (अथवा वाल्मीकि) के सारे दु ख और घोर पापा को दूर कर दिया ॥३॥

सिद्ध, देवता और मुनिया के समूह जिनकी सदा व दना किया करते हैं, जो सभी को सुख और शरण देनेवाले हैं, और एक वार भी जिनका हृदय में ध्यान करने से जीव स्वय तर जाता ह तथा दूसरा को भी तार देता है ॥४॥

हे कृपासागर सुचतुर रघुनाथजी ! आप शरणागता के दु ख दूर करनेवाले हैं। यह तुलसीदास आपके उन चरणो के दशन की आशारूपी प्यास के मारे मरनेवाला ही ह। (अब आप शाघ्र ही अपने चरण-कमल दिखाकर इसकी रक्षा कीजिए) ॥५॥

शब्दाथ—तम्नतर=अत्यन्त नवीन। लच्छि=(लक्ष्मी)। लालित = प्यार किये गय। जनक = पिता, उत्पत्तिकर्त्ता। अनग अरि = कामदेव के शत्रु शिवजी। बटु = ब्रह्मचारी। छरन=छलनेवाले। दरन – दलनेवाले नाशकर्त्ता। सकृत=एक बार।

विशेष—(१) २१७ पद क अन्तिम चरण 'तथा चरन परिहरि जात' और इस पद के 'कबहि देखाइहौ हरि, चरन' में सिंहावलोकन सम्बन्ध ह। यहाँ गोसाइजी प्रेमाधीर होकर चरणा का अविलम्ब दशन करना चाहते हैं।

(२) 'लच्छि करतल'—इस पक्ति में स्वाभाविक सु दर अनुप्रास की छटा के साथ-साथ भाव भी अति कामल और मनोहर अभिव्यक्त हुआ ह।

(३) गोसाइजी की श्रीरामचरणारविन्दा के प्रति कैसी सुदृढ भक्ति भावना थी यह इस पद से भलीभाँति प्रकट होता ह।

२१९

द्वार हौं भोर ही को आजु।
रटत रिरिहा आरि और न, कौर ही तें काजु ॥१॥
कलि कराल दुकाल दारुन, सव कुभाति कुसाजु।
नीच जन, मन ऊँच, जैसी कोढ मे की खाजु ॥२॥
हहरि हिय मे सदय बूझ्यो जाइ साधु समाजु।
मोहु से कहुँ कतहुँ कोउ, तिन्ह कह्यो, कोसलराजु ॥४॥
दीनता दारिद दलै को कृपा-वारिधि वाजु।
दानि दसरथराय के, तुम बानइत सिरताजु ॥८॥

जनम को भूखो भिखारी हौं गरीब निवाजु ।
पेट भरि तुलसिहि जेवाइय भगति-सुधा सुनाजु ॥५॥

भावार्थ—हे प्रभो ! आज मैं सवेरे से ही आपके द्वार पर अड़कर बैठा हूँ । रें रें करके रट रहा हूँ । गिड़गिड़ाकर माँग रहा हूँ । मुझे और किसी वस्तु के लिए हठ नहीं है । एक कौर टुकड़े से ही मेरा काम बन जायगा । जरा-सी कृपादृष्टि कर देने से ही मेरी बिगड़ी करनी सुधर जायगी ॥१॥

(यदि आप यह कहें कि तू कोई उद्यम क्यों नहीं करता ? तो इसका जवाब यही है, कि) इस भयंकर कलियुग में बड़ा ही विकराल दुर्भिक्ष पड़ गया है जितने उद्यम या उपाय हैं, सभी बुरे हैं । इस युग में धर्म-कर्म कुछ भी निर्विघ्न पूरा नहीं हो पाता, इसलिए आपसे भीख माँगना ही मैंने उचित समझा है । हैं तो (कलियुगी) मनुष्य नीचकर्मा, पर मन है उनका ऊँची वस्तु पाने का ! यह तो वही बात हुई, जैसे कोढ़ में खाज हो जाय ॥२॥

(जो-जो पाप कर चुका था, उनके फल भोगने का दुःख तो बिलकुल ही भूल गया, और नये-नये विषयों के क्षणिक सुखों में मग्न हो गया इसका भी कुछ खयाल नहीं रहा, कि इस 'कोढ़ में खाज' से होनेवाला परिणामस्वरूप दुःख अभी और क्या-क्या भोगना पड़ेगा । जब मैं इन कष्टों से व्याकुल हो गया, तब) घबराकर कृपालु संत समाज से पूछा कि कहिए मुझ सरीखे पापी को भी कोई शरण में लेनेवाला है ? सन्तों ने तब यही उत्तर दिया, कि एक कोशलेन्द्र महाराजा रामचन्द्रजी ही ऐसे हैं, जो तुझे अपनी शरण में ले सकते हैं ॥३॥

कृपासिन्धु रघुनाथजी को छोड़कर और कौन दीनता और दरिद्रता को दूर कर सकता है ? महाराजा दशरथ के पुत्र राम राजा ही (सच्चे) दानी हैं, तथा दानियों का बाना रखनेवालों में श्रेष्ठ हैं ॥४॥

(संत समाज के मुख से श्रीरामजी का यश इस भाँति सुनकर) मैं आजन्म का भूखा, भिखमंगा आपके द्वार पर आया हूँ । आप गरीबों को निहाल कर देनेवाले हैं । बस अब इस तुलसी को भक्तिरूपी अमृत के समान सुन्दर भोजन पेटभर खिला दीजिए (अपने चरणों में इतनी अधिक भक्ति दे दीजिए कि फिर मुझे कभी सांसारिक भोगों की ओर न दौड़ना पड़े) ॥५॥

शब्दार्थ—रिरिहा=रें रें करके या गिड़गिड़ाकर माँगनेवाला । अरि=अड़, हठ । हहरि=डरकर । बाजु=छोड़कर, सिवाय ।

विशेष—(१) 'भोर'—जीव के चैतन्य होने की मंगल बेला, विषय विरक्ति के प्रादुर्भाव का समय, जो 'भोर' ही से सावधान हो गया वही वस्तुतः सचेत है—

'पाव पलक की सुधि नहीं करै काल्ह का साज !
काल अचानक मारसी, ज्यों तीतर को बाज ॥

[कबीर

(२) 'कलि कराल कुसाज'—पूर्णरूपक इस प्रकार कि, कलि=अवृष्टि धर्म ~धेन सत्कर्म=कृषि अधर्म=दुर्भिक्ष अश्रद्धा=उद्यम का अभाव ।

(३) कृपा-वारिधि बाजु'—श्रीवजनाथजी का अनुसरण करते हुए श्रीभट्टजी ने इसका यह अर्थ किया है—

'वे गरीबी और दरिद्रता (रूपी पक्षियों) के नाश करने को बाजरूप हैं (जो कहो कि बाज तो निर्दयी होता है, सो नहीं) वे दया के समुद्र हैं, अर्थात जीव मात्र पर दया करते हैं)।

फिर भी 'बाजु' का स्वाभाविक तात्पर्य सिद्ध नहीं हुआ। 'बाजु' का अर्थ बाज चिड़िया नहीं, किन्तु 'छोड़कर, बिना' यह है।

२२०

करिय सँभार, कोसलराय।
और ठौर न और गति, अवलम्ब नाम बिहाय ॥१॥
बूझि अपनी, आपना हितु, आप बाप न माय।
राम! राउर नाम गुर सुर, स्वामि, सखा, सहाय ॥२॥
रामराज न चले मानस मलिन के छल छाय।
कोप तेहि कलिकाल कायर मुएहि घालत घाय ॥३॥
लेत केहरि को बयर ज्यो भेक हनि गोमाय।
त्योहि राम गुलाम जानि निकाम देत कुदाय ॥४॥
अकनि याके कपट-करतब अमित अनय अपाय।
सुखी हरिपुर बसत होत परीछितहि पछिताय ॥५॥
कृपासिन्धु! बिलोकिये जन मन की सासति साय।
सरन आयो देव! दीनदयालु! देखन पाय ॥६॥
निकट बोलि न बरजिये, बलि जाउँ, हनिय न हाय।
देखिहैं हनुमान गोमुख-नाहरनि के न्याय ॥७॥
अरुन मुख, भ्रू बिकट, पिंगल नयन रोष कषाय।
बीर सुमिरि समीर को घटिहै चपल चित चाय ॥८॥
विनय सुनि बिहँसे अनुज सो बचन के कहि भाय।
'भली कही' कह्यो लपन हूँ हँसि, बने सकल बनाय ॥९॥
दई दीनहि दादि सो सुनि सुजन-सदन बधाय।
मिटे सकट-सोच पाच प्रपच पाप निकाय ॥१०॥
पेखि प्रीति प्रतीति जन पर अगुन अनघ अमाय।
दासतुलसी कहत मुनिगन, जयति जय उरगाय' ॥११

भावार्थ—हे कोशलेन्द्र! मेरी रक्षा कीजिए। आपके नाम को छोड़कर मुझे न तो कहीं और ठौर ठिकाना है, और न किसी का सहारा ही (मेरी तो आपके नाम तक ही दौड़ है, सो आप नाम के नाते से मुझे बचा लीजिए ॥१॥

आप स्वय समझ बूझकर अपने सेवका का ऐसा कल्याण कर देते हैं, जैसा (सगे) माता पिता भी नही करते। (क्योंकि माता पिता मोक्ष का परमानन्द नही दे सकते।) हे रघुनाथजी! आपका नाम ही मेरे लिए गुरु देवता, स्वामी मित्र और बल है। (आपका नाम मेरे लिए जीवन सर्वस्व है) ॥२॥

हे नाथ! आपके 'रामराज्य' में मलिन मनवाले कलिकाल के कपट की छाया भी नही पड सकती। किन्तु यह कायर कलिकाल उसी क्रोध के कारण मुझ मरे हुए को भी अपनी चोटो से घायल कर रहा है। (एक तो यो ही मैं अपने दुष्कर्मों के मारे मर रहा हूँ, दूसरे यह दुष्ट विषय-वासनारूपी आघातो से मुझे असह्य पीडा दे रहा है। इसे इतना भी तो भय नही कि मैं 'राम राज्य' में बस रहा हूँ) ॥३॥

जसे गीदड मेढक को मारकर शेर के वर का बदला चुकाता है वैसा ही यह मेरे साथ बर्ताव कर रहा है अर्थात जब इसकी दाल आपके सामने न गली तब आपके छोटे-छोटे दासो को यह सताने लगा! ॥४॥

यद्यपि महाराजा परीक्षित आनन्दपूर्वक भगवान के परमधाम वैकुण्ठ में वास कर रहे हैं, पर इसके कपट भरे काम, अनीति और अनेक विघ्न-बाधाएँ सुनकर उन्हें भी पछतावा हो रहा है (इसलिए पछतावा हो रहा है कि इसे पकडकर हमने क्यो जीवित छोड दिया?) ॥५॥

हे कृपासागर! तनिक कृपादृष्टि तो कीजिए जिससे इस दास के चित्त की पीडा शान्त हो जाय। हे दीनदयालो! हे देव! मैं आपके चरणो का दर्शन करने के लिए आपकी शरण आया हूँ ॥६॥

यदि आप (दयावश) उसे (कलियुग को) पास बुलाकर रोकना नहीं चाहते या उसकी हाय हाय की पुकार सुनकर उसे मारना नही चाहते तो हनुमान्‌जी को ही थोडा सा सकेत कर दीजिए। वे इसकी ओर वसे ही ताकेंगे जसे सिंह गाय के मुख की ओर घूरता है ॥७॥

जब हनुमान्‌जी लाल मुँह, टेढी भौंहें और पीली आँखों को क्रोध से लाल कर लेंगे तब पवन कुमार वीर हनुमान् का स्मरणकर इस चचल चित्तवाले कलि का सारा चाव चला जायगा (अपना सारा पौरुष भूल जायगा ॥८॥

मेरी यह विनय सुनकर श्रीरघुनाथजी मुस्कराये और अपने अनुज लक्ष्मण को इन बातों का आशय समझाया (कि, देखो, तुलसी कैसा चतुर है! कैसी-कैसी बात बना रहा है!)। लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा कि यह ठीक तो कहता है।' बस अब मेरी सारी बात बन गई (क्योंकि वहाँ सिफारिश भी पहुँच चुकी है, और सिफारिश भी किसकी, सगे छोटे भाई की) ॥९॥

भगवान् रामचन्द्रजी ने इस गरीब का न्याय कर दिया। (कलियुग को डाँट डपट कर सामने से हटा दिया और अपने भक्त को अपनी शरण में रख लिया) यह सुनकर सन्तों के घर बधाई बजने लगी (कलि की बाधाओं से छूटकर सब आनन्द उत्सव मनाने लगे)। दुख चिन्ता छल-कपट और पाप-पुज सारे नष्ट हो गये ॥१०॥

गुणातीत (मायात्मक तीन गुणो से परे) पवित्र और निष्कपट प्रेम एव विश्वास अपने सेवक पर देखकर हे तुलसीदास! मुनि लोग कहने लगे— उदार कीर्तिवाले

भगवान् की जय हो, जय हो ॥११॥

शब्दार्थ—सँभार = रक्षा । बिहाय = छोडकर । भेक = मेढक । गोमाय = गीदड । कुदाय = कुघात । साय = शान्त हो । अकनि = सुनकर । अपाय = विघ्न । पिंगल = पीला । कषाय = लाल । दादि = इन्साफ । अमाय = निष्कपट । उरगाय = विष्णु भगवान् का एक नाम ।

विशेष—(१) 'बाप माय'

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्व मम देवदेव ॥

(२) 'परीक्षित'—एक दिन महाराजा परीक्षित शिकार खेलते खेलते एक ऐसे जंगल में जा पहुँचे, जहाँ एक कृष्णकाय पुरुष एक गाय और एक लँगड़े बैल को मारता हुआ खदेड रहा था। पूछने पर पता चला कि गाय पृथिवी है लँगडा बैल धर्म है और काला पुरुष है कलियुग । राजा ने ज्यों ही कलि को मारने के लिए तलवार म्यान से खींची वह गिडगिडाकर उनके पैरों पर गिर पडा । शरणागत जानकर उसे राजा ने छोड दिया । पर उसने अपने रहने के लिए राजा से १४ स्थान माँग लिये, जिनमें एक सुवर्ण भी था । राजा जब फिर लौट रहे थे प्यास के मारे व्याकुल एक ध्यानावस्थित ऋषि के पास पहुँचे । जब ऋषि ने कुछ उत्तर न दिया तब राजा उन्हें पाखण्डी समझकर उसके गले में एक मरा हुआ साँप डालकर चले गये । मुनि के पुत्र ने जब यह सुना तो उसने यह शाप दिया कि वह मदान्ध राजा साँप के डसने से सातवें दिन मर जाय । उस दिन राजा परीक्षित सिर पर सोने का मुकुट धारण किए हुए थे, और सोने में था कलि का वास । इसी से उनकी बुद्धि मारी गई । श्रीमद्भागवत का सप्ताह पारायण सुनकर महाराजा सातवें दिन स्वर्गस्थ हो गये । यह कथा श्रीमद्भागवत पुराण में आती है ।

(३) 'उरगाय'—इसका 'उर गाय' पाठ मानकर श्रीबैजनाथजी तथा कुछ टीकाकारों ने यह अर्थ किया है कि 'हृदय में राम के गुण गाकर' किन्तु 'उरगाय' पाठ ही ठीक है न कि 'उर गाय' । 'उरगाय' अर्थात विष्णु भगवान की जय हो जय हो'—ऐसा मुनिजन कह रहे हैं । उरगाय पाठ नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली की विनयपत्रिका में पाया जाता है । यही पाठ शुद्ध है ।

(४) 'विनय सुनि'—यहाँ से लेकर पद के अन्त तक गोसाइजी ने अपने मनो राज्य का बडा ही सुन्दर चित्रण किया है और उसमें रहस्यमय विवरण भी । ऊँचे पाण्डित्य एवं काव्यकला की अभिव्यक्ति भी अनुपम हुई है ।

२२१

नाथ ! कृपा ही को पथ चितवत दीन हौं दिनराति ।
होइ धौं केहि काल दीनदयालु ! जानि न जाति ॥१॥
सुगुन, ग्यान बिराग भगति सुसाधननि की पाँति ।
भजे बिकल बिलोकि कलि अघ अवगुननि की थाति ॥२॥
अति अनीति-कुरीति भइ भुइँ तरनि हूँ ते ताति ।
जाउँ कहँ ? बलि जाउँ, कहूँ न ठाउँ, मति अकुलाति ॥३॥

आप सहित न आपनो कोउ, बाप ! कठिन कुभाति।
स्यामघन ! सींचिये तुलसी, सालि सफल सुखाति ॥४॥

भावार्थ—हे नाथ ! म दीन दिनरात आपकी कृपा की ही बाट जोहता रहता हूँ (यही टक लगाये बठा रहता हूँ कि कब इस दीन पर आप कृपा कर दें) हे दीन दयालो ! पता नही कि किस घडी आपकी वह कृपा-दृष्टि मुझ पर होगी ॥१॥

सदगुण ज्ञान वराग्य और भक्ति तथा अच्छे-अच्छे साधनो के समूह कलि को देखते ही व्याकुल हो भाग गय । रह गये पापो और दुगुणो क समूह ॥२॥

बड-बडे अन्यायो और अनाचारो से पृथिवी सूय से भी अधिक तप्त हो गई ह । (एही अगार के समान पृथिवी पर कोई कसे रह सकता ह ?) अब म कहा जाऊँ ? आपकी बलया ले रहा हूँ मुझे रहने का कही ठौर ठिकाना नही रहा । बुद्धि बडी व्याकुल हो रही ह (कही भागते भी नही बनता कि इस पापपूण पृथिवी की असह्य ज्वाला से बच सकू) ॥३॥

हे पिता ! जब अपनी दह ही अपनी नही ह तब दूसरे क्या अपने होगे ? (साराश, अपना सगा-सम्बधी यहा कोई भी नही ह ।) सब कठोर दुराचारी ही दिखाई देते ह । (न तो किसी में दया ह और न सदाचार ही) । हे घनश्याम ! तुलसी रूपी फूली-फली धान की खेती सूखी जा रही ह अब भी मघ बनकर (भक्ति जल से) उस सींच दीजिए ॥४॥

शब्दार्थ—थाति = धरोहर । भुइ = भूमि । तरनि = सूय । सालि = धान । सफल = फला हुआ ।

विशेष—(१) पथ चितवन —

आँखडियाँ झाई परीं, पथ निहारि निहारि ।
जीहडियाँ छाला परा, नाम पुकारि-पुकारि ॥
बहुत दिनन को जोवती रटत तुम्हारो नाम ।
जिउ तरस तुव मिलन को मन नाहीं विश्राम ॥

(२) जाउँ कहँ अकुलाति —भक्तवर ललितकिशोरीजी भी दुनिया स ऊब कर ऐसा ही कह गय ह—

'वृन्दाबन अब रमते हैं दिल दुनिया से घबराया है।
मानुष-गन्ध न भाती है, सग मरकट मोर सुहाना है ॥

२२२

कहाँ जाउँ, और कासों कहौं ?
सदगुनसिंधु स्वामि सेवक हित कहुँ न कृपानिधि-सो लहौं ॥१॥
जहँ-जहँ लोभ लोल लालचबस निजहित चित चाहनि चहौं ।
तहँ-तहँ तरनि तकत उलूक ज्यों भटकि कुतरु-कोटर गहौं ॥२॥
काल-सुभाव-करम विचित्र फलदायक सुनि सिर धुनि रहौं ।
मोको तौ सकल सदा एकहि रस दुसह दाह दारुन दहौं ॥३॥

उचित अनाथ होइ दुखभाजन, भयो नाथ ! किंकर न हौं ।
अब रावरो कहाइ न बूझिये, सरनपाल ! साँसति सहौं ॥४॥
महाराज ! राजीवविलोचन ! मगन पाप संताप हौं ।
तुलसी प्रभु जब-तब जेहि-तेहि बिधि राम निबाहे निरबहौं ॥५॥

भावार्थ—बलिहारी ! और किसे जाकर सुनाऊँ ? (अपना रोना और किसके आगे रोऊँ ?) आपके समान सद्गुणों का समुद्र सेवकों की भलाई करनेवाला और कृपानिधान स्वामी अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलने का (जो आपके समान ही कोई दूसरा मालिक मिल जाता, तो मैं उसी को अपनी सारी व्यथा कथा सुना देता, आपको कष्ट न देता, पर ऐसा कोई मिलता ही नहीं।) ॥१॥

जहाँ-जहाँ लोभ और लालच से चंचल चित्त में अपने कल्याण की कामना करता हूँ, वहाँ-वहाँ से मैं इस तरह निराश होकर लौट आता हूँ जैसे सूर्य को देखते ही उल्लू भटकता हुआ पेड़ के खोडर में घुस जाता है ॥२॥

जब यह सुनता हूँ कि काल, स्वभाव और कर्म विचित्र फल देनेवाले हैं, तब सिर पटक-पटककर रह जाता हूँ (कुछ उद्यम करने का साहस नहीं होता। इसलिए, कि कहीं कुछ-का कुछ फल न भोगना पड़े, क्योंकि कर्मों की गति बड़ी विचित्र है)। मैं तो सदा एक-सी ही असहनीय और दारुण दाह से जला करता हूँ। (काल, स्वभाव और कर्म कभी मेरे अनुकूल नहीं हुए सदा प्रतिकूल ही रहे हैं) ॥३॥

मैं दुःखों का पात्र रहा सो ठीक ही है क्योंकि हे नाथ ! मैं अनाथ था मेरा कोई धनी धोरी नहीं था और न मैं आपका सेवक ही बना था, किन्तु हे शरणागत रक्षक ! अब आपका कहाकर भी मैं, न जाने क्या दुःख भोग रहा हूँ, यह समझ में नहीं आ रहा ॥४॥

हे महाराज ! हे कमलनेत्र ! मैं पाप-सन्ताप में डूब रहा हूँ। हे नाथ ! तुलसीदास का तो तभी निर्वाह हो सकता है, जब आप जैसे तैसे उसका निबाह करेंगे ॥५॥

शब्दार्थ—लाल=चंचल। तरनि=सूर्य। कोटर=पेड़ की पोल। साँसति=कष्ट।

विशेष—(१) तह-तहँ कोटर गहौं—इसका यह भी अर्थ हो सकता है—'मैं संसाररूपी वृक्ष में रहनेवाला हूँ। अनीति रात्रि में घूमता फिरता हूँ। सत्संगवश कभी बाहर भी निकलता हूँ तो ज्ञानरूपी प्रचण्ड सूर्य के सामने नहीं जा सकता। चकाचौंध लगने से फिर अपने उसी विषय-वासना के कोटर में आ घुसता हूँ।"

२२३

आपनो कबहुँ करि जानिहौ ।
राम गरीबनिवाज राज-मनि, बिरद लाज उर आनिहौ ॥१॥
सील सिंधु सुन्दर सबलायक, समरथ सद्गुन-खानि हौ ।
पाल्यो है, पालत, पालहुगे, प्रभु प्रनत प्रेम पहिचानिहौ ॥२॥

२२५

भरोसो और आइहै उर ताके।
कै कहुँ लहै जो रामहिं सो साहिब, कै आपना बल जाके ॥१॥
कै कलिकाल कराल न सूझत, मोह मार मद छाके।
कै सुनि स्वामि सुभाउ न रह्यो चित जो हित सब अँग थाके ॥२॥
हौं जानत भलिभाँति अपनपौ, प्रभु सो सुन्यो न साके।
उपल, भील, खग, मृग, रजनीचर, भले भये करतब ताके ॥३॥
मोको भलो रामनाम सुरतरु सो, रामप्रसाद कृपालु कृपा के।
तुलसी सुखी निसोच राज, ज्यों बालक माय बबा के ॥४॥

भावार्थ—उसी व्यक्ति के मन में किसी दूसरे का बल भरोसा होगा जिसे या तो कहीं श्रीरामचन्द्रजी के समान कोई मालिक मिल गया हो या जिसे अपने स्वयं के पुरुषार्थ का बल हो (मुझे न तो कोई वैसा मालिक मिला है जो श्रीरघुनाथजी के समान समर्थ हो और न अपने खुद के पुरुषार्थ पर रत्ती भर भरोसा है। इसलिए मेरी दौड़ तो एक रामजी तक ही है) ॥१॥

अथवा जिसे अज्ञान काम और अहंकार में मतवाला हो जाने के कारण भीषण कलिकाल न सूझता हो (क्योंकि मदान्धों को सामने उपस्थित मृत्यु भी नहीं दिखाई देती है। मुझ पर मोह आदि मादक पदार्थों की इतनी कृपा है कि उन्होंने अन्धा नहीं किया कलिकाल मुझे सूझ रहा है और उसके विकराल भय से डरकर मैं भगवान् की शरण ले चुका हूँ), अथवा जिसके चित्त पर सब प्रकार से थके हुए लोगों के हितकारी प्रभु रामचन्द्रजी का स्वभाव सुनने पर भी ठीक ठीक न जमा हो (भगवान की पतित-पावनता, जन-वत्सलता आदि गुण जिसके हृदय-पटल पर अंकित न हुए हों, किन्तु भगवत्कृपा से मेरे सम्बन्ध में यह बात भी नहीं कही जा सकती।) मुझे तो सदा ही अपने दीनदयालु स्वामी के स्वभाव का ध्यान बना रहता है ॥२॥

मैं अपना पुरुषार्थ अपना बल भलीभाँति जानता हूँ (यह मुझे अच्छी प्रकार ज्ञात है कि मैं अपने परिमित पुरुषार्थ से अपरिमित हरि भक्ति प्राप्ति नहीं कर सकता हूँ)। और मैंने श्री रघुनाथजी के अतिरिक्त और किसी स्वामी की ऐसी कीर्ति-गाथा भी नहीं सुनी है (जो इस प्रकार महापापियों का उद्धार करता हो) पाषाणी (अहल्या) भील पक्षी (जटायु) मृग (मारीच) और राक्षस (विभीषण) इन सबों में से किसने शुभकर्म किये थे? (ये सभी घोर पापी थे, किन्तु भगवान ने इन सबका उद्धार कर दिया) ॥३॥

मेरे तो एक रामनाम ही कल्पवृक्ष के समान सुख देनेवाला बन गया है और यह कृपालु रामचन्द्रजी की कृपा से हुआ। (इसमें भी मेरा कोई पुरुषार्थ नहीं, कि राम नाम पर कल्पवृक्ष के समान मेरी श्रद्धा भक्ति हो गई है। यह भी भगवत्कृपा से ही बना है)। अब तुलसी इस अनुग्रह के कारण ऐसा सुखी और निश्चिन्त है जैसे कोई बालक अपने माता पिता के राज्य में होता है ॥४॥

शब्दार्थ—सब अंग=सब प्रकार से। साका=यश कीर्ति। उपल=पत्थर

यहाँ अहल्या से तात्पर्य है। निसाच = निशिचर। बबा = बाप।

विनोय—(१) इस पद में गोसाइँजी ने स्पष्टतया जीव की पौरुषहीनता और भगवदनुग्रह का प्राधान्य प्रतिपादित किया है। इस 'पौरुषहीनता' में निराशावाद अथवा कायरता का लेशमात्र भी नहीं है, प्रत्युत आशावाद और वीरता की ही झलक दीखती है।

(२) 'मृग' मारीच—यह रावण का मामा था। रावण की आज्ञा से मारीच माया-मृग बनकर पंचवटी में पहुँचा। वहाँ इसका अत्यन्त मनोहर रूप देखकर सीताजी ने इसका स्वर्णोपम चर्म लाने के लिए श्रीरामचन्द्रजी से कहा। जब इसे मारने के लिए रामचन्द्रजी गये, और बाद में इसके मरण समय का आर्त्तनाद सुनकर सीताजी ने लक्ष्मण को भी वहीं आग्रहपूर्वक भेज दिया, तब अवसर पाकर रावण आश्रम में पहुँचा और सीताजी को रथ पर बिठाकर लंका ले गया। मारीच श्रीराम का भक्त था, किन्तु रावण की प्रेरणा से उसे यह माया रचनी पड़ी। मायामृग के प्रसंग का गीतावली में निम्न लिखित पद बड़ा ही भावमय है

बैठे हैं राम, लखन अरु सीता।
पंचवटी बर परनकुटी तर, कहैं कछु कथा पुनीता॥
कपट-कुरंग कनक मनिमय लखि प्रिय सों कहति हँसि बाला।
पाये पालिबेजोग मंजु मृग, मारेहु मंजुल छाला॥
प्रिया-बचन सुनि बिहँसि प्रेमबस गवहिं चाप सर लीन्हें।
चल्यो भाजि फिरि फिरि चितवत मुनि मख रखवारे चीन्हे॥
सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बस तुलसी उर आछे॥

२२६)

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥१॥
करम, उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो।
मोहिं तो 'सावन के अंधहिं' ज्यों सूझत रंग हरो॥२॥
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परसि धरो॥३॥
स्वारथ औ परमारथ हू को 'नहिं कुंजरो नरो।'
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि-कटक तरो॥४॥
प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर, हौं सिसु अरनि अरो॥५॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम-नामहिं तें तुलसिहिं समुझि परो॥६॥

भावार्थ—जिसे किसी दूसरे का भरोसा हो, सो (और साधन) करे। मेरे लिए

तो इस कलयुग में कल्याणरूपी फलो से फला एक राम नाम ही कल्पवृक्ष है। तात्पर्य यह कि मुझे तो राम नाम-द्वारा ही भगवद्भक्ति प्राप्त हुई है। किसी को यदि किसी अन्य साधन का भरोसा हो, तो वह भले ही उसे साधे ॥१॥

कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड एवं वैदिक सिद्धान्त ये सभी सब प्रकार से सच्चे हैं, पर मुझे तो सावन के अंधे की भाँति जहाँ भी देखता हूँ हरा ही हरा रंग दीखता है। भाव यह है कि जैसे यदि कोई सावन में हरी-हरी घास देखता हुआ अन्धा हो जाय, तो उसे सदा हरियाली का ही भास रहेगा। उसी प्रकार मुझे सदा सर्वत्र श्रीराम-नाम ही सूझ रहा है। ज्ञान, कर्म आदि मेरे ध्यान में ही नहीं आ रहे, यद्यपि वे भी सच्चे हैं ॥२॥

मैं कुत्ते की नाईं अनेक जूठी पत्तलों को चाटता फिरा, पर कभी पेट नहीं भरा। आज मैं नाम-स्मरण करते ही अमृतरस परोसा हुआ देखता हूँ। भाव यह है कि मैंने अनेक साधन साधे, पर किसी से भी परमानन्द की प्राप्ति नहीं हुई। अब राम-नाम के प्रभाव से मुझे ब्रह्मानन्द रस-पान करने को मिल गया है ॥३॥

मेरे लिए राम नाम स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों का ही साधक है। यह बात 'कुंजर है अथवा नर' की-सी दुविधा भरी नहीं है (क्योंकि मुझे तो प्रत्यक्ष प्राप्त है)। सुना है, कि राम-नाम के प्रभाव से वानरों की सेना पत्थरों का पुल बनाकर समुद्र को पार कर गई थी ॥४॥

जहाँ जिसका प्रेम और विश्वास है, वहीं उसका काम पूरा हुआ है (यह अमिट सिद्धान्त है)। मेरे माँ-बाप तो ये दोनों अक्षर 'र' और 'म'—हैं। इन्हीं के आगे मैं बाल-हठ में अड़ रहा हूँ, मचल रहा हूँ (जो भी माँगूँगा, ये दोनों अक्षर मुझे वही देंगे, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं) ॥५॥

यदि मैं कुछ भी छिपाकर कहता होऊँ तो भगवान् शिव साक्षी हैं मेरी जीभ गलकर गिर जाय। अर्थात् मैंने यहाँ कोई 'कवि-कल्पना' से काम नहीं लिया सच सच सुनाया है। बस तुलसीदास ने तो अपना कल्याण एक रामनाम में ही समझा है ॥६॥

शब्दार्थ—फरो=फला है। पातरि=पत्तल। परुसि = परोसा हुआ। नहिं कुंजरो नरो = नरो वा कुंजरो वा अर्थात् हाथी है या मनुष्य, ऐसी कोई दुविधा इसमें नहीं। सरो=पूरा हुआ। आखर = अक्षर। अरनि = हठ। अरो = अड़ गया हूँ,जिद पकड़ बैठा हूँ।

विशेष—(१) नहिं कुंजरो नरो —कुरुक्षेत्र में जब द्रोणाचार्य, कौरवों का पक्ष लेकर पांडवों की सेना का अंधाधुंध संहार करने लगे, तब कृष्ण भगवान् ने अर्जुन से कहा कि अब द्रोणाचार्य का वध करना ही उचित होगा। गुरु-हत्या करने से अर्जुन कुछ हिचका। जब यह न हो सका तब श्रीकृष्ण की सलाह से भीमसेन ने अश्वत्थामा नामक एक हाथी को मार गिराया। अश्वत्थामा द्रोणाचार्य के पुत्र का भी नाम था और वह उन्हें बड़ा प्यारा था। यह सुनते ही द्रोणाचार्य ने धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा कि कौन अश्वत्थामा मारा गया है? धर्मराज ने दबी जबान से कहा—'अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुंजरो वा' अर्थात् अश्वत्थामा नर मारा गया या हाथी। 'नर मारा गया' तो जोर से कह दिया और 'कुंजर' यह धीरे से। नीति का पालन करते हुए धर्मराज ने सत्य की रक्षा करनी चाही पर यह न हो सका। राजनीति और धर्म में भारी अन्तर है। असत्य बोलने का कलंक धर्मराज पर लग ही गया। पुत्र का मरण सुनकर ज्योंही द्रोणाचार्य मूर्च्छित-से

हुए, त्योंही धृष्टद्युम्न ने उनका मस्तक काट लिया । तभी से 'नरो वा कुंजरो वा' यह लोकोक्ति के रूप में प्रयुक्त हुआ ।

(२) दोउ आखर — रकार' और मकार । श्रीरामानुजाचार्य ने राममंत्र के 'र' और 'म' इन दोनों अक्षरों का यह अर्थ किया है

रकारार्थो रामः सगुणपरमैश्वर्यजलधि—
मकारार्थो जीवः सकलविधि कैकर्यनिपुणः ।
तयोर्मध्याकारो युगलमथसंबंधमनयो—
रनन्याह ब्रूते त्रिनिगमसुसारोऽयमतुल ॥

२२७ ९४

नाम राम, रावरोई हित मेरे।
स्वारथ-परमारथ-साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे ॥
जननी जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे।
मोहुँ सो कोउ-कोउ कहत रामहिं को, सो प्रसंग केहि केरे ॥२॥
फिर्यो ललात बिनु नाम उदरलगि, दुखउ दुखित मोहि हेरे ।
नाम प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बबुर बहेरे ॥३॥
साधत साधु लोक-परलोकहिं सुनि गुनि जतन घनेरे।
तुलसी के अवलम्ब नाम को, एक गाँठि कइ फेरे ॥४॥

भावार्थ—हे रामजी ! आपका नाम ही मेरा (सच्चा) हित करनेवाला है । यह बात मैं हाथ उठाकर स्वार्थ के और परमार्थ के सभी संगी साथियों से पुकार पुकारकर कहता हूँ (घोषणा कर रहा हूँ) ॥१॥

माता पिता ने मुझे जन्म देकर ही छोड़ दिया था । और ब्रह्मा ने भी अभागा और कुछ बेढब सा बनाया था । फिर भी कोई कोई मुझे 'राम का' कहते हैं, सो यह किस नाते से कहते हैं ? (कदाचित इसी राम-नाम के प्रताप से क्योंकि राम नाम स्मरण करने से ही 'भागवत' का पद मिलता है, अन्यथा नहीं) ॥२॥

जब मैं राम नाम की शरण नहीं हुआ था तब पेट भरने को मैं (द्वार द्वार पर) ललाता फिरता था । मेरी ओर देखकर दुःख को भी दुःख होता था (मेरी बड़ी ही दयनीय दशा थी) पहले मेरे लिए जो बबूल और बहेड़े के वृक्ष थे आज उन्हीं पेड़ों से आम के फल मिल रहे हैं । (अभिप्राय यह, कि जो लोग पहले मेरा निरादर करते थे, वे ही आज राम-नाम के प्रभाव से मेरा आदर कर रहे हैं) ॥३॥

संतजन तो (शास्त्रों को) सुनकर और मनन कर अनेक साधना से, अपना लोक और परलोक बना लेते हैं (शास्त्रों को सुनते हैं उन पर विचार करते हैं, अनुशीलन करते हैं और तदनुसार चलते हैं तब कहीं वे अपना लोक-परलोक सुधार सकते हैं), किन्तु तुलसी को तो एक राम-नाम का ही सहारा है । जैसे गाँठ तो एक ही होती है, लपेटे चाहे जितने हों (साधन चाहे अनेक हों, पर सबका आधार एक राम-नाम ही है) ॥४॥

शब्दार्थ—रावरोई = आपका ही । अवडेर = बेढब । ललात फिर्यो = ललचाता

हुआ दीन-सा जहाँ-तहाँ घूमता रहा। बबुर = बबूल। बहेर=बहेड़ा। रसाल = आम।

विशेष—(१) 'जननी ... प्रवडर'—यह किंवदन्ती बहुत कुछ प्रसिद्ध है, कि गोसाइँजी की जन्म पत्री में कुछ ऐसे अनिष्टकारी ग्रह आ गये थे, जिससे उनके माता पिता ने, ज्योतिषी की राय से उन्हें बचपन में ही त्याग दिया था। 'अनिष्ट ग्रहों के कारण त्याग देना' यह मत ज्योतिष के किसी प्राचीन ग्रंथ में नहीं पाया जाता केवल 'मुहूर्तचिन्तामणि' नामक ग्रंथ में इसका उल्लेख है। 'मुहूर्तचिन्तामणि' गोसाइँजी के बाद की रचना है। इस पद तथा कतिपय ऐसे ही पदों से लोगों ने यह अर्थ लगा लिया कि गोसाइँजी माता पिता द्वारा परित्यक्त बालक थे। सोचने की बात है। कैसे ही अनिष्ट ग्रह क्या न हों, कोई माँ-बाप अपनी सन्तान को यों नहीं त्याग देता है। यह संभव है कि इन्हें छोड़कर इनके माता पिता बचपन में ही परलोकगामी हो गये हों, और यह निराश्रय होकर इधर उधर भटकते फिरे हों। और 'बिधिहू सुज्यो प्रवडर' इसका अर्थ साधारणतया यही है कि ब्रह्मा ने भी मुझे ऊटपटाँग-सा बनाया भाग्यहीन रचा।

(२) 'फिर्यो ... हेर'—इसी प्रसंग का 'कवितावली' में निम्नलिखित कवित्त मिलता है। देखिए—

'जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हौं चारफल चार ही चनक को॥
तुलसी, सो साहिब समर्थ को सुसेवक है
सुनत सिहात सोच बिधिहू गनक को।
नाम राम! रावरो सयानो किधौं बावरो
जो करत गिरी तें गुरु तृन ते तनक को॥

(३) 'लहत रसाल ... बहेरे'—श्रीबैजनाथजी इसका यह अर्थ करते हैं बबुर बहेरा के वृक्ष तें रसाल फल पाया। भाव पूर्व विशाख सिद्धि द्वारा राम भक्ति लाभ भई, यह भक्तमाल में प्रसिद्ध है।

(४) 'एक गाँठि कइ फेर'—राम-नाम के आधार पर ही सारे साधन दृढ़तापूर्वक अवलम्बित हैं।

[२२८]

प्रिय रामनाम तें जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि मध्य-परिनामो॥१॥
सकुचत समुझि नाम महिमा मद-लोभ मोह कोह कामो।
राम-नाम जप निरत सुजन पर करत छाँह घोर घामो॥२॥
नाम प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो।
जो सुनि सुमिरि भाग भाजन भइ सुकृतसील भील भामो॥३॥
बालमीकि अजामिल के कछु हुतो न साधन-सामो।
उलटे, पलटे नाम महातम गुंजनि जितो ललामो॥४॥

राम तें अधिक नाम-करतब जेहि किये नगर गत गामो ।
भये बजाइ दाहिने जो जपि तुलसिदास से बामो ॥६॥

भावार्थ—जिसे राम-नाम की अपेक्षा श्रीरामचन्द्रजी भी प्यार नहीं है (जिस स्वयं श्रीरामचन्द्रजी से उनका नाम अधिक प्रिय है) उसका इस कराल कलिकाल में, आदि, मध्य और अन्त तीनों ही कालों में कल्याण होगा (क्योंकि कलियुग में मुक्ति का देनेवाला हरि-नाम-स्मरण ही है। जो नामानन्य होगा, वह सदा सर्वथा सुखी रहेगा।)॥१॥

नाम की महिमा समझकर अहंकार, लोभ, अज्ञान क्रोध और काम भी सकुचा जाते हैं, सामने नहीं आते। जो सज्जन सदा राम-नाम-स्मरण करते हैं उन पर कड़ी धूप भी छाया कर देती है। (कठिन-से-कठिन अनिष्ट भी इष्ट हो जाते हैं, बड़े बड़े दुःख भी सुख में परिणत हो जाते हैं।) ॥२॥

यदि कोई कहे, कि नाम के प्रभाव से पत्थर पर कमल अंकुरित हुआ है, तो उसे सच ही मानना चाहिए। (नाम के प्रभाव से असम्भव बातें भी सम्भव हो जाती हैं।) जिस नाम को सुनकर और जपकर भीलनी शबरी भी भाग्यवती शीलवती और पुण्यमयी बन गई (तो क्या शिला-कमल वाली असम्भव घटना क्या सम्भव नहीं हो सकती ?) ॥३॥

वाल्मीकि और अजामेल के पास न तो कोई साधन था और न कोई सामग्री ही (न योगाभ्यास किया था, न यज्ञ-यागादिक ही) किन्तु उन्होंने भी, उलटे पुलटे राम-नाम के माहात्म्य से, घुंघचियों से जवाहरात जीत लिये ॥४॥

नाम की शक्ति श्रीरघुनाथजी से भी बड़ी है। उसने ग्रामीण मनुष्यों को चतुर नागर बना दिया (जिनको बोलने रहन, उठन, बैठने की भी योग्यता नहीं थी, व शिष्ट, कवि और महात्मा हो गये)। अधिक क्या, जिसे जपकर तुलसीदास सरीखे बुरे जीव भी डंके की चोट से, अच्छे हो गये (कौड़ियाँ भी अशर्फियाँ हो गई।) ॥५॥

शब्दार्थ—परिनामो=(परिणाम) अन्त। कोह=क्रोध। सिला=पत्थर। सरोरुह=कमल। जामो=जम उठा, अंकुरित हुआ। भाग भाजन=भाग्यवती। भील भामो=भील की स्त्री शबरी। सामो=सामान। जितो=प्राप्त कर लिया। ललामो=(ललाम) यहाँ रत्न से तात्पर्य है। नगर-गत=नागर शहर में रहनेवाले चतुर मनुष्य। गामो=ग्रामीण। बजाइ=डंका बजाकर।

विशेष—(१) प्रिय रामो—भक्तपुंगव हनुमान्जी ने भी यही बात कही है—

राम त्वत्तोऽधिकं नाम, इति मे निश्चला मतिः ।
त्वया तु तारिताऽयोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम् ॥

रामचरितमानस में—

निगुन ते इहि भाँति बड़, नाम प्रभाव अपार ।
कहउँ नाम बड़ राम तें, निज बिचार अनुसार ॥
राम भगतहित नरतनु धारी । सहि संकट किय साधु सुखारी ॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा । भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥
राम एक तापस तिय तारी । नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥

रिषिहित राम सुकेतु सुता की। सहित सेन सुत कीन्ह बिबाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा॥
भंजेउ राम आप भव चापू। भवभयभंजन नाम प्रतापू॥
दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन। जनमन अमित नाम किय पावन॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नाम सकल कलि-कलुष निकंदन॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, बेदबिदित गुनगाथ॥
राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ॥
राम अनेक गरीब निवाजे। लोक बेद बर बिरद बिराजे॥
राम भालु कपि-कटक बटोरा। सेतुहेतु श्रम कीन्ह न थोरा॥
नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥
राम सकुल रन रावन मारा। सीय सहित निजपुर पगु धारा॥
राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बरबानी॥
सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनुश्रम प्रबल मोह दल जीती॥
फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने॥

गोसाईंजी ने ही नहीं अनेक अनुभवी साधु संतों ने राम-नाम का ऐसा ही प्रभाव कहा है। महाप्रभु चैतन्य देव ने नाम-कीर्तन को ही सबसे अधिक महत्व दिया है। कबीर साहब ने भी नाम की भारी महिमा गाई है

राम का नाम संसार में सार है राम का नाम है अमृत बानी।
राम के नाम ते कोटि पातक टरें राम का नाम बिस्वास मानी॥
× × ×
कहाँलौं कहौं अगाध लीला रची, राम का नाम काहू न जानी।
राम का नाम ले कृष्णगीता कथी बाँधिया सेत तब मर्म जानी॥
ब्रह्म सनकादि कोई पार पावै नहीं तासु का नाम कह रामराया।
कहै कबीर यह शब्द तहकीक कर राम का नाम जो पृथ्वी लाया॥'

अन्यत्र—

सूर मरै अजपा मरै अनहद हू मरि जाय।
नाम सनेही ना मरै कहै कबीर समुझाय॥'

(२) करत छाँह घोर घामो —प्रमाण है—

'जिमि जाहि छाया जलद सुखद बहै बर बात।
तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात॥

[रामचरितमानस

(३) 'उलटे ललामो

उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भे ब्रह्म समाना॥'

[रामचरितमानस

उलटे नाम की कथा संस्कृत के किसी प्राचीन ग्रंथ में नहीं पाई जाती है। संस्कृत के अनुसार 'मरा मरा' का कुछ अर्थ भी नहीं होता। भाषा में भी 'मारो, मारो

होता ह, 'मरा मरा' नहीं। श्री दवनारायण द्विवेदी का मह श्रय ठीक जचता है कि जीवों की रक्षा करना ता सीधा नाम जपने का सार ह, और हिंसा करना या वध करना उलटे नाम का जप ह।

(४) दाहिने बामो'—कवितावली में अपने विषय में गोसाइंजी ने स्वय कहा है—

'राम-नाम को प्रभाव पाउ महिमा प्रताप
तुलसी से जग मनियत महामुनी सो।
अति ही अभागो अनुरागत न रामपद,
मूढ़ एतो बडो अचरजु देखि सुनी सो॥'

२२६

गरैगी जीह जो कहौ और को हौं।
जानकी-जीवन! जनम-जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं॥१॥
तीन लोक, तिहुँ काल न देखत सुहृद रावरे जोर को हौं।
तुम सो कपट करि कलप कलप कृमि ह्वै हौं नरक घोर को हौं॥२॥
कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियो भौंतुवा भौंर को हौं।
तुलसिदास सीतल नित यहि बल, बडे ठेकान ठौर को हौं॥३॥

भावार्थ—यदि म यह कहूँ, कि मैं रामजी का छोडकर किसी दूसरे का हूँ, ता मेरी यह जीभ गल जाय। हे श्रीजानकीवल्लभ! म तो इस ससार में आपके ही टुकडो से (जूठन स) जी रहा हूँ॥१॥

तीनों लोकों और तीनों कालो में (पृथिवी पाताल और स्वर्ग में, तथा भूत वतमान और भविष्यत में) आपकी बराबरी का कोई दूसरा हितू नहीं दिखाई दिया। यदि मैं आपके साथ छल कपट करूँगा तो मुझे घोर नरक का, कल्प-कल्प में कीडा होना पडेगा (क्योंकि आप सर्वव्यापी के आगे कपट जाल कब तक चल सकेगा?)॥२॥

क्या हुआ जो कलियुग ने मिलकर मेरे मन का भँवर का भौंतुआ बना दिया? आशय यह ह कि भौंतुवा जस जल में रहता हुआ भी जल के ऊपर ही तरता रहता है उसमें डूब नहीं सकता वैस ही कलि ने यद्यपि मुझे भव नदी में डाल दिया ह तो भी मैं आपके प्रताप से, उसमें डूबूँगा नहीं, ऊपर ऊपर ही तरता रहूँगा। विषय भाग मुझ पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकेंगे। इसी बल भरोसे पर तुलसीदास सदा शान्त रहता है, कि वह बड ठौर-ठिकाने का रहनेवाला ह। (श्रीरघुनाथजी के राजदरबार का गुलाम है। कलियुग उसका क्या बिगाड सकता ह)॥ ॥

शब्दार्थ—गरैगी=गल जायगी। ज्यायो=जिलाया हुआ। जोर=(जोड) बराबरी। भौंतुवा=छोटा-सा काला कीडा जो प्राय जल में नावों के पास रहा करता ह।

विशेष—(१) 'जानकी "को हौं'—यदि जीव श्रीजानकी-जीवन का गुलाम होकर नहीं रहा, तो उसका जीना न जीना बराबर ही ह—

'तिन्ह तें खर सूकर स्वान भले, जड़ताबस ते न कहैं कछुव।
तुलसी जेहि राम सों नेहु नहीं सो सही पसु पूँछ बिषान न द्वै॥
जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै।
जरि जाउ सो जीवन, जानकीनाथ! जियै जग में तुम्हरो बिन ह्वै॥'
[कवितावली

भक्तवर प्रह्लाद ने कहा है —

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वा सुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥
[श्रीमद्भागवत

(२) 'सुहृद'—श्रीरामजी के समान कोई दूसरा सखा और हितू कहाँ है? हनुमान्‌जी कहते हैं—

'कहँ हम पसु साखामृग चंचल बात कहौं मैं विद्यमान की।
कहँ हरि सिव-अज पूज्य ग्यानघन नहिं बिसरत वह लगनि कान की॥'
[गीतावली

अकारन को हितू और को है।
बिरद 'गरीब निवाज' कौन को, भौंह जासु जन जोहै॥१॥
छोटो बड़ो चहत सब स्वारथ, जो बिरंचि बिरचो है।
कोल कुटिल, कपि भालु पालिबो कौन कृपालुहि सोहै॥२॥
काको नाम अनख आलस कहे अघ अवगुननि बिछोहै।
को तुलसी-से कुसेवक संग्रह्यो, सठ सब दिन साइँ-द्रोहै॥३॥

भावार्थ—बिना ही किसी कारण के हित करनेवाला (श्रीरामचन्द्रजी को छोड़कर) और कौन है? गरीबों को निहाल कर देने का बाना किसका है कि जिसकी भृकुटी की ओर यह जन देखा करे?॥१॥

छोटे या बड़े जो भी ब्रह्मा के रचे हुए हैं वे सभी अपना स्वार्थ साधना चाहते हैं (बिना स्वार्थ के कोई किसी का भला नहीं करता) भला भील, बन्दर और रीछ आदि का पालन पोषण करना किस कृपालु स्वामी को शोभा देता है?॥२॥

ऐसा किसका नाम है जिसे आलस्य या क्रोध के साथ भी लेने से पाप और दोष दूर हो जाते हैं? (श्रीराम नाम ही ऐसा है) जिसने सदा मूर्खतावश अपने स्वामी से द्रोह किया है, ऐसे तुलसी-सरीखे नीच सेवक को भी किसने अपना लिया?॥३॥

शब्दार्थ—जोहै=देखे। सोहै=शोभा देता है। अनख=क्रोध।

विशेष—(१) भौंह जोहै—भौंह जोहने का अर्थ कृपा कटाक्ष की प्रतीक्षा करनी, अनुगृहीत होने की आशा करनी।

(२) 'छोटो बिरचो है'—कहा भी है—

सुर नर मुनि सब ही की रीती। स्वारथ लागि करहिं ये प्रीती॥

तथा—

'जगत में झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुख सों सब लागे, क्या दारा क्या मीत॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं, हित सो बांध्यो चीत।
अंतकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरज की रीत॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत, सिख द हारयो गीत।
'नानक' भव जल पार पर जो, गाव प्रभु के गीत॥'

(३) 'कोल'—यहाँ निषाद और शबरी दोनों से ही तात्पर्य है।

(४) 'अनख आलस'—कहा भी है—

'भाव कुभाव अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥'

[रामचरितमानस

२३१

और मोहि को है, काहि कहिहौं?
रंक-राज ज्यों मन को मनोरथ केहि सुनाइ सुख लहिहौं॥१॥
जम-जातना, जोनि संकट सब सहे दुसह अरु सहिहौं।
मोको अगम, सुगम तुमको प्रभु! तउ फल चारि न चहिहौं॥२॥
खेलिबे को खग मृग, तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥३॥
इतनी जिय लालसा दास के कहत पानही गहिहौं।
दीजे बचन कि हृदय आनिये तुलसी को पन निबहिहौं॥४॥

भावार्थ—हे नाथ! मेरे दूसरा कौन है (तुम्हें छोड़कर) किससे (अपनी बात) कहूँ? मेरी कामना तो ऐसी है जैसी रंक की राजा बनने की होती है (अथवा हूँ तो मैं निपट कंगाल, पर मंसूबे राजाओं के जैसे बाँध रहा हूँ। तात्पर्य यह कि साधन तो एक भी नहीं, पर चाहता हूँ मोक्ष से भी महान् आनन्द!) सो यह मनोरथ किसे सुनाऊँ, कौन मेरी सुनकर पूरी करेगा?॥१॥

यम-यातनाएँ एवं अनेक योनियों में दारुण दुख भोगे हैं और भोगूँगा। हे प्रभो! मुझे अर्थ, धर्म काम और मोक्ष की लालसा नहीं है मेरे लिए तो ये परम दुर्लभ हैं पर तुम यदि चाहो, तो सहज में ही दे सकते हो॥२॥

(तो मुझे चाहिए क्या सो सुनिए) हे रामजी! मैं तो तुम्हारे विहार करने का पक्षी, पशु, वृक्ष और कंकड़ पत्थर होकर भी रहना चाहता हूँ। इस नाते से मुझे नरक में भी सुख मिलेगा और यदि यह कामना पूरी न हुई तो मुझे मोक्ष की भी लालसा नहीं, क्योंकि बिना इस सुख के मोक्ष-पद भी दुखदायी हो जायगा॥३॥

इस दास के मन में, बस, यही एक कामना है कि वह सदा तुम्हारा जूती पकड़े

रहे, (शरण में पड़ा रहे) या तो मझे वचन दे दो (कि हम तेरी यह कामना पूरी कर देंगे) या इस बात का मन में निश्चय कर लो कि हम तुलसी का यह प्रण पूरा कर देंगे ॥४॥

शब्दार्थ —रावु=गुण निधान। पानहीं=जूतो।

विशेष—(१) खलिय रहिहौं —मुझे जो विहग-योनि में जन्म लेना पड़े तो तुम्हारे खेलने के शुक सारिका, मोर आदि होऊ जो पशु योनि में जाना पड़े, तो तुम्हारा घोड़ा, हाथी, हिरण आदि होऊ, और यदि किसी वृक्ष का जन्म लेना पड़े, तो तुम्हारे विहार-स्थल का कदम्ब, रसाल, तमाल आदि बनूं। भक्तवर ललितकिशोरी कहते हैं—

'जमुना पुलिन कुंज गहवर की कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊं।
पद पकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे मधुरे गुंज सुनाऊं॥
कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं, बचे सीथ रसिकन के पाऊं।
ललितकिसोरी' आस यही ब्रज रज तज अनत न जाऊं॥

और रसखानि का भी यह मनोराज्य जरा देखिए

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौ ब्रज गोकुल गाव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदंब की डारन॥

(२) यहि नात दहिहौं —कविवर बिहारी का इसी भाव पर एक सरस दोहा है

जो न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकति मुख दीन।
जो लहिये संग सजन तो धरक नरक हू कौन॥

सुकवि अहमद भी अपना स्वर मिला रहे हैं—

अहमद ढाक सराहिये जो प्रीतम गल बाह।
कहा करौं बैकुण्ठ ल, कलपवृच्छ की छांह॥

२३२

दीनबन्धु दूसरो कहँ पावों?
को तुम बिनु परपीर पाइहै? केहि दीनता सुनावों ॥१॥
प्रभु अकृपालु कृपालु अलायक जहँ-जहँ चितहिं डोलावों।
इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही कहि भ्रम कहा गँवावों ॥२॥
गोपद बूडिबे-जोग करम करौं बातनि जलधि थहावों।
अतिलालची काम किंकर मन, मुख रावरो कहावों ॥३॥
तुलसी प्रभु जिय की जानत सब, अपनो कछुक जनावों।
सो कीजै जेहि भांति छाडि छल, द्वार परो गुन गावों ॥४॥

भावार्थ —दीनों का बन्धु आपके (जैसा) दूसरा कहाँ मिलेगा? हे नाथ! आपको

छान्कर पराई पीर समझनेवाला और कौन है ? जिसके आगे मैं अपना दुःख रोता फिरूँ ? (सिवा श्रीरामजी के न कोई परोपकार करनेवाला है, न दूसरे का दुःख जाननेवाला और उसे सान्त्वना देनेवाला है) ॥१॥

जहाँ जहाँ मैं अपने मन को दौड़ाता हूँ, वहाँ-वहाँ कहा तो ऐसे स्वामी मिलते हैं जिनके हृदय में दया नहीं, और कहीं ऐसे जो दयावान तो हैं परन्तु असमर्थ हैं। (ना समझों की कृपा से क्या लाभ ?) यह सुन समझकर चुप हो रहता हूँ क्योंकि ऐसों के आगे कुछ कहना अपना भरम गँवाना है। (भेद खुल जायगा और कुछ होगा भी नहीं, इससे मौन धारण किए बैठा रहता हूँ) ॥२॥

कर्म तो ऐसे ऐसे किया करता हूँ कि गाय के खुर भर जल में डूब जाऊँ (चुल्लू भर पानी में डूब मरूँ), पर बातें बनाकर समुद्र का थाह ले रहा हूँ। (कोरी कथनी ही कथनी है, करनी रत्ती भर भी नहीं)। मेरा मन बड़ा ही लालुप है और काम का दास है किन्तु मुख से आपका सेवक बनता फिरता हूँ (हृदय में कामदास हूँ और ऊपर से रामदास ! इस पाखंड का भी कोई ठिकाना !) ॥३॥

हे नाथ ! आप तुलसी के मन की तो सभी (बुरी भली) बातें जानते ही हैं, तो भी मैं अपनी कुछ बातें बतलाना चाहता हूँ। कुछ ऐसा उपाय कीजिए, जिससे कपट छोड़ कर सच्चे हृदय से आपके द्वार पर पड़ा पड़ा केवल आपके ही गुण गाया करूँ ॥४॥

शब्दार्थ—पाछिहै=समझ सकेगा। अनायक=अयोग्य।

विशेष—(१) 'अनि लालची कहावा'—कबीर साहब कहते हैं—

'साधु भया तो क्या भया माला पहिरी चार।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी भँगार॥'

(२) द्वार गाथा कविवर बिहारी भी ऐसा ही कहते हैं—

हरि, कीजत तुम सो यहै, बिनती बार हजार।
जेहि तेहि भाँति डरयो रहौं, परयो रहौं दरबार॥

२३३ Important

मनोरथ मन को एकै भाँति।
चाहत मुनि मन अगम सुकृत फल, मनसा अघ न अघाति ॥१॥
करमभूमि कलि जनम, कुसंगति, मति बिमोह मद माति।
करत कुजोग कोटि क्यों पैयत परमारथ पद साँति ॥२॥
सेइ साधु गुरु, सुनि पुरान स्रुति बूझयो राग बाजी ताँति।
तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सो ज्यों दरपन मुख काँति ॥३॥

भावार्थ—मन की अभिलाषा भी एक ही प्रकार की है। वह ऐसे पुण्यों के फल की इच्छा करता है, जो मुनियों के मन को भी दुर्लभ हैं अर्थात जिस परम पद के विषय में मुनिजन मन में विचार भी नहीं करते। किन्तु पाप करने से तृप्ति नहीं हो रही है (दोनों काम एक साथ कैसे हों ? पाप भी कमाता जाय और पुण्य फल की भी इच्छा करे!) ॥१॥

कर्मभूमि भारतवर्ष में जन्म भी लिया, तो क्या हुआ ? क्योंकि कलियुग में जन्म,

नीचा का सग और अहकार तथा अज्ञान से मतवाली बुद्धि एव करोड़ों बुरे-बुरे कर्म, इन सब कुयोगो स परमपद और परमशान्ति कैसे प्राप्त हो सकती ह ? (इन अनिष्टो क कारण शान्ति-पद दुलभ हो दीखता ह) ॥२॥

सतो और गुरु की सेवा करने तथा वेद पुराणो के पारायण स परम शान्ति का ऐसा निश्चय हो जाता ह, जसे सारगी के बजते ही राग पहचान लिया जाता ह । (अर्थात जैसे सारगी छेडते ही गानशाला राग का स्वरूप पहचान लेता है उसम तनिक भी सन्देह नही रहता, उसी प्रकार गुरुजनो की सेवा से तथा वेद-पुराणों के सुनने से मुझे दृढ विश्वास हो गया ह कि मुझे परमपद प्राप्त हो जायगा) हे तुलसी ! प्रभु रामचन्द्रजी का स्वभाव तो कल्पवृक्ष के समान अवश्य ह (जो उनसे माँगा जाता ह वह मिल जाता ह) किन्तु साथ ही वह ऐसा ह जसे शीशे म चेहरे का प्रतिबिम्ब । (भाव यह ह कि जसा मुह बनाकर या बिगाडकर हम दपण में देखेंगे वसा ही वह दिखाई देगा । इसी प्रकार भगवान क पवृक्ष तो अवश्य ह किन्तु उस वृक्ष के नीचे बठकर हम जसी इच्छा करेंगे वैसा ही फल मिलेगा) ॥३॥

शब्दार्थ —सुकृत=पुण्य । माति=मतवाली । साति=शान्ति । काँति=कान्ति, सौन्दय ।

विशेष—इस पद में भगवत्कृपा और जीव के पुरुषाथ का साथ साथ विवेचन किया गया ह । एक ओर कर्मों का विवेचन हुआ ह तो दूसरी ओर भगवत्कृपा का सुदृढ विश्वास प्रकट किया जाता ह । भक्तिमाग म यह सिद्धात बडा ऊचा माना गया ह । पहले अन्त करण शुद्ध करके ही भगवान के सम्मुख जाना चाहिए भगवतरूपी दिव्य दपण में स्वच्छ मुख का देखना चाहिए । पाखडियो का तो उस दपण से दूर ही रहना अच्छा । कबीर साहब कहते ह—

'मुखडा क्या देखे दरपन में तेरे दया धरम नहिं मन म ?

२३४

जनम गयो बादिहिं बर बीति ।
परमारथ पाले न परयो कछु, अनुदिन अधिक अनीति ॥१॥
खेलत खात लरिकपन गो चलि, जोबन जुबतिन लियो जीति ।
रोग बियोग सोग स्रम सकुल बडि बय बृथहि अतीति ॥२॥
राग दोष इरषा बिमोह बस रुची न साधु समीति ।
कहे न सुने गुनगन रघुबर के, भइ न रामपद प्रीति ॥३॥
हृदय दहत पछिताय अनल अब सुनत दुसह भवभीति ।
तुलसी प्रभु तें होइ सो कीजिय समुझि बिरद की रीति ॥४॥

भावार्थ—ऐसा म र यह (मनुष्य) जीवन व्यथ ही बीत गया । परमाथ तनिक भी हाथ न लगा । दिन दूना रात चौगुनी अनीति बढती ही गई ॥१॥

लडकपन तो खेलने खाने में बीत गया और यौवन को स्त्रियो ने जीत लिया । (जिस यौवन म प्रतिभा और बुद्धि का विकास होता ह इन्द्रियाँ चैतन्य रहती ह चित्त में उमग

और उत्साह बढ़ता है, उसे युवतियों ने नयन बाण से छिन्न भिन्न कर दिया, सौंदर्य के पाश में बाँधकर गुलाम बना दिया।) अब रहा बुढ़ापा, सो वह रोग, वियोग और शोक तथा परिश्रम से परिपूर्ण रहने के कारण अकारथ बीत गया ॥२॥

राग द्वेष, ईर्ष्या और मोह के कारण न तो सत्ता की सभा अच्छी लगी और न रघुनाथजी की गुणावली का ही कहा और न सुना। श्रीरामजी के चरणों में प्रेम ही नहीं हुआ (साराश, आत्म कल्याण के जितने भी मार्ग हो सकते हैं वे सभी विफल रहे।)॥३॥

अब यह हृदय पश्चात्ताप की आग में जला जा रहा है, क्योंकि असहनीय ससार के भय को सुन रहा हूँ। इस तुलसी के लिए अब तो अपने विरद की रीति को सोच समझकर जो कुछ भी प्रभु से हो सके सो करें। भाव यह है कि मुझसे तो कोई साधन बना नहीं, पर सुना है कि मेरे प्रभु पतित पावन हैं सो वे अपने इस नाम के नाते मुझ पापी का भी उद्धार कर ही देंगे ॥४॥

शब्दार्थ—बादिहिं = व्यर्थ ही। पाले न परयो = हाथ न लगा। सोग=शोक। समीति = (समिति) सभा। पछिनाय = पश्चात्ताप।

विशेष—(१) 'जनम गयो बीति'—कबीर साहब भी चेतावनी दे रहे हैं—

रात गँवाई सोय कर दिवस गवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था कौडी बदले जाय॥
आछे दिन पाछे गये गुरु से किया न हेत।
अब पछितावा क्या कर, चिड़िया चुग गइ खेत॥

(२) 'खलत प्रतीति'—श्रीशकराचार्य भी बता गये हैं—
'बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्त ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्न पारेब्रह्मणि कोऽपि न लग्न ॥'

(४) 'प्रभु कीजिय'—सो अब तो—
अवगुन मेरे बापजी बकस गरीबनिवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिता को लाज॥
तुम तो समरथ साइयाँ दृढ़ करि पकरो बाँह।
धुरहीलौं पहुँचाइयो जनि छाडो मग माहँ॥' —कबीर

२३५ ~~~

ऐसेहि जनम समूह सिराने।
प्राननाथ रघुनाथ-से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने ॥१॥
जे जड़ जीव कुटिल कायर खल, केवल कलि मल-साने।
सूखत बदन प्रससत तिन्ह कहँ, हरि तें अधिक करि माने ॥२॥
सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाय पिराने।
सदा मलीन पथ के जल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने ॥३॥
यह दीनता दूर करिबे को अमित जतन उर आने।
तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने ॥४॥

भावार्थ—एक ही अनन्त जन्म (वर्ष) बीत गये। प्राणनाथ रघुनाथजी सरीखे स्वामी को छोड़कर दूसरा के चरणों की सेवा करता रहा (द्वार द्वार पर जाकर सबकी खुशामद करता फिरा याचनाएँ की उनकी मार फटकारें सही फिर भी निर्लज्जता के कारण वैराग्य का उदय न हुआ)। १॥

जो मूढ़ जीव कपटी कायर और दुष्ट हैं और जो केवल कनक कामिनी में ही लिप्त हो रहे हैं, ऐसों की प्रशंसा करते करते मुह सूख गया है (दिन रात उनकी प्रशंसा की) उन्हें भगवान से भी बड़ा समझ रखा है ॥२॥

सुख पाने के लिए सदा करोड़ों यत्न करते करते पैर नहीं दुखे (दिन रात झूठे विषयभोगों के पीछे इधर उधर भटकता फिरा)। रास्ते के जल की तरह अन्तर सदा मैला बना रहा, कभी निर्मल या स्थिर नहीं हुआ (जैसे रास्ते का जल हमेशा उस पर चलते रहने के कारण, कभी स्थिर नहीं होता वैसे ही निरन्तर विषय-वासनाओं की उथल-पुथल से हृदय निर्विकार और स्वच्छ नहीं हो पाता।) ॥३॥

जीव की इस दीनता को दूर करने के लिए मन में अगणित उपाय सोचे पर हे तुलसी! चित्त की चिन्ता बिना चिन्तामणि (श्रीरघुनाथजी) को पहचाने, दूर होने की नहीं। (परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने से ही सारी चिन्ताओं का समूल नाश होगा।)

शब्दार्थ—सिरान = बीत गये। बिराने = पराये दूसरे के। पिराने-पीड़ा हुई। थिराने = स्थिर हुए।

विशेष—(१) ऐसेहि सिरान—कैसे बीत गये सो सूरदास से सुनिए—

> सब दिन गये विषय के हेत।
> तीनों पन ऐसे ही बीते केस भये सिर सेत॥
> रुँधी साँस मुख बैन न आवत, चन्द्र ग्रस्यो जिमि केत।
> तजि गंगोदक पियत कूपजल हरि तजि पूजत प्रेत॥
> करि प्रमाद गोविन्द बिसारयो बूड्यो कुटुम समेत।
> सूरदास कछु खरच न लागत रामनाम मुख लेत॥

कुछ भी तो न बन पड़ा—

> रचिकै सवार नाहिं अंग अंग स्यामा स्याम
> एरी धिक्कार और नाना कर्म कीवे पै।
> पायन को धोय निज कर तें न पान कियो
> आली अगार पर सीतल पय पीवे पै।
> बिचरे न वृन्दावन कुञ्जन लतान तरे
> गाज गिर जाय फुलवारी—मुख लीवे पै।
> ललितकिसोरी बीते बरस अनेक हम—
> देखे नाहिं प्रानप्यारे छार ऐसे जीवे पै।

(२) 'पर दीनता'—तब तक दीनता जाने की नहीं जब तक कि आशा के पिंड नहीं छोड़ा, कहा है—

> आशा यस्य मे दासास्ते दासा जगतामपि।
> आशा दासीकृता येन तस्य दासायते जगत्॥

२३६

जोपै जिय जानकी-नाथ न जाने।

तौ सब करम धरम स्रमदायक ऐसेइ कहत सयाने ॥१॥

जे सुर सिद्ध, मुनीस, जोगविद बेद पुरान बखाने।

पूजा लेत, देत पलटे सुख, हानि-लाभ अनुमाने ॥२॥

काको नाम धोखेहूँ सुमिरत पातकपुंज पराने।

विप्र, बधिक, गज, गीध, कोटि खल कौन के पेट समाने ॥३॥

मरु से दोष दूरि करि जन के, रेनु से गुन उर आने।

तुलसिदास तेहि सकल आस तजि भजहि न अजहूँ अयाने ॥४॥

भावार्थ—अरे जीव! यदि तूने श्रीजानकी-जीवन रघुनाथजी को नहीं जाना, तो तेरे सारे धर्म कर्म केवल परिश्रम ही देनेवाले हैं (उनसे तुझे कोई सच्चा लाभ होने का नहीं, सारा किया धरा बेकार जायगा) ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है (श्रीरामचन्द्रजी को तत्त्वतः जान लेना ही समस्त कर्म धर्म का सिद्ध कर लेना है।) ॥१॥

वेद एवं पुराण कहते हैं कि जितने देवता, सिद्ध, बड़े बड़े मुनि और योगाभ्यासी हैं, वे सब पूजा लेकर उसके बदले में (अनित्य) सुख देते हैं। और ऐसा वे अपनी हानि और लाभ का विचार करके करते हैं, (यों ही बिना विचारे नहीं दे डालते) ॥२॥

वह किसका नाम है जिसे धोखे से भी लेने से पापों के समूह भाग जाते हैं? अजामेल ब्राह्मण, वाल्मीकि, गजेन्द्र, जटायु गीध आदि करोड़ों दुष्टों को किसने अपनाया? ॥३॥

जिन्होंने अपने सेवकों के सुमेरु पर्वत के समान (महान्) अपराधों को भुलाकर उनके बालू के कण के समान (छोटे छोटे) गुणों को अपने हृदय में रख लिया है, हे तुलसीदास! हे मूर्ख! सारी आशाएँ छोड़कर, तू उन्हीं को क्यों नहीं भजता? ॥४॥

शब्दार्थ—जोगविद=योगक्रिया जाननेवाले। पराने=दूर हो गये। विप्र=अजामेल से तात्पर्य है। बधिक=बहेलिया, वाल्मीकि से तात्पर्य है। कौन के पेट समाने=किसने शरण में लिया। मेरु=सुमेरु पर्वत। रेनु=रज का कण। अयान=मूर्ख।

विशेष—(१) जो पै ... जाने—इसी भाव के पद्य कवितावली में भी मिलते हैं। श्रीजानकी-जीवन के न जानने से जीव की क्या दशा होती है—

काम से रूप प्रताप दिनेस से, सोम से सील गनेस से माने।
हरिचंद्र से साँचे, बड़े बिधि-से मघवा से महीप विषै सुख साने॥
सुक-से मुनि सारद से बकता, चिरजीवन लोमस ते अधिकाने।
ऐसे भये तो कहा तुलसी जो राजिवलोचन राम न जाने॥

× × ×

सुरराज-सो राज समाज समृद्धि बिरंचि धनाधिप सो धन भो।
पवमान सो पावक सो जम सोम सो पूषन सो भवभूषन भो॥
करि जोग समीरन साधि समाधि कै धीर बड़ो, बसहू मन भो।
सब जाय सुभाय कहै तुलसी' जो न जानकी जीवन को जन भो॥

निज अवगुन, गुन राम रावरे लखि सुनि मति मन रूझै।
रहनि कहनि समुझनि तुलसी की को कृपालु बिनु बूझै ॥२॥

भावार्थ—हे श्रीराम ! हे नाथ ! इस जीव को यदि यह सूझ जाय कि उसकी भलाई आपसे प्रीति जोड़ने में ही है तो वह शरीर पर सिर रहते हुए तथा स्मरण रहते हुए कबन्ध की तरह क्यों लड़ता फिरे ? (भाव यह है कि जैसे वीर पुरुषों का मस्तक विहीन रुण्ड ही जो उसके आगे आता है उसे मारता चला जाता है चेतना रहित होने के कारण यह नहीं देखता कि किस मारना चाहिए और किसे नहीं, वैसे ही यह जीव कामान्ध होकर अपना हित तो समझता नहीं, किन्तु सभी के साथ वैर बाँधता फिरता है, इसे इस बात का ज्ञान ही नहीं, कि मेरा हित मेरा कल्याण आपकी कृपा से ही हो सकता है। इसीलिए यह अन्धे की तरह ब्रह्म पीयूष को छोड़कर विषय विष का पान कर रहा है) ॥१॥

अपने दोषों और आपके गुणों को देख सुनकर हे रघुनाथजी ! मेरी बुद्धि और मन रुक जाते हैं। (जी में तो आता है कि आपके चरणारविन्दों की शरण में जाऊँ, पर अपने दोषों की ओर देखकर बुद्धि पंगु हो जाती है मन संकोच में पड़ जाता है। सोचता हूँ कि मुझ-सरीखे पापी को वहाँ कैसे स्थान मिल सकेगा !) तुलसी का आचरण, कथन और रहस्य आपको छोड़कर, हे कृपालो ! और कौन समझ सकता है ? (आप घट घट की बात जाननेवाले हैं, सो अपनी कृपा-दृष्टि से इसका उद्धार कीजिए) ॥२॥

शब्दार्थ—अछत = (अक्षत) जिसका नाश न हो अमर। कबंध = धड़, रुण्ड। जूझ=लड़। रूझै=उलझ जाय।

विशेष—(१) निज अवगुन—श्रीवजनाथजी ने पतित जीव के निम्न मुख्य मुख्य दोष गिनाये हैं—

काम क्रोध-युत कृपाहत दुर्वादी अति लोभ।
लंपट लज्जाहीन गनि विद्याहीन, असोभ ॥
आलस अति निद्रा बहुत दुष्ट दया कर हीन।
सूम दरिद्री जानिये रोगी सदा मलीन ॥
देन कुपात्रहि दान पुनि, भरण दान दृढ़ नाहिं।
भोगी सब न समुझई कुछ सास्त्रन के माहिं ॥
अति अहार प्रिय जानिये, अहंकारयुत देवु।
महा अलच्छन पुरुष के ये अट्ठाइस लखु ॥'

(२) गुन राम रावरे—वाल्मीकीय रामायण में श्रीराम के दिव्य गुणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी ॥

बुद्धिमान्नीतिमान्वाग्मी, श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः ।
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ॥
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ।
प्रजापतिसमः श्रीमान्धाता रिपुनिषूदनः ॥
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥
× × ×
स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्द्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥'

(३) 'रहनि बूझ'—क्योंकि अन्तर्यामी ही हृदय की बात जानकर उसका यथेष्ट प्रतीकार कर सकता है। कबीर साहब विनती करते हैं —

'मैं अपराधी जनम का, नख सिख भरा विकार ।
तुम दाता दुखभंजना मेरी करो सम्हार ॥
अंतरजामी एक तुम आतम के आधार ।
जो तुम छोड़ो हाथ तौ कौन उतारै पार ॥'

२३६

जाको हरि दृढ करि अंग करयो ।[1]
सोइ सुसील पुनीत बेदबिद, बिद्या गुननि भरयो ॥१॥
उतपति पांडु-तनय की करनी सुनि सतपथ डरयो ।
ते त्रैलोक्य-पूज्य, पावन जसु, सुनि सुनि लोक तरयो ॥२॥
जो निज धरम बेद-बोधित सो करत न कछु बिसरयो ।
बिनु अवगुन कृकलास कूप मज्जित कर गहि उधरयो ॥३॥

---

१ इसी भाव का सूरदासजी का भी यह पद है

जाको मनमोहन अंग कर्‌यो ।
ताको केस खस्यो नहिं सिर तें जो जग बैर पर्‌यो ॥
हिरनकसिपु परिहारि थक्यो प्रह्लाद न नेकु डर्‌यो ।
अजहूँ लौं उत्तानपाद-सुत राज करत न मर्‌यो ॥
राखी लाज द्रुपद-तनया की कोपित चीर हर्‌यो ।
दुरजोधन को मान भंग करि बसन प्रवाह भर्‌यो ॥
विप्र भक्त नृग अधकूप दिय बलि पढ़ि बेद छर्‌यो ।
दीनदयालु कृपानिधि की गुन काप कह्यो पर्‌यो ॥
जो सुरपति कोप्यो ब्रज ऊपर कहियौं कछु न सर्‌यो ।
राखे ब्रजजन नंद के लाला गिरिधर बिरद धर्‌यो ॥
जाको, बिरद है गरबप्रहारी, सो कैसे बिसर्‌यो ।
'सूरदास' भगवत भजन करि सरन गहे उधर्‌यो ॥

ब्रह्म बिसिख ब्रह्माण्ड-दहन छम गर्भ न नृपति जर्‌यो ।
अजर अमर, कुलिसहुँ नाहिन वध, सो पुनि फेन मर्‌यो ॥४॥
बिप्र अजामिल अरु सुरपति तें कहा जो नहिं बिगर्‌यो ।
उनको किये सहाय बहुत, उर को संताप हर्‌यो ॥५॥
गनिका अरु कंदर्प तें जग महँ अघ न करत उबर्‌यो ।
तिनको चरित पवित्र जानि हरि निज हृदि भवन धर्‌यो ॥६॥
केहि आचरन भला मानै प्रभु सो तो न जानि पर्‌यो ।
तुलसिदास रघुनाथ कृपा को जोवत पंथ खर्‌यो ॥७॥

भावार्थ—जिसे श्रीहरि ने दृढतापूर्वक अंगीकार कर लिया वही सुशील है, पवित्र है, वेदज्ञ है और समस्त विद्या एवं सद्गुणों से परिपूर्ण है (क्योंकि वह राम का प्यारा है इसलिए बिना बुलाये ही सबगुण उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं) ॥१॥

पाण्डु के पुत्रों की उत्पत्ति और उनकी करतूत को सुनकर समाज तक डर गया था, किन्तु वे श्रीहरि-कृपा से तीनों लोकों में पूजनीय हो गये और उनका पवित्र यश सुन सुनकर लोग (संसार सागर से) तर गये (मुक्त हो गये) ॥२॥

जो राजा नृग वेद विहित वर्णाश्रम धर्म से तनिक भी विचलित नहीं हुआ था, और जो बिना ही किसी दोष के गिरगिट होकर कुए में पड़ा हुआ था, उसे आपने हाथ पकड़कर बाहर निकाल लिया और उसका उद्धार कर दिया (गिरगिट की योनि से छुड़ाकर दिव्यलोक को भेज दिया) ॥३॥

ब्रह्माण्ड तक को भस्म कर देनेवाले (अश्वत्थामा के) ब्रह्मास्त्र से राजा (परीक्षित) गर्भ में नहीं जल सका और अजर एवं अमर (नमुचि) दैत्य जो वज्र से भी न मरा था फेन से मर गया ॥४॥

अजामिल ब्राह्मण और इन्द्र से ऐसी कौन सी बात थी जो न बिगड़ी हो? किन्तु आपने उनकी भारी सहायता की और उनका कष्ट दूर कर दिया ॥५॥

वेश्या और कामदेव ने संसार में ऐसा कौन सा पाप है जो न किया हो किन्तु भगवान ने उनका चरित्र पवित्र समझकर उन्हें भी अपने हृदय मन्दिर में स्थान दिया ॥६॥

भगवान् किस आचरण से प्रसन्न होते हैं, यह समझ में नहीं आता। तुलसीदास तो श्रीरघुनाथजी की कृपा का ही मार्ग खड़ा-खड़ा देखता रहता है (वह और कुछ नहीं जानता, केवल कृपा की ही बाट जोहता रहता है।) ॥७॥

शब्दार्थ—अंग कर्‌यो = अपना लिया पक्ष लिया। वाहित=विहित। कृकलास =गिरगिट। छम=(क्षम) समर्थ। नृपति—महाराजा परीक्षित से आशय है। कंदर्प = कामदेव। उबर्‌यो=बचा। खर्‌यो=खड़ा।

विशेष—(१) उत्पत्ति पाण्डुतनय की—पाण्डु के पाँचो पुत्र पाँच देवताओं के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। युधिष्ठिर धर्मराज से भीम वायु से अर्जुन इन्द्र से और नकुल-सहदेव अश्विनीकुमार से उत्पन्न माने जाते हैं।

(२) 'करनी'—सबसे बुरी करनी तो यही है, कि पाँचों भाइयों ने एक ही स्त्री द्रौपदी के साथ पत्नी सम्बन्ध जोड़ा।

(३) 'ब्रह्म जरयो' अश्वत्थामा ने, पाडवों को निवंश करने के लिए परीक्षित को गर्भ में ही ब्रह्मास्त्र से मारना चाहा था, परन्तु भगवत्कृपा से वह ब्रह्मास्त्र से भी बाल-बाल बच गये।

(४) 'अजर मरयो'—नमुचि दैत्य ने ब्रह्मा से यह वर माँग लिया था कि मैं किसी भी अस्त्र शस्त्र से न मारा जाऊँ न शुष्क पदार्थ से मेरी मृत्यु हो न आर्द्र से हो। देवासुर-सग्राम में इसने बड़ा घोर उत्पात किया। इन्द्र इसे जब न मार सका, तब आकाशवाणी हुई कि यह किसी भी अस्त्र शस्त्र से नहीं मारा जा सकता। इसकी मृत्यु तो समुद्र के फेन से हो सकेगी, क्योंकि वह न शुष्क है और न आर्द्र। अतः वह फेन से मारा गया।

(५) 'सुरपति'—इन्द्र ने ऋषि पत्नी अहल्या के साथ सभोग किया, विश्वरूप ब्राह्मण का वध किया, तथा और भी कई पातक मदान्ध होकर किए। इन्द्र की अनेक पापमयी कथाएँ पुराणों में प्रसिद्ध हैं।

(६) 'गनिका'—पिंगला से आशय है श्रीमुख से भगवान् ने उद्धव के प्रति इसकी प्रशसा की है।

२४०

सोइ सुकृती, सुचि, साचो जाहि राम ! तुम रीझे।
गनिका, गीध, बधिक हरिपुर गये, लै करसी प्रयाग कब सीझे ॥१॥
कबहुँ न डग्यो निगम मग ते पग, नग जग जानि जिते दुख पाये।
गज धौं कौन दिच्छित जाके सुमिरत, लै सुनाभ बाहन तजि धाये ॥२॥
सुर मुनि बिप्र बिहाय बडे कुल, गोकुल जनम गोपगृह लीन्हा।
बायों दियो बिभव कुरुपति को, भोजन जाइ बिदुर घर कीन्हो ॥३॥
मानत भलहि भलो भगतनि ते, कठुक रीति पारथहिं जनाई।
तुलसी सहज सनेह राम बस, और सबै जल की चिकनाई ॥४॥

भावार्थ—हे रामजी ! जिस पर आप प्रसन्न हो गये वही सच्चा पुण्यात्मा है और वही पवित्रात्मा। वेश्या (पिंगला) गीध (जटायु) और बहेलिया (वाल्मीकि) जो बैकुण्ठ धाम चले गये उन्होंने कब प्रयाग में जाकर घोर तप किया, और कण्डा की आग में जलकर मरे ? (पचाग्नि तप करते हुए मरे) ॥१॥

राजा नृग कभी वेदोक्त मार्ग पर से नहीं हटा था किन्तु ससार जानता है कि उसने कितने दुःख भोगे (गिरगिट की योनि पाकर हजारों वर्ष कुएँ में पड़ा सडता रहा) ! और वह हाथी कहाँ का बड़ा दीक्षित था जिसके एक बार स्मरण करते ही आप अपने वाहन गरुड को छोड़कर चक्र सुमशन लिये दौड आये ॥२॥

देवता मुनि और ब्राह्मणों के ऊँचे कुल को त्यागकर आपने गोकुल में एक ग्वाले के घर में जन्म लिया। कौरवश महाराजा दुर्योधन के ऐश्वर्य को ठुकराकर आपने दीन

विदुर के घर जाकर (साग भाजी का) भोजन किया ॥३॥

भगवान् अपने अनन्य भक्तों के साथ प्रेम का ही नाता मानते हैं। (भाव, भक्तों के प्रेमाधीन रहते हैं अन्य साधना द्वारा वश में नहीं होते।) इस अनन्य प्रेम भक्ति की रीति कुछ कुछ आपने (अपने सखा) अर्जुन को बताई थी। हे तुलसीदास! श्रीरघुनाथ जी तो सरल सहज प्रेम के अधीन हैं दूसरे जितने भी साधन हैं, वे ऐसे हैं, जैसे पानी की चिकनाई। भाव यह है कि पानी पड़ते ही थोड़ी देर के लिए, शरीर चिकना सा मालूम देता है पर सूखने पर फिर ज्यों का त्यों रूखा हो जाता है। इसी प्रकार अन्य साधनों से क्षणिक सुख मिल जाता है, किन्तु दूसरी वासना पैदा होते ही, माया की हवा लगते ही वह सुख मिट जाता है ॥४॥

शब्दार्थ—सुकृती = पुण्यकर्मा। करसी=कंडी। दिच्छित=(दीक्षित) गुरुमुख। सुनाभ=चक्र। वाहन = गरुड़ से आशय है। पारथ = पृथापुत्र अर्जुन।

विशेष—(१) न करसी सीझे — करसी के स्थान पर काशी' पाठ मानने वाले इसका यों अर्थ करते हैं —

वेश्या गिद्ध, निषाद को बैकुण्ठ ले गये सो इन्होंने काशी और प्रयाग में कब स्नान किए थे?

(२) साग बिदुर कीन्हो —एक बार अभिमानी दुर्योधन ने अपना राज्य वैभव दिखाने के लिए श्रीकृष्ण को निमन्त्रण दिया। भगवान् उसका कपट भाव ताड़ गये। उसके यहाँ न जाकर वे गरीब विदुर के घर चले गये। विदुर की साध्वी स्त्री से जब कुछ खाने को मांगा तो सूखी साग भाजी खाकर वहां परम संतोष माना। कहते हैं कि विदुर की स्त्री ने प्रमावेश में केले का गूदा तो फेंक दिया और छिलके श्रीकृष्ण के हाथ में दे दिये। सूरदासजी कहते हैं —

> सन्तन भक्त मित्र हितकारी स्याम विदुर गृह आये।
> अतिरस बाढ्यो प्रीति निरन्तर, साग मगन ह्वै खाये॥'

(३) रीति पारथहिं जनाई —श्रीकृष्ण भगवान ने सारथी बनकर अर्जुन का रथ हांका, समय समय पर उसकी भली बुरी बात सुनी फिर भी सदा मैत्री का निर्वाह किया।

(४) श्रीसूरदासजी भी इसी रीझ पर गा रहे हैं —

> जापै दीनानाथ ढरै।
> सोइ कुलीन, बड़ो सुन्दर सोइ जापर कृपा करै।
> राजा कौन बड़ो रावन तें गर्वहिं गर्व गरै॥
> रंक सु कौन सुदामा हू तें आप समान करै।
> दुखव कौन अधिक सीता तें जनम वियोग भरै॥
> अधिक कुरूप कौन कुबजा तें हरि पति पाइ बरै।
> जोगी कौन बड़ो संकर तें, ताकहं काम छरै॥
> कौन विरक्त अधिक नारद तें निसिदिन भ्रमत फिरै।
> अधम सु कौन अजामिल तें, जम तहं जात डरै॥
> सूरदास भगवत भजन बिनु फिरि फिरि जठर परै।

२४१

तव तुम मोहूँ से सठनि को हठि गति देते।[1]
कैसेहुँ नाम लेहि कोउ पामर, सुनि आदर आगे ह्वै लेते ॥१॥
पाप खानि जिय जानि अजामिल, जमगन तमकि तये ताको भेते।
लियो[2] छुड़ाइ, चले कर मीजत, पीसत दांत गये रिस रेते ॥२॥
गोतम तिय, गज, गीध, विटप कपि, हैं नाथहिं नीके मालुम जेते।[3]
तिन्ह तिन्ह काजनि साधु सभा[4] तजि कृपासिंधु तब-तब उठि गेते ॥३॥
अजहुँ अधिक आदर यहि द्वारे, पतित पुनीत होत नहिं केते।
मेरे पासगहु न पूजिहैं ह्वै गये, हैं, होने खल जेते ॥४॥
हौं अबलौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो, न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधिहै, सहि न जात मोपै परिहास एते ॥५॥

भावार्थ — तो आप मुझ-जैसे दुष्टों को भी हठपूर्वक परमगति देते। (जबकि आपने अनेक दुष्टों को परमगति दी है।) कोई कैसा ही पापी क्यों न हो, पर ज्योंही वह आपका (राम) नाम लेता है आप आदर के साथ उसे आगे जाकर लेते हैं (यह तो सिद्ध हो चुका कि आप बड़े बड़े पापियों और दुष्टों को शरण में ले लेते हैं, उन्हें संसार से मुक्त कर देते हैं। पर मुझे अभी तक क्या सुगति नहीं दी? क्या मैं वैसा दुष्ट नहीं हूँ? सो तो नहीं कुछ और ही कारण होगा।) ॥१॥

(पापियों के उद्धार के प्रमाण लीजिए) यमदूतों ने अपने मन में, अजामेल को पापों की खानि समझकर, उसे डाँट डपटकर भय दिखाते हुए कष्ट दिया, किन्तु आपने उसे उनके हाथ से छुड़ा लिया। बेचारे यमदूत हाथ मलते और दाँत पीसते हुए क्रोध भरे चले गये। (कुछ भी वश न चला) ॥२॥

गौतम की स्त्री (अहल्या) हाथी, गीध (जटायु) वृक्ष (यमलार्जुन), वानर और जो जो आपको भलीभाँति मालूम हैं, उन सबका जब कोई काम पड़ा, तब आप संत समाज को भी छोड़कर वहाँ से चल दिये (उनका कष्ट आपको क्षण मात्र भी सहन न हो सका।) ॥३॥

आपके दरवाजे पर आज भी पापियों का बड़ा आदर है। न जाने कितने पापी यहाँ नित्य पवित्र बनाये जाते हैं। संसार में जितने भी पापी हुए हैं, मौजूद हैं, और आगे होंगे वे सब मेरे पासँग में भी पूरे न होंगे। (तब तो मेरा उद्धार सबसे पहले होना चाहिए था, पर अभी तक हुआ नहीं, इसका कारण क्या है?) ॥४॥

अब तक तो मैं आपके करतब की ओर टक लगाये देख रहा था (कि कब आप मुझे शरण में लेते हैं) पर आपने इधर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। इसलिए अब

१ पाठान्तर 'तौ तुम मोहूँ से सठनि को हठि गति न देते।'
२ पाठान्तर 'लिए'।
३ पाठान्तर 'ते ते'।
४ पाठान्तर 'तिन्हके काज साधु-समाज।'

तुलसीदास आपके नाम का पुतला बाँधेगा, क्योंकि मुझसे अब इतना अधिक उपहास सहन नहीं हो सकता। (लोग तालियाँ पीट-पीटकर कहते हैं, कि देखो, यह कैसा पाखंडी है! बना घूमता था रामदास यह! यदि यह रामदास होता, तो क्या इस तरह मारा-मारा फिरा करता?) ॥५॥

शब्दार्थ—गति=मोक्ष। पामर=पापी। तमकि=क्रोध करके। रिस रेते=क्रोधित। विटप=यमलार्जुन से आशय है। गे ते=वे गये थे। पासंग=तराजू के पलड़े की कसर।

विशेष—(१) 'कैसेहुँ लेते'—विभीषण इस प्रसंग का प्रमाण है। शरण में जाते ही भगवान ने उसका कैसा आदर सत्कार किया यह किसी से छिपा नहीं है—

'रामहि करत प्रनाम निहारिकै।
उठे उमगि आनंद प्रेम परिपूरन बिरद बिचारिकै॥
भयो बिदेह बिभीषन उत इत प्रभु अपुनपो बिसारिकै।
भली भाँति भावते भरत ज्यों भेंटयो भुजा पसारिकै॥
सादर सबहि मिलाइ समाजहि, निपट निकट बैठारिकै।
बूझत छेम कुसल सप्रेम अपनाइ भरोसे भारिकै॥
नाथ! कुसल कल्यान सुमंगल बिधि सुख सकल सुधारिकै।
देत लेत जे नाम रावरो बिनय करत मुख चारिकै॥
जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि महेस मन मारिकै।
तुलसी तेहि हौं लियो अंक भरि कहत कछू न सँवारिकै॥
[गीतावली

(२) पूतरा बाँधिहै—जब नटों को खेल दिखाने पर कुछ भी नहीं मिलता, तब वे कपड़े का पुतला बाँस पर लटकाकर कहते हैं कि देखो यह सूम है। सूम इस नकल से लज्जित होकर उनको कुछ-न-कुछ दे ही देता है। इसी तरह मैं भी एक पुतला बना कर लिये फिरूँगा। लोग जब पूछेंगे कि यह क्या है तो यही उत्तर दूँगा कि यह सूम शिरोमणि अयोध्याधिप महाराजा रामचन्द्रजी हैं। इससे आप अवश्य लज्जित हो जायँगे, और तब मुझे अपनाना ही पड़ेगा।

२४२

तुम सम दीनबंधु न दीन कोउ मोसम, सुनहु नृपति रघुराई।
मोसम कुटिल मौलिमनि नहिं जग, तुमसम हरि न हरन कुटिलाई॥१॥
हौं मन बचन करम पातक रत, तुम कृपालु पतितन-गतिदाई।
हौं अनाथ प्रभु! तुम अनाथ हित, चित यहि सुरति कबहुँ नहिं जाई॥२॥
हौं आरत आरति-नासक तुम, कीरति निगम पुराननि गाई।
हौं सभीत, तुम हरन सकल भय, कारन कवन कृपा बिसराई॥३॥
तुम सुखधाम राम स्रम भंजन, हौं अति दुखित त्रिबिध स्रम पाई।
यह जिय जानि दासतुलसी कहँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई॥४॥

भावार्थ—हे महाराज रामचन्द्रजी ! आपके समान तो कोई भी दीनजनों का भला करनेवाला बन्धु नहीं है, और मेरे समान कोई दीन नहीं। संसार में मेरी बराबरी का दूसरा कोई कुटिल शिरोमणि नहीं है, और आपके बराबर हे नाथ ! कुटिलता का नाश करनेवाला कोई नहीं है ॥१॥

मैं मन से, वचन से और कर्म से पापों में निरत रहता हूँ और हे कृपालो ! आप पापियों को मोक्ष देनेवाले हैं। हे प्रभो ! मैं अनाथ हूँ मेरा कोई धनी धोरी नहीं, और आप अनाथों का हित करनेवाले हैं। यह बात मेरे मन से कभी नहीं जाती ॥२॥

मैं दुखी हूँ तो आप दुःखों का निवारण करनेवाले हैं ! आपका यह यश वेदों और पुराणों ने गाया है। मैं संसार से डरा हुआ हूँ (जन्म मरण के असह्य दुःख से डर रहा हूँ) और आप सब भय नाश करनेवाले हैं। (जब आपमें और मुझमें इतने सारे नाते हैं तब) क्या कारण है कि आप मुझ पर कृपा नहीं करते ? ॥३॥

हे श्रीरामजी ! आप आनन्द के धाम तथा श्रम के हरनेवाले हैं। मैं भी संसार के तीनों (दैहिक दैविक और भौतिक) श्रमों से अत्यन्त दुखी हो रहा हूँ। सो, अपने मन में इन सब बातों पर विचार करके और अपनी प्रभुता को समझकर तुलसीदास को अपनी शरण में अब रख ही लीजिए ॥४॥

शब्दार्थ—रत = लगा हुआ। गति=मोक्ष। त्रिविध स्रम = दैहिक भौतिक और दैविक दुःख।

विशेष—(१) इस पद में गोसाइंजी ने जीव और ब्रह्म के, दास्यभाव के अनुसार, अनेक सम्बन्ध गिनाये हैं। कवितावली में इसी अनेकविध सम्बन्ध को दूसरे ढंग से कहा है —

> 'राम मातु पितु, बंधु, सुजन गुरु, पूज्य परमहित।
> साहिब, सखा सहाय, नेह नाते पुनीत चित ॥
> देस कोस कुल कर्म, धर्म, धन, धाम धरनि गति।
> जाति पाँति सब भाँति लागि रामहिं हमारि पति ॥
> परमारथ, स्वारथ, सुजस सुलभ राम तें सकल फल।
> कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम तें मोर भल।'

२४३

यहै जानि चरनन्हि चित लायो।

नाहिन नाथ ! अकारन को हितु, तुम समान पुरान स्रुति गायो ॥१॥

जननि, जनक, सुत दार, बंधुजन भये बहुत जहँ-जहँ हौं जायो।

सब स्वारथहित प्रीति कपट चित काहू नहिं हरिभजन सिखायो ॥२॥

सुर-मुनि मनुज दनुज अहि किन्नर मैं तनधरि सिर काहि न नायो।

जरत फिरत त्रयताप पापबस काहु न हरि ! करि कृपा जुड़ायो ॥३॥

जतन अनेक किये सुखकारन हरिपद विमुख सदा दुख पायो।

अब थाक्यो जलहीन नाव ज्यों देखत विपति जाल जग छायो ॥४॥

मो कहँ नाथ ! बूझिये यह गति सुख-निधान निज पति बिसरायो ।
अब तजि रोष करहु करुना हरि ! तुलसिदास सरनागत आयो ॥५॥

भावार्थ—मैंने जानकर मन आपके चरणों में इसलिए लगाया है, कि हे नाथ ! आपके समान, बिना ही कारण हित करनेवाला कोई दूसरा नहीं है, ऐसा वेदों और पुराणों ने कहा है (आपको ही मैंने निष्कारण हितू सुना है अतः सब ओर से मन को हटाकर आपके चरणारविन्दों में लगा लिया है) ॥१॥

जहाँ-जहाँ (जिस जिस योनि में) मैंने जन्म लिया वहाँ-वहाँ मेरे बहुत से पिता माता पुत्र स्त्री और भाई बन्धु हुए। ये सब अपना स्वार्थ साधन के लिए ही प्रेम करते रहे, पर मन में उनके छल-कपट रहा। किसी ने भी मुझे हरिभजन का उपदेश नहीं दिया (संसार-जाल में फँसने की ही सलाह दी छूटने की शिक्षा किसी ने भी न दी।) ॥२॥

शरीर धारण कर देवता मुनि मनुष्य राक्षस सर्प किन्नर आदि किसे मैंने सिर नहीं नवाया किसके पैरों पर नहीं पड़ा ? किन्तु हे हरे ! पाप के परिणामस्वरूप तीनों तापों से जलते हुए मुझे किसी ने तो दयाकर शीतलता प्रदान नहीं की (वे बेचारे स्वयं ही जब जले जा रहे हैं तो मुझे क्या शीतलता देंगे ?) ॥३॥

मैंने सुख प्राप्ति के अर्थ अनेक उपाय किए पर हरि चरणों से विमुख होने के कारण सदा दुःख ही मिला। संसार में विपत्तियों का जाल बिछा हुआ देखकर अब मैं (सब साधना से) ऐसा थक गया हूँ, जैसे बिना पानी के नौका थक जाती है (नाव तो तभी चल सकती है जब पानी हो बिना पानी के वह कैसे चलेगी ? इसी तरह भगवद् भक्ति रूपी यदि जल का आधार है, तो साधनरूपी नौका चलेगी। बिना इस आधार के नौका का चलना सम्भव नहीं) ॥४॥

हे नाथ ! मेरी यह दशा इसीलिए हुई है कि मैंने अपने सुख निधान स्वामी को भुला दिया। हे हरे ! अब मेरे दोषों का विचार छोड़कर इस शरणागत तुलसीदास पर दया कीजिए ॥५॥

शब्दार्थ—जायो=जन्म लिया। जुड़ायो=ठंडा किया शान्त किया।

विशेष—(१) 'जननि ... जायो'—ऐसे स्वार्थी माता पिता व भाई-बन्धुओं के विषय में गोसाइंजी ने कहा है —

जरउ सो संपति सदन, सुख, सुहृद मातु पितु, भाइ।
सनमुख होत जो रामपद, करइ न सहज सहाइ॥'

[दोहावली

(२) 'हरिपद ... पायो'—

बिनु गुरु होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु ?
गावहिं बेद-पुरान सुख कि लहिय हरिभगति बिनु ?

[रामचरितमानस

(३) 'सुखनिधान निज पति'—वास्तव में इस जीव का सच्चा पति तो परमात्मा ही है। निज पति को भुला देने से जीव को विधवा की तरह, कैसी-कैसी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। कबीर साहब परम विरहाकुल होकर 'सुखनिधान निजपति' से मिलने

के लिए कसे अधीर हो रहे हैं —

> 'अविनासी दुलहा कब मिलिहौ भक्तन के रछपाल।
> जल उपजी जल ही सो नेहा, रटत पियास पियास।
> मैं ठाढ़ी बिरहिन मग जोऊ, प्रियतम तुमरी आस॥
> छोड़े गेह नेह लगि तुम सो, भई चरन लौलीन।
> तालाबेलि होत घट भीतर, जैसे जल बिन मीन॥
> दिवस न भूख रैन नहिं निंदिया, घर अँगना न सुहाय।
> सेजरिया बरिन भइ हमको, जागत रैन बिहाय॥
> हम तो तुमरी दासी, सजना तुम हमरे भरतार।
> दीनदयाल दया कर आवो, समरथ सिरजनहार॥
> कै हम प्रान तजत हैं प्यारे, कै अपनी कर लेव।
> दास कबीर बिरह अति बाढ्यो, हमको दरसन देव॥'

२४४

याहि तें मैं हरि! ग्यान गँवायो।
परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं, बाहर फिरत बिकल भयो धायो॥१॥
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद अति मतिहीन मरम नहिं पायो।
खोजत गिरि, तरु, लता भूमि, बिल परमसुगंध कहाँ तें आयो॥२॥
ज्यों सर बिमलबारि-परिपूरन, ऊपर कछु सिवार तृन छायो।
जारत हियो ताहि तजि हौं सठ, चाहत यहि बिधि तृषा बुझायो॥३॥
व्यापत त्रिबिध ताप तनु दारुन तापर दुसह दरिद्र सतायो।
अपनेहिं धाम नाम-सुरतरु तजि बिषय-बबूर बाग मन लायो॥४॥
तुम सम ग्यान निधान, मोहि सम मूढ़ न आन पुराननि गायो।
तुलसिदास प्रभु! यह बिचारि जिय कीजै नाथ उचित मन भायो॥५॥

भावार्थ—हे हरे! अपने हृदय कमल में स्थित वस्तु को छोड़कर जो मैं बाहर, इधर इधर अनेक साधनों के पीछे व्याकुल होकर दौड़ता फिरा, यही कारण है कि मैंने (आत्म) ज्ञान को खो दिया (अज्ञान में पड़ गया, जिसका फल यह हुआ कि आज तक आपके दर्शन नहीं हुए।) ॥१॥

जैसे महामूर्ख मृग अपने ही शरीर में (नाभि के भीतर) सुन्दर कस्तूरी के होते हुए भी उसका रहस्य नहीं जानता और पहाड़, पेड़, लता, धरती और बिलों में खोजता फिरता है, कि यह उत्तम सुगन्ध आ कहाँ से रही है। (उसी प्रकार मैं इधर उधर सुख पाने के लिए दौड़ रहा हूँ, यद्यपि अखंड आनन्दस्वरूप परमात्मा मेरे अन्तर में ही निवास कर रहे हैं। यह मेरा भ्रम नहीं तो और क्या है?) ॥२॥

सरोवर निर्मल पानी से पूरा भरा हुआ है, पर ऊपर से कुछ सिवार घास छायी हुई है। उस तालाब का स्वच्छ जल छोड़कर मैं दुष्ट अपना हृदय जला रहा हूँ और इस प्रकार अपनी प्यास बुझाना चाहता हूँ! (भाव यह है कि हृदय-सरोवर में आत्मा-

नन्दरूपी जल अगाध भरा है पर माया मोह की सिवार ऊपर छा जाने से यह दिखायी नही देता और यह जीव आनन्द जल की उत्कण्ठा से व्याकुल हो रहा है, त्रिविध ताप से जला जा रहा है ॥३॥

एक तो वैसे ही शरीर में त्रिविध ताप व्याप रहे हैं जो असह्य हैं और तिस पर दारुण दरिद्रता सता रही है। यह इसलिए हुआ कि अपने ही घर में राम नामरूपी कल्प वृक्ष को छोडकर मैंने विषयरूपी बबूल के बाग में अपना मन लगा रखा है ॥४॥

आपके समान तो दानराशि और मेरे समान मूर्ख कोई दूसरा नही है यह बात पुराणों ने कही है। हे नाथ ! इस बात को ध्यान में रखकर आपको जो उचित लगे, वहा इस तुलसीदास के लिए कीजिए ॥५॥

शब्दार्थ—मद=कस्तूरी से आशय है। सिवार=पानी में होनेवाली एक प्रकार की घास।

विशेष—(१) 'बाहर फिरत धायो'—किसी किसी टीकाकार के मत से बाहर शब्द का अर्थ तीर्थ यात्रा मूर्ति पूजा आदि है। पर यह ठीक नही जान पडता क्योंकि गोसाइंजी ने तीर्थ-यात्रा और मूर्ति पूजा का खंडन नही किया बल्कि उन्हें भगवत्प्राप्ति का साधन बताया है। 'बाहर' से तो आशय यह है, कि भ्रमपूर्ण सासारिक सुखों में परमानन्द की इच्छा करना कैसे बन सकता है ? अत 'विषयासक्ति' ही यहा बाहर है।

(२) कुरंग—कबीर साहब कहते हैं —

तेरा साइं तुझ में, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर फिर ढूंढे घास ॥'

। २४५ ।

मोहिं मूढ मन बहुत बिगोयो।
याके लिये सुनहु करुनामय, मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयो ॥१॥
सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहिं रहत, दूर जनु खोयो।
बहु भातिन स्रम करत मोहबस, बृथहि मदमति बारि बिलोयो ॥२॥
करम कीच जिय जानि, सानि चित, चाहत कुटिल मलहिं मल धोयो।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास निचोयो ॥३॥
तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब, मैं निज दोष कछू नहिं गोयो।
डासत ही गइ बीति निसा सब कबहुँ न नाथ ! नींद भरि सोयो ॥४॥

भावार्थ—इस मूर्ख मन ने मेरा खूब ही नाश किया। सुनिए हे करुणामय ! इसीके कारण मैं बार-बार जगत में जन्म लेकर रोता रोता फिरा ॥१॥

शीतल मधुर अमृत के समान सहज आत्मानन्द का जो समीप ही रहता है, मैंने इसके फेर में पडकर यों भुला दिया जैसे वह बहुत दूर हो। अज्ञानवश मन अनेक प्रकार से श्रम किया। मंद मूर्ख ने व्यर्थ ही पानी को मथा। (विषय वासनाओं का जल मथकर उसमें से आत्मानन्दरूपी मक्खन निकालना चाहा। पर कहीं पानी में से भी मक्खन निकलता है ? वह तो भगवद्भक्तिरूपी दूध से ही निकलेगा।) ॥२॥

यद्यपि यह जानता था कि कम काचड ह, फिर भी चित्त को उसी में सान दिया और मल से ही मल को धोया चाहा। (देखते हुए भी अंध की तरह विषय वासना के पंक में जा फँसा) । म ऐसा दुष्ट और मूख हू कि प्यास के मारे गगा को छोडकर बार बार व्याकुल हो आकाश को निचाड रहा हू। (दु खरूप विषया से चिपटकर आत्मा नन्द प्राप्त करने की चेष्टा करता फिरता हूँ।) ॥३॥

ह नाथ! मने अपना एक भी अपराध नही छिपाया, अत अब इस तुलसीदास पर कृपा कीजिए। बिस्तर बिछान बिछान ही सारा रात बीत गई पर हे नाथ! कभी नीदभर नही सोया। (सुख प्राप्ति के उपाय करत करते ही सारा जीवन बीत गया पर सच्चा भरपूर सुख आज तक कभो न मिला। वह अखड सुख निद्रा कवल आपकी कृपा स ही आ सकती ह अन्यथा नही) ॥४॥

शब्दार्थ—बिगोयो=बिगडा । सहजसुख=आत्मानन्द । बिलोयो=मथन किया। कीच=कीचड। निचोयो=निचाडा। गोयो=छिपाया। डासत=बिछौना बिछाते हुए।

विशेष—(१) माहि बिगोयो —बबाद करेगा ही, क्योंकि—

बाजीगर का बदरा ऐसा जिउ मन साथ।
नाना नाच नचाइक राख अपने हाथ॥'

—कबीरदास

(२) 'कम कीच'—इस पद मे यह न समझ लिया जाय कि गोसाइजी ने कम योग का खडन किया ह। निष्काम कम का आदेश ता वह यत्र-तत्र द ही रहे ह। यहाँ सकाम और विषयासक्त कम स तात्पय ह, जा वास्तव में बधन का कारण ह।

(३) मलहि मल धोयो —

'मल की जाइ मलहि के धोये ?'

[रामचरितमानस

यह तो—

'राम भक्ति जल बिनु खगराई। अभ्यतर मल कबहुँ न जाई।'

(४) तृषावत निचोयो'—यो भी कहा ह—

तृषितो जाह्नवीतीरे कूप वाञ्छति दुभग।'

किन्तु गोसाइजी की यह उक्ति इससे भी बढकर ह। 'आकाश निचोयो' में एक निराला ही चमत्कार ह।

२४६

लोक-वेद हूँ विदित बात सुनि समुझि
मोह मोहित विकल मति थिति न लहति।
छोटे बडे, खोटे-खरे, मोटेऊ दूबरे,
राम! रावरे निबाहे सबही की निबहति ॥१॥

होतो जो आपने बस रहतो एक ही रस,
　　　　दुनी न हरष-सोक साँसति सहति।
चहतो जो जोई-जोई लहतो सो सोई-सोई,
　　　　केहू भाँति काहू की न लालसा रहति ॥२॥
करम, काल सुभाउ गुन-दोष जीव जग मायातें
　　　　सो सभय भौंहै चकित-चहति।
ईसनि, दिगीसनि जोगीसनि, मुनीसनि हूँ,
　　　　छोड़ति छोड़ाये तें गहाये तें गहति ॥३॥
सतरंज को सो राज काठ को सब समाज,
　　　　महाराज बाजी रची प्रथम न हुति।
तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो-जीतिबो नाथ !
　　　　बहु बेष, बहु मुख सारदा कहति ॥४॥

भावार्थ—छोटे-बड़े बुरे भले आगे और दुबल, इन सबको हे श्रीरामजी ! आपके ही निमान से निभनी है—यह बात संसार और वेदों में प्रकट है। किन्तु इन सुन कर और विचारकर भी मोहवश मेरी बुद्धि ऐसी व्याकुल हो रही है कि वह स्थिर नहीं हो रही है ॥१॥

जो यह अपने वश में होता तो सदा एक रस ही न रहती। न किसी को हर्ष होता न शोक। और न यातना ही भोगनी पड़ती। जो जिस वस्तु की इच्छा करता वही उसे मिल जाती। किसी की कोई भी इच्छा बाकी न रहती (सारी कामनाएँ पूरी हो जाती।) ॥२॥

किन्तु ऐसा है नहीं। कर्म काल स्वभाव गुण और दोष ये सब आपकी माया से हैं और वह माया भी मारे डर के भौंचक्की सी होकर आपकी भ्रुकुटि की ओर देखती रहती है (आपके रुख पर चलती है)। वह माया शिव, ब्रह्मा और दिग्पालों को, योगीश्वरों और मुनीश्वरों को आपके ही छुड़ाने से छोड़ती है और आपके ही पकड़ाने से पकड़ लेती है ॥३॥

इस माया का सारा समाज शतरंज का-सा राज्य है (झूठा है) सब काठ का बना है। असल में न तो कोई राजा है, न कोई वजीर। महाराज ! शतरंज की यह बाजी आपकी ही रची हुई है। यह पहले नहीं थी। तुलसीदास कहते हैं, कि हे प्रभो ! इस बाजी की हार जीत आपके ही हाथ में है (चाहे हराइए चाहे जिताइए चाहे बन्धन में डाल दीजिए चाहे मुक्त कर दीजिए) यह बात सरस्वती ने अनेक रूप धारणकर, अनेक मुखों से कही है ॥४॥

शब्दार्थ—थिति = (स्थिति) स्थिरता, शांति। दुनी=दुनिया। साँसति=कष्ट। लालसा=इच्छा। हुति=था।

विशेष—(१) 'राम निबहति कहा है

हुइ है वहि जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावहि साखा ॥'

×　　　　×　　　　×

'राम कीन्ह चाहइ सो होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'

(२) 'छोडति गहति'—प्रमाण है,

'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।'

[भगवद्गीता

तथा,

'उमा दारु-जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥

(३) 'सतरज इति'—श्रीवैजनाथजी का निम्नलिखित प्रद चमत्कार द्रष्टव्य है

"हे रघुनन्दन! हे महाराज! मोह दल लक्ष माया, तथा विवेक दल लैके जीव दोऊ बाजी रचे खेलि रहे हैं, तथा प्रथम जो मोह का सेना है सो न हति नहीं मारे जाते हैं और पीछे कहे जो विवेक सेना सो मरत जाती है अर्थात् श्रवण, त्वचा नेत्र, रसना, नासिका, हाथ, पद लिंग इति आठ कोठा है, पुनः प्रकृति बुद्धि अहंकार शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इति आठो पाँतिन के चौंसठि कोठा भये पुनः माया के दिशि माह बादशाह वाकी मिथ्या दृष्टि आठहू दिशि की चाल विवेक-दल को नाश करता है। काम वजीर पर-स्त्री में रति टेढ़ी चाल विवेक नाश करता है।' इत्यादि।

(४) बहु बेष बहु मुख —अनेक भाषाओं और युक्तियों से तात्पर्य है।

२४७

राम जपु, जीह! जानि, प्रीति सों प्रतीति मानि,
रामनाम जपे जैहै जिय की जरनि।
रामनाम सो रहनि, रामनाम की कहनि।
कुटिल-कलि मल-सोक सकट-हरनि ॥१॥
रामनाम को प्रभाउ पूजियत गनराउ,
कियो न दुराव, कही आपनी करनि।
भव-सागर को सेतु, कासी हूँ सुगति हेतु
जपत सादर सम्भु सहित घरनि ॥२॥
वालमीकि व्याध हे, अगाध अपराध निधि,
'मरा मरा' जपे पूजे मुनि अमरनि।
रोक्यो विंध्य, सोख्यो सिंधु घटजहूँ नाम-बल
हारयो हियँ, खारो भयो भूसुर डरनि ॥३॥
नाम महिमा अपार सेष सुक बार-बार
मति अनुसार बुध वेदहूँ बरनि।
नामरति-कामधेनु तुलसी को कामतरु
रामनाम है बिमोह तिमिर-तरनि ॥४॥

भावार्थ—हे जीभ! तू राम-नाम का जप कर, उसे (यथार्थ) जान। (नाम-

सम्बन्धी यथेष्ट तत्त्व को प्राप्त कर और प्रेमपूर्वक उसमें विश्वास कर। एक राम-नाम के जप से ही तेरा हृदय की जलन शान्त हो सकेगी। राम नाम के परायण हो (आचरण रामनाम के अनुकूल कर) और राम-नाम ही का कथन किया कर। कुटिल कलियुग के पापों, दुःखों और अनिष्टों को हरनेवाली यह राम-नाम की प्रपन्नता है ॥१॥

राम-नाम के प्रभाव से गणेश (सर्वप्रथम) पूजे जाते हैं। गणेशजी ने अपनी करनी को स्वयं कहा है कुछ छिपाव नहीं रखा (किस प्रकार वह सर्वप्रथम पूज्य माने गये यह कथा स्वयं उन्होंने अपने मुख से सुनाई है।) यह राम नाम संसाररूपी समुद्र का पुल है (इस पर चढ़कर भक्तजन सहज ही भव-सागर पार हो जाते हैं)। काशी में भगवान शंकर भी पार्वती के सहित जीवों को मोक्ष प्रदान करने के लिए राम-नाम को जपा करते हैं ॥२॥

वाल्मीकि बहेलिये के अगणित पाप थे किन्तु उल्टा भी नाम मरा-मरा जप कर वे ऐसे (महात्मा) हो गये कि मुनियों और देवताओं ने भी उनकी पूजा की। अगस्त्य ऋषि ने भी इसी नाम के बल पर विन्ध्याचल को (आकाश बढ़ने से) रोक लिया और समुद्र को सुखा दिया था। पीछे वह समुद्र उन्हीं ब्राह्मण (अगस्त्य) से मन में हार मानकर खारा हो गया ॥३॥

नाम की महिमा अपार है। शेष, शुकदेव, वेदों और पण्डितों ने बारबार अपनी बुद्धि के अनुसार इसका वर्णन किया है। राम-नाम से प्रीति का होना तुलसीदास के लिए मानो कामधेनु है और कल्पवृक्ष है। अधिक क्या रामनाम अज्ञानान्धकार नष्ट करने के लिए साक्षात् सूर्य है ॥४॥

शब्दार्थ—गनराउ = गणेश। घरनि = स्त्री पार्वती से तात्पर्य है। है = थे। घटज = घड़े से उत्पन्न अगस्त्य ऋषि।

विशेष—(१) राम जपु जरनि — दोहावली में गोसाइँजी ने राम-नाम की भूरि भूरि महिमा गाई है। इस सिद्धान्त के पुष्टिरूप कई दोहे मिलते हैं। जैसे

रामनाम रति राम गति, राम नाम विस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल दुहुँ दिसि तुलसीदास॥
प्रीति प्रतीति सुरीति सों, रामनाम जपु राम।
तुलसी तेरो है भलो आदि मध्य, परिनाम॥
सकल कामनाहीन जे, राम भगति रसलीन।
नाम प्रेम पीयूष ह्रद तिनहुँ किये मन मीन॥
हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना नाम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥

(२) पूजियत गनराउ = कहते हैं कि बालकपन में गणेश बड़े उत्पाती थे। एक तो हाथी के जैसे भयंकर दूसरे शिवजी के गणों के नायक। इन्होंने सकड़ों मुनियों को मारा वृक्ष गिरा दिये जंगल उजाड़ डाले। शिवजी बड़ी चिन्ता में पड़ गये। श्रीराम का स्मरण किया। प्रकट होकर भगवान ने शंकर से अपने आवाहन का कारण पूछा। शंकरजी ने अपने पुत्र गणेश की कथा कह सुनाई। बोले—कुछ ऐसा उपाय बतलाइए जिससे मेरा पुत्र ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाय। भगवान ने गणेशजी को रामनाम जपने का उप देश दिया। अनन्य निष्ठा से श्रीराम-नाम-स्मरण से गणेशजी शुद्ध हो गये और मगन

मूर्ति माने जाने लगे। गणेशजी ने स्वय कहा है—

'ततस्तद्गृह्लादेव निष्पापोऽस्मि तदथ हि।
तदादिसवदेवानां पूज्योऽस्मि मुनिरुत्तम॥'

इस कथा का ब्रह्मपुराण में उल्लेख ह।

(३) 'सभु सहित धरनि'—शिवजी ने स्वय कहा ह—

अहो भवन्नाम जपन कृतार्थो वसामि काश्यामनिश भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽह दिशामि मत्र तव रामनाम॥'

[अध्यात्म रामायण

(४) 'रोक्यो विन्ध्य'—एक पुराण कथा ह कि विन्ध्याचल अत्यन्त ऊँचा पर्वत था। सूय के प्रचण्ड तेज के कारण जब उसके वृक्ष जलने लगे, तब उसे बडा क्रोध आया और सूय को ढक देने के लिए वह अपना शरीर बढाने लगा। देवता घबराए। अगस्त्य ऋषि से उन्होने प्राथना की। महर्षि ने राम-नाम का स्मरण कर विन्ध्याचल के मस्तक पर हाथ रखकर उससे कहा, 'देख जब तक म लौट न आऊँ, तब तक तू यहाँ ऐसा ही पडा रह।' अगस्त्य फिर कभी न लौटे और न वह उठा! वैसा ही पडा रहा। यह राम नाम का प्रभाव ह।

(५) सोख्यो सिन्धु—पौराणिक कथा ह कि एक दिन सध्या समय महर्षि अगस्त्य समुद्र तट पर पाठ-पूजा कर रहे थे। दिन पूर्णिमा का था। समुद्र का ज्वार प्रतिक्षण बढने लगा। उसकी ऊँची ऊची लहरें महर्षि की पूजा सामग्री बहा ले गइ। उन्हें बडा क्रोध आया और राम' ऐसा कहकर तीन आचमन से सारे समुद्र को सुखा दिया। पीछे देवताओं के सविनय आग्रह से मूत्र के माग से, खारा बनाकर, उसे बाहर निकाल दिया।

(६) कामतरु रामनाम'—

रामनाम कलि कामतरु सकल सुमगलकन्द।
सुमिरत करतल सिद्धि सब पग-पग परमानन्द॥
नाम राम को कलपतरु कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भाग तें तुलसी तुलसीदास॥

[दोहावली

२४८

पाहि पाहि राम! पाहि रामभद्र, रामचन्द्र!
सुजस स्रवन सुनि आयो हौं सरन।
दीनबधु! दीनता दरिद्र दाह-दोप दुख
दारुन दुसह दर दुरित¹—हरन॥१॥
जब जब जग-जाल-व्याकुल करम काल
सब खल भूप भये भूतल भरन।
तब-तब तनु धरि भूमि भार दूरि करि
थापे मुनि, सुर, साधु, आस्रम-बरन॥२॥

---

१ पाठान्तर 'दरप

वेद लोक, सब साखी, काहू की रती न राखी,
रावन की बंदि लागे अमर मरन।
ओक दै बिसोक किये लोकपति लोकनाथ
रामराज भयो धरम चारिहु चरन ॥३॥
सिला, गुह, गीध, कपि, भील, भालु, रातिचर,
ख्याल ही कृपालु कीन्हे तारन-तरन।
पील उद्धरन ! सीलसिन्धु ! ढील देखियतु
तुलसी पै चाहत गलानि ही गरन ॥४॥

भावार्थ—हे श्रीरामजी ! कल्याणस्वरूप रघुनाथजी ! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। आपका सुयश सुनकर मैं शरण आया हूँ। हे दीनबन्धो ! आप दीनता, दरिद्रता, सन्ताप, दोष असह्य दुःख, भय तथा पापों का नाश करनेवाले हैं। मैं भी दीन हूँ, दरिद्र हूँ, त्रिताप से जल रहा हूँ, अपराधी हूँ अत्यन्त दुखी हूँ संसार से भयभीत हूँ और महान् पापी हूँ। विश्वास है आप मुझे इन दोषों से छुटकारा देकर अंगीकार कर लेंगे संसार सागर से पार उतार देंगे ॥१॥

जब-जब आपके भक्त जगज्जाल में फँसकर दुखी हुए, काल और कर्म के वश में जा पड़े और पृथिवी पर दुष्ट राजे भाररूप हो गये तब तब आपने अवतार ले-लेकर पृथिवी पर का भार दूर किया (दुष्टों का नाश कर दिया) और मुनि देव, साधु संत एवं वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की ॥२॥

वेदों और संसार दोनों में ही प्रसिद्ध है, कि जब रावण ने किसी का भी मान न रहने दिया, सबको निस्तेज व ऐश्वर्यहीन कर दिया और उसके कारागृह में पड़े-पड़े कभी न मरनेवाले देवता भी मरने लगे तब हे भगवन् ! आपने ही लोक-पतियों का, इन्द्र, कुबेर आदि का आश्रय देकर निश्चिन्त किया और उन्हें फिर से लोकों का अधिष्ठाता बनाया (जिसका जो लोक था, उसे वह दिला दिया)। आपके राज्य में तब धर्म चारों चरणों से युक्त हो गया (सत्य, तप दया और दान पनप उठे।) ॥३॥

हे कृपामूर्ते ! आपने लीलापूर्वक ही अहल्या, निषाद, जटायु वानर भील, भालु और राक्षसों को तरण-तारण बना दिया (उन्हें तो मुक्त किया ही, साथ ही उन्हें ऐसा पवित्र बना दिया कि उनके संसर्ग मात्र से दूसरे भी संसार-बन्धन से छूट गए)। हे गजेन्द्र उद्धारक ! हे शीलसागर ! इस तुलसी पर जो आपकी ओर से ढील सी दिखाई देती है, उससे यह ग्लानि के मारे गला चाहता है। (उसे इस बात पर लज्जा आ रही है कि बड़े-बड़े पापी तो तर गये, यही क्यों अभी तक बन्धन में पड़ा सड़ रहा है।) अतएव कृपाकर शीघ्र ही उसे अपना लीजिए ॥४॥

शब्दार्थ—पाहि=रक्षा करो। दुरित=पाप। भरन=भाररूप। थापे=स्थापित किए। रती=तेज। अमर=देवता। ओक=आश्रय। सिला=पत्थर यहाँ अहल्या से तात्पर्य है। रातिचर=राक्षस। ख्याल ही=लीलापूर्वक, या हो। पील=हाथी।

विशेष—(१) 'जब जब ... बरन'—यह गीता के निम्नलिखित श्लोकों का

छायानुवाद जान पड़ता है—

> 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥'

२४६

भली भाँति पहिचाने-जाने साहिब जहाँ लौं जग
जूडे होत थोरे ही थोरे ही गरम ।
प्रीति न प्रवीन, नीतिहीन, रीति के मलीन,
मायाधीन सब किये कालहू करम ॥१॥
दानव-दनुज बडे महामूढ मूड चढे
जीते लोकनाथ नाथ बलनि भरम ।
रीझि-रीझि दिये वर खीझि-खीझि घाले घर,
आपने निवाजे की न काहू को सरम ॥२॥
सेवा सावधान तू सुजान समरथ साचो
सदगुन धाम राम ! पावन परम ।
सुरुख, सुमुख, एकरस एकरूप, तोहि
विदित विसेषि घटघट के मरम ॥३॥
तोसो नतपाल न कृपाल, न कँगाल मो सो
दया में बसत देव सकल धरम ।
राम कामतरु-छाँह चाहै रुचि मन माँह
तुलसी बिकल, बलि, कलि कुधरम ॥४॥

भावार्थ—दुनिया में जहाँ तक मालिक हैं, उन्हें मैंने अच्छी तरह समझ और पहचान लिया है । वे थोड़े में ही प्रसन्न हो जाते हैं और थोड़े में ही नाराज हो उठते हैं । (यह बात नहीं, कि जिसे बना लिया उसे फिर बिगाड़ना क्या ? जरा-सा भूल हो जाने पर, वे अपने सेवकों का सर्वनाश तक कर डालते हैं) । न तो वे प्रेम के निभाने में ही कुशल हैं, और न नीति को ही समझते हैं । उनका बर्ताव कपट से भरा है, क्योंकि काल, कर्म और माया ने उन्हें अपने अधीन कर रखा है ॥१॥

हे नाथ ! बल के भ्रम में महामूढ़ बड़े-बड़े दैत्य दानव सिर पर चढ़ गये थे और उन्होंने लोकपालों को भी जीत लिया था । इन लोगों का इनके स्वामियों ने (ब्रह्मा, शिव आदि ने) पहले तो प्रसन्न होकर वरदान दिये पर पीछे इनके घर का सत्यानाश कर दिया । अपने कृपापात्रों को बिगाड़ते समय किसी को शर्म न आई ॥२॥

हे रामजी ! सेवकों को आप ही भली भाँति पहचानते हैं, क्योंकि सच्चे, समर्थ, सद्गुणों के स्थान और परम चतुर एक आप ही हैं । आप सब पर कृपा करनेवाले, प्रसन्न

गुण सदा एक रस (न हर्ष में प्रफुल्लित न शोक में विचलित) और बड़े चतुर हैं। आपको विरद रीति से सब घट घट का हाल मालूम है। (जो जैसा होता है उसे वैसा ही फल देते हैं, कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती) ॥३॥

आपके समान शरणागत-पालक कृपालु स्वामी कोई दूसरा नहीं है और मुझ-सरीखा कोई कंगाल नहीं है। दुःख (शोक) में तो मार पड़ने का निशान होता है। (किन्तु आप मुझ दयापात्र पर दया कीजिए आप कल्पवृक्ष हैं। यही अभिलाषा है कि आपकी छाया में बना रहूँ। (शरण में पड़ा रहूँ) बलिहारी! रघुकुलनाथ! कलियुग के धर्मों (हिंसा, असत्य, पाखण्ड आदि) से बड़ा व्याकुल हो रहा हूँ (इसलिए इनसे रक्षा कीजिए कहाँ तो यह वचन का नहीं) ॥४॥

शब्दार्थ—जूड़=शीतल प्रसन्न। सरम=सर्वगुण। पाल=पालन किए। सुढर=कृपा करनेवाला। प्रनतपाल=शरणागत का पालनेवाला।

विशेष—(१) 'साहिब सरम'—इन मतलबी यारों पर गिरिधर कविराय ने क्या खूब कहा है —

साईं या संसार में मतलब का व्यवहार।
जब लगि पैसा गाँठ में तब लगि ताको यार ॥
तब लगि ताको यार यार सँगहि सँग डोलै।
पैसा रहा न पास यार मुख सों नहिं बोलै ॥
कह गिरिधर कविराय जगत इहि लेखा भाई।
करत बेगरजी प्रीति यार बिरला कोई साईं ॥

एक स्वार्थी मित्र से ऊबकर सुकवि लछिराम कहते हैं —

भरम गँवाय भरवैया सत सौंचन में कठिन वेल वेतसीन पै गिरत है।
परिहरि मालती सु माधवी सजालदति अधम अरसन के अंग अभिरत है।
'लछिराम' सोभा सरवर में विलास हरि सुरल मलिन्द मन पल न थिरत है।
रामचन्द्र चारु चरनाम्बुज बिसारि देस बन बन बेलिन-बबूर में फिरत है ॥

(२) सदगुनधाम—श्रीराम के अनेक सद्गुणों को वाल्मीकि रामायण में गिनाया गया है —

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी ॥
बुद्धिमान्नीतिमान्वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः।
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः ॥
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥

२५०

तौ हौं बार बार प्रभुहिं पुकारिकै खिझावतो न
जो पै मोको होतो कहूँ ठाकुर ठहरु।
आलसी अभागे मोसे तैं कृपालु पाले पोसे
राजा मेरे राजाराम अवध सहरु ॥१॥

सेये न दिगीस, न दिनेस न गनेस, गौरी ।
हित कै न माने विधि, हरिउ न हरु ।
रामनाम ही सा जोग छेम, नेम, प्रेम पन,
सुधा सो भरोसो एहु दूसरो जहरु ॥२॥
समाचार साथ के अनाथ नाथ ! कासों कहौं,
नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहरु ।
निज काज, सुरकाज आरत के काज राज !
बूझिये बिलंब कहा कहूँ न गहरु ॥३॥
रीति सुनि रावरी प्रतीति प्रीति रावरे सों,
डरत हौं देखि कलिकाल को कहरु ।
कहैही बनैगी, कै कहाये, बलि जाउँ, राम,
'तुलसी ! तू मेरो हारि हिये न हहरु' ॥४॥

भावार्थ—हे नाथ ! यदि मुझे कहीं कोई दूसरा स्वामी या (आश्रय) स्थान मिल जाता, तो मैं बार बार आपको पुकारकर नाराज न करता (पर करूँ क्या, ऐसा कोई मिलता ही नहीं, जिसकी शरण में जाकर निर्भय रह सकूँ। इसीलिए बार बार आपको पुकारता हूँ) । हे महाराज रामचन्द्रजी ! मुझ-सरीखे आलसियों और अभागों को तो आपने ही पाला पोसा है अतः हे कृपालो ! आप ही मेरे राजा हैं और अयोध्या ही मेरे रहने के लिए एक नगर है ॥१॥

न तो मैंने दिक्पाल (कुबेर वरुण आदि), सूर्य, गणेश और पार्वती की प्रेमपूर्वक सेवा की है, और न श्रद्धा सहित ब्रह्मा, शिव और विष्णु की ही आराधना । मेरा तो योग क्षेम एक राम नाम से ही है। उसी से मेरा नेम है, उसी से प्रेम है और उसी में मेरी प्रन-पता है । उसका भरोसा मेरे लिए अमृत के समान है और दूसरे साधन हैं विष के समान ॥२॥

हे अनाथों के नाथ ! मेरे साथी चोर और चौकीदार सब आप ही के हाथ में हैं (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि चोरों को आप भगाकर विवेक वैराग्यरूपी चौकीदारों को सचेत कर देंगे, तो मेरा राम नाम प्रेमरूपी धन बच जाएगा ।) हे महाराज ! तनिक विचारिए तो, आपने अपने कामों में देवताओं के कामों में और दीन-दुखियों के कामों में क्या कभी देरी की है ? फिर मेरे ही लिए क्यों इतना विलम्ब हो रहा है ? ॥३॥

आपकी रीति (पतितपावनता, जन-वत्सलता आदि) सुनकर आप पर मेरी प्रतीति और प्रीति हो गई है, किन्तु कलियुग की अनीति को देखकर मैं बहुत डरता हूँ (कि कहीं यह मुझे आपसे विमुख कराकर विषयों में न फँसा दे) । हे रघुनाथजी ! मैं आपकी बलैयाँ लेता हूँ, मेरी तो आपके इतना कहने से या किसी के द्वारा कहलाने से ही बनेगी कि 'तुलसी ! तू मेरा है निराश होकर तू मत घबरा ॥४॥

शब्दार्थ—ठहरु = स्थान । सहरु = शहर । हरु = हर, शिव । **जोग-छेम**—

भावार्थ—हे रामजी ! जिनके हृदयरूपी सुंदर थाले में हरि भक्तिरूपी ऐसा कल्पवृक्ष सुशोभित हो रहा है जिसमें परम सुख के सरस फूल फूलते और मधुर फल फलते हैं, ऐसा शिव हनुमान लक्ष्मण और भरत आपके स्वभाव, गुण, शील और महिमा का प्रभाव (तत्त्व) जानते हैं ॥

आपने अपने स्वभाव के वश होकर शिवजी को स्वामी, हनुमान् को मित्र और लक्ष्मण एवं भरत को अपना भाई माना है, पर वे सब आपको अपना स्वामी ही मानते हैं प्रेम में सदा सावधान रहते हैं और आपसे डरा करते हैं (कि कहीं सेवा में कोई चूक न पड़ जाय)। यदि स्वामी और सेवक इस रीति से प्रेम करते रहें, नीति और नियमों को सदा निबाहते रहें और अपनी टेक से न टलें, तो उनकी प्रीति परम सीमा तक पहुँच जाती है ॥२॥

परम विरक्त होने से ही श्रीरघुनाथजी की महती भक्ति मिलती है—यह शुकदेव, सनकादिक प्रह्लाद, नारद प्रभृति भक्तों ने कहा है। और (परमात्मा के तात्त्विक) ज्ञान के बिना भक्ति प्राप्त नहीं होती किन्तु वह ज्ञान, हे नाथ ! आपके हाथ में है (आपकी ही कृपा से जीव को 'स्वरूप' का ज्ञान प्राप्त होता है) इसी बात को खूब सोच-समझकर चतुर लोग आपके चरणों पर आकर गिरते हैं, (जिन्हें आपकी भक्ति एवं आपके स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा है, वे सब छोड़-छाड़कर आपकी ही शरण में आते हैं) ॥३॥

छह शास्त्रों के सिद्धान्त भिन्न भिन्न हैं, पुराणों का भी मत एक-सा नहीं है और वेद भी नेति नेति, नेति ही कहते रहते हैं। (परमेश्वर के स्वरूप का यथार्थ बोध वेद शास्त्र और पुराण नहीं करा सकते)। तब औरों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? मुझे तो बस एक ही बात अच्छी समझ पड़ती है, और उसी से भला हो सकता है। वह यह, कि राम-नाम स्मरण करने से तुलसी सरीखे भी (संसार सागर से) तर गये हैं। (राम नाम स्मरण ही सर्वप्रधान साधन है) ॥४॥

शब्दार्थ—फरत = फलता है। बिरति निरत = वैराग्य में अनुरक्त या परम विरक्त होने से। छ मत = छह शास्त्रों का मत। बिमत = प्रतिकूल मत।

विशेष—(१) 'हर'—श्रीरघुनाथजी के ऐश्वर्य को शिवजी ही जानते हैं। ऐश्वर्य का बखान करते हुए आप कहते हैं —

'आदि अन्त कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा ॥
पग बिनु चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़जोगी ॥
तनु बिनु परस, नयन बिनु देखा। गहै घ्रान बिनु बास असेषा ॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भक्तहित, कोसलपति भगवान ॥'

[रामचरितमानस

(२) 'हनुमान'—भगवान के सौशील्य के विषय में हनुमान्‌जी का यह कथन पर्याप्त है —

'कहँ हम पसु साखामृग चंचल बात कहौं मैं बिद्यमान की।
कहँ हरि सिव-अज पूज्य ज्ञानघन नहिं बिसरति वह लगनि कान की॥'

(३) 'नगर'—जब श्रीरामजी ने हनुमान को प्रथम [illegible] का उत्तर दिया, तब उन्होंने प्रभु [illegible] कहा —

'परम नीति जानेहिं [illegible]। धीरहि [illegible], मुनि [illegible] धारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला॥

(४) भरत—श्रीरामजी के स्वभाव को तब भरतजी जानते हैं —

[रामचरितमानस

'मैं जानौं निज स्वामि-सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मैं प्रभु-कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥

[illegible]—

जद्यपि मोहिं कुमातु तें ह्वै आई अति पोची।
सनमुख गये सरन राखहिंगे रघुपति परम सँकोची॥

(५) 'भाव मान' भाव—शिवजी को श्रीरामजी पूज्य भाव से मानते हैं।

[गीतावली

यथा —

'औरो एक गुपुत मत सबहि कहौं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥

और दास्यभाव से हनुमान्‌जी से कहते हैं —

[रामचरितमानस

प्रत्युपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

[रामचरितमानस

श्रीराम का लक्ष्मण पर जो वात्सल्य था वह अनुपम था शक्ति-आहत लक्ष्मण को गोद में लिये श्रीराम कहते हैं —

'और निबाहि भली बिधि भायप, चल्यो लखन-सो भाई।
पुर पितु मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन बिपति बँटाई॥
ता सँग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यो न प्रान पठाई।
जानत हौं या उर कठोर तें कुलिस कठिनता पाई॥
सुमिरि सनेह सुमित्रा-सुत को दरकि दरार न जाई।
तात मरन, तिय-हरन गीध-बध, भुज दाहिनो गवाँई।
तुलसी मैं सब भाँति आपने कुल कालिमा लगाई॥

[गीतावली

(६) 'शुक'—परमहंस शुकदेव कहते हैं —

'भजन्ति ये विष्णुमनन्यचेतसस्तथैव तत्कर्मपरायणा जनाः।
विनष्टरागादिविमत्सरा नरास्तरन्ति संसारसमुद्रमश्रमम्॥'

[श्रीमद्भागवत

(७) 'प्रहलाद'—भक्तवर प्रह्लाद का यह सिद्धान्त है—

वस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽज्ञ आयु श्रिय विभवमैन्द्रियमाविरिञ्च्यात् ।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण कालात्मनोपनय [मा निजभृत्यपार्श्वम् ॥'

[श्रीमद्भागवत

(८) 'छः मत'—सांख्य, योग, वैशेषिक न्याय पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा।

२५२

बाप, आपने करत मेरी घनी घटि गई।
लालची लबार की सुधारिये बारक, बलि,
रावरी भलाई सबही की भली भई ॥१॥
रोगवस तनु, कुमनोरथ मलिन मनु,
पर अपवाद मिथ्या-वाद बानी हई।
साधन की ऐसी विधि, साधन बिना न सिधि,
बिगरी बनावै कृपानिधि की कृपा नई ॥२॥
पतित पावन, हित आरत अनाथनि को,
निराधार को अधार दीनबंधु दई।
इन्ह मे न एकौ भयो, बूझि न जूझयो न जयो
ताहिते त्रिताप-तयो, लुनियत बई ॥३॥
स्वांग सूघो साधु को, कुचालि कलिते अधिक,
परलोक फीकी मति, लोक रंग रई।
बडे कुसमाज राज ! आजुलौं जो पाये दिन
महाराज ! केहू भांति नाम ओट लई ॥४॥
राम ! नाम को प्रताप जानियत नीके आप,
मोको गति दूसरी न विधि निरमई।
खीझिबे लायक करतब कोटि-कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसी की निलजई ॥५॥

भावार्थ—हे बापजी ! मैंने अपने ही हाथों अपनी करनी बहुत बिगाड डाली है। मैं आपकी बलैयाँ लेता हूँ इस लोभी और झूठे की बात एक बार तो सुधार दीजिए, क्योंकि जिस जिसके साथ आपने भलाई की उसी उसी की बात बन गई (सो आज मेरी भी बिगडी को बना दीजिए) ॥१॥

शरीर रोगी है मन बुरी-बुरी वासनाओं से मैला हो गया है और वाणी दूसरों की निन्दा और बकवाद करते-करते नष्ट हो गई है रहे कुछ साधन, सो वे भी बिना साधे सिद्ध नहीं होते। अत हे कृपानिधे ! आपकी एक कृपा ही ऐसी अनूठी है, जो मेरी बिगडी बात को बना देगी ॥२॥

आप पापियों का उद्धार करनेवाले और दुखिया और अनाथों के हितू हैं, जिनका कहीं ठौर ठिकाना नहीं, उन्हें आप आश्रय देते हैं और दोनों का भला करते हैं। पर मैं तो इनमें से एक भी नहीं हूँ। (मुझ पर आप क्या कृपा करेंगे?)। न तो मैंने विवेक बल से अपने शत्रुओं (काम क्रोध लोभ, मोह) से ही साथ युद्ध किया और न उन पर विजय ही प्राप्त की। इसीसे मैं दैहिक भौतिक और दैविक इन तीनों तापों से जल रहा हूँ। जो बोया सो काट रहा हूँ (किसे दोष दूँ?) ॥३॥

मन स्वांग तो सीधे सादे साधु के जैसा बना लिया है परन्तु पाप करने में कलि भी मेरे सामने नगण्य है। मेरी बुद्धि को परमार्थ की बातें नीरस जान पड़ती हैं क्योंकि वह संसार की बातों में रंगी हुई है (विषय वासनाएँ ही उसे अच्छी लगती हैं)। हे महाराज! इस भारी दुष्ट समाज के साथ आज तक जितने दिन बीते, वे व्यर्थ ही गये। आज किसी तरह आपके नाम का सहारा लिया है (इससे समझ पड़ता है कि अब मेरे दिन फिरेंगे और करनी सुधर जायगी) ॥४॥

भलीभांति आप जानते हैं कि आपके नाम का कैसा प्रताप है। सिवाय आपके नामरूपी विधाता ने मेरे लिए तो दूसरी गति ही नहीं रची है। आपको असंतुष्ट करने लायक मेरे करोड़ों कुकर्म हैं किन्तु संतुष्ट करने लायक तो मेरी एक यह निलज्जता ही है। (मेरी निलज्जता पर ही प्रसन्न होकर कृपा कर दीजिए) ॥५॥

शब्दार्थ—लबार=झूठा। बारक=(बार+एक) एक बार। हई=नष्ट की। जायो=जीता। जूझ्या=युद्ध किया। रई=रंग गई। निरमई=रचा। निलजई=निलज्जता ही।

विशेष—(१) स्वांग सूधो साधु को .... रई—कलियुगी साधुओं पर श्री हरिराम व्यास ने एक बड़ा चुटीला पद कहा है—

साधत बैरागी जड़ जग।
धातु रसायन औषध सेवत, निसिदिन बढ़त अनंग॥
सुक बचनन को रंग न लाग्यो भयो न ससय भंग।
विष विकार गुन उपजे चित लगि सब करत चित भंग॥
बन में रहत गहत कामिनि कुच सेवत पीन उतंग।
धनि धनि साधु! दंभ की मूरति, दियो छाँड़ि हरि संग॥
लोभ-वचन बाननि अँग-अंगनि सोभित निकर निखंग।
ब्यास आस जमपास गरे तिहि भाव राग न रंग॥

(२) लुनियत बई—

तुमसों कहा न होय, हा हा! बुझये मोहि।
हौं हूँ रहौं मौन ही, बयो सो जानि लुनिए॥'

२५३

[हनुमानबाहुक

राम! राखिय सरन, राखि आये सब दिन।
विदित त्रिलोक तिहूँ काल न दयालु दूजो,
आरत प्रनत-पाल को है प्रभु बिन? ॥१॥

लाले पाले, पोपे-तोपे, आलसी, अभागो, अघी,
नाथ ! पै अनाथनि सों भये न उरिन ।
स्वामी समरथ ऐसो, हौं तिहारो जैसो तैसो,
काल-चाल हेरि होति हिये घनी घिन ॥२॥
खीझि रीझि बिहँसि अनख क्यों हूँ एक बार,
'तुलसी तू मेरो' बलि, कहियत किन ?
जाहि सूल निरमूल, होहिं सुखद अनुकूल,
महाराज राम ! रावरी सों, तेहि छिन ॥३॥

भावार्थ—हे रघुनाथजी मुझे अपनी ही शरण में रखिए क्योंकि आप सदा से (मुक्त-जनों को) अपनाते आये हैं। यह सबको विदित है, कि तीनों लोकों और तीनों कालों में आपके समान दयालु कोई दूसरा नहीं है। हे नाथ ! आपको छोड़कर दुखियों और दीनों की रक्षा करनेवाला और कौन है ॥१॥

आपने आलसी अभागे और पापी लोगों का लालन पालन किया उन्हें पाला पोसा और प्रसन्न रखा, तिस पर भी आप उनसे कभी उऋण नहीं हुए, कर्जदार ही बने रहे। हे प्रभो ! आपतो समर्थ हैं, पर मैं जैसा कुछ हूँ आपका ही हूँ। कलिकाल की कुटिल चाल देखकर मेरे हृदय में बड़ी घिन हो रही है (यह शंका है कि कहीं यह दुष्ट आपके चरणों की ओर से मेरे मन को फेर न दे, तो सारी बनी बनाई बात मिट्टी में मिल जाय) ॥२॥

बलिहारी ! एक बार नाराजी से अथवा राजी से मुस्कराकर या तेवरी चढ़ाकर किसी भी तरह सही इतना आप क्यों नहीं कह देते कि 'तुलसी तू मेरा है ?' इतना कह देने मात्र से ही मेरा सारा दुःख जड़ मूल से नष्ट हो जायगा। हे महाराज रामचन्द्रजी ! मैं आपकी शपथ खाकर कहता हूँ उसी क्षण समस्त सुख मेरे अनुकूल हो जायँगे ॥३॥

शब्दार्थ—अघी—पापी। उरिन=(उऋण) बेबाक। घनी=बहुत। अनख=क्रोध।

विशेष—(१) 'काल चाल ... घिन'—कलिकाल की माया देखकर भक्तवर हरिराम व्यास घबराकर कहते हैं —

'धर्म दुर्यो कलिराज दिखाई।
कीन्हौं प्रगट प्रताप आपुनो, सब विपरीत चलाई ॥
धन भो मीत, धर्म भो बैरी पतितन सों हितवाई।
जोगी, जती, तपी, सन्यासी व्रत छांड्यो अकुलाई ॥
बरनास्रम की कौन चलावै, सन्तनहू में आई।
देखत सन्त भयानक लागत भावत ससुर जमाई ॥
सम्पति सुकृत, सनेह मान चित गृह ब्योहार बड़ाई।
कियो कुमंत्री लोभ आपुनो, महामोह जु सहाई ॥

काम क्रोध मद मोह अरु मत्सर वीन्हीं देस दुहाई।
दान लेन को बडे पातकी, मचलन को बँभनाई॥
लरन मरन को बडे तामसी बारों कोटि कसाई।
'व्यासदास के सुकृत साकरे मे गोपाल सहाई॥'
(२) जाहि छिन—क्योंकि—
भिद्यते हृदयग्रंथि छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥'

[श्रीमद्भागवत

२५४

राम। रावरो नाम मेरो मातु पितु है।
सुजन सनेही गुरु साहिब सखा सुहृद
राम नाम प्रेम-पन अविचल वितु है॥१॥
सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि
लियो काढि वामदेव नाम-घृतु है।
नाम को भरोसो बल चारिहूँ फल को फल,
सुमिरिये छाडि छल, भलो कृतु है॥२॥
स्वारथ साधक, परमारथ दायक नाम,
राम-नाम सारिखो न और दूजो हितु है।
तुलसी सुभाव कही, साचिये परैगी सही,
सीतानाथ-नाम नित चितहू को चितु है॥३॥

भावार्थ—हे रघुनाथजी। आपका नाम ही मेरा माता पिता सगा सम्बन्धी स्नेही गुरु स्वामी मित्र और सखा है। आपके नाम में जो मेरा प्रेम का प्रण है वही मेरा अटल धन है (और धन तो खर्च करने से कम हो जाते हैं पर आपका नाम धन दिन-पर दिन बढ़ता है)॥१॥

शिवजी ने सौ करोड चरित्ररूपी अगाध दधि सागर से नामरूपी घी मथकर निकाल लिया है (आपके समस्त चरित्रों का सार रामनाम ही माना है)। आपके नाम का बल भरोसा चारों फलों का फल अर्थात् अर्थ धर्म काम और मोक्ष का साररूप है। अतएव कपटभाव छोडकर इसी का स्मरण करना चाहिए। यही सर्वोत्तम यज्ञ है। (कलयुग में नाम कीर्तन के तुल्य कोई भी यज्ञ नहीं।)॥२॥

आपका नाम स्वार्थ का साधनवाला एव परमार्थ प्रदान करनेवाला है। श्रीराम नाम के समान हितू दूसरा कोई भी नहीं। यदि यह बात तुलसीदास ने स्वभाव से ही कही है तो सचमच ही इस पर सही पड़ेगा। हे जानकीरमण। आपका नाम नित्य है और चित्त का भी चित्त है॥३॥

शब्दार्थ—वितु = (वित्त) धन। दधिनिधि=दही का समुद्र। वामदेव=शिवजी। कृतु=कर्म यज्ञ। स्वारथ = व्यवहार। परमारथ=मोक्ष।

विशेष—(१) 'नामको भरोसो'—गोसाइंजी ने अन्यत्र कहा है —

'राम नाम पर राम तें प्रीति प्रतीति भरोस।
सो तुलसी सुमिरत सकल, सगुन सुमंगल-कोस॥
राम नाम अवलंब बिनु, परमारथ की आस।
बरषत वारिद बूंद गहि चाहत चढ़न अकास॥'

(२) 'भलो हूतु है'—राम नामरूपी मन सदा शुभफलदायक है —

तुलसी प्रीति प्रतीति सों, राम नाम जप जाग।
किये कोइ बिधि दाहिनो, देइ अभागेहि भाग॥'

(३) 'परमारथ—दायक'—यथा—

'अविकारी विकारी वा, सर्वदोषैकभाजन।
परमेशपदं याति, रामनामानुकीर्तनात॥'

[विष्णुपुराण

२५५ 9m-5

राम! रावरो नाम साधु सुरतरु है।
सुमिरे त्रिविध घाम हरत, पूरत काम,
सकल सुकृत सरसिज को सरु है॥१॥
लाभहू को लाभ, सुखहू को सुख, सरबस
पतित पावन, डरहू को डरु है।
नीचे हू को, ऊँच हू को, रंक हू को, राव हू को,
सुलभ, सुखद अपनो-सा घरु है॥२॥
वेद हू, पुरान हू, पुरारि हू पुकारि कह्यो,
नाम-प्रेम-चारिफल हू को फरु है।
ऐसे राम-नाम सो न प्रीति न प्रतीति मन,
मेरे जान, जानिबो सोई नर खरु है॥३॥
नाम सो न मातु-पितु मीत हित, बंधु, गुरु,
साहिब सुधी सुसील सुधाकरु है।
नामसो निबाह नेहु दीन को दयालु देहु,
दासतुलसी को बलि, बडो बरु है॥४॥

भावार्थ—हे श्रीरामजी! आपका (राम) नाम साधुओं के लिए मानो कल्पवृक्ष है, क्योंकि उसके स्मरण करते ही तीनों ताप (दैहिक भौतिक और दैविक) दूर हो जाते हैं। चित्त शान्त और सुखी हो जाता है सारी कामनाएँ सफल हो जाती हैं। यह पुण्य रूपी कमलों का सरोवर है (पुण्य के प्रताप से ही त्रिविध ताप दूर होता है और चित्त में सुख-शान्ति आती है)॥१॥

यह लाभ का भी लाभ, सुख का भी सुख और (भक्तों का) सर्वस्व है। यह

पापियों को पावन करनेवाला और भय का भी भय, अर्थात् मृत्यु को भी भयभीत करने वाला है। यह नाम को ऊँचा, [illegible] सभी को सुलभ, सभी को सुख देनेवाला है, और अन्त [illegible] आराम [illegible] है ॥२॥

वेद, पुराण और शिवजी [illegible] पुकार-पुकारकर कहते हैं कि रामनाम के प्रति प्रेम होना [illegible] फल है ([illegible] और मोक्ष का भी सार है)। ऐसे श्रीराम नाम पर जिसका प्रेम और विश्वास नहीं, मेरी समझ में उस मनुष्य को गधा समझना चाहिए (जिस प्रकार गधा [illegible] पीठ पर भार लादकर चलता पड़ता है, उसी प्रकार वह मनुष्य जीवन का भार ढोता हुआ रात-दिन इधर से उधर भटकता फिरता है) ॥३॥

पिता, माता, मित्र, हितू, भाई, गुरु और स्वामी इनमें से कोई भी श्रीराम नाम के सदृश सुख देनेवाला नहीं है। यह परम सुजान अन्तर्यामी के समान सुजान स्वामी है। हे कृपालो! बलिहारी, तुलसीदास को यही दान दीजिए कि आपके नाम के साथ मेरा जो प्रेम है वह निभ जाय। (बलिहारी! इस दास तुलसी के लिए आपका यही सबसे बड़ा वरदान है।) ॥४॥

शब्दार्थ—[illegible]। पुरारि=पुर दैत्य के शत्रु शिवजी। फल=फल। सुधी=बुद्धिमान। बर=वरदान।

विशेष—(१) 'साधु सुरतरु'—इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि श्रीराम नाम संत और कल्पवृक्ष दोनों के ही समान सब फलों का देनेवाला है। संत से जो कुछ भी माँगा जाय वह दे देता है। यही स्वभाव कल्पवृक्ष का है।

(२) 'पुरारि हू कह्यो'—सुनिए काशी की वीथियों में एक जटिल तपस्वी क्या कहता हुआ घूम रहा है—

पेयं पेयं श्रवणपुटके रामनामाभिरामम्
ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम्।
जल्पन् जल्पन् प्रकृतिविकृतौ प्राणिनां कर्णमूले,
वीथ्यां वीथ्यां अटति जटिलः कोऽपि काशीनिवासी ॥

(३) 'सोई नर खर है'—भगवद्विमुख जीव को गधे की उपमा श्रीमद्भागवत में भी स्वयं श्रीमुख से भगवान ने दी है—

'यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
तथाहि विप्रा षट्शास्त्रयुक्ता मद्भक्तिहीना खरवद्वहन्ति ॥

२५६

कहै बिनु रह्यो न परत कहे राम! रस न रहत
तुमसे सुसाहिब की ओट जन खोटो खरो
काल की करम की कुसासति सहत ॥१॥

करत विचार सार पैयत न कहूँ कछु,
सकल बड़ाई सब कहाँ तें लहत ?
नाथ की महिमा सुनि, समुझि आपनी ओर,
हेरि हारिकै हहरि हृदय दहत ॥२॥
सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु, आप
माय-बाप तुहीं साँचो तुलसी कहत।
मेरी तौ थोरी ही है सुधरैगी बिगरियो,
बलि, राम रावरी सौं, रही रावरी चहत ॥३॥

भावार्थ—हे श्रीरामजी ! बिना कहे तो रहा नहीं जाता, और कह देने पर कुछ रस नहीं रह जाता (मजा किरकिरा हो जाता है)। आप सरीखे सुन्दर स्वामी का आश्रय पाकर भी आपका यह सेवक—भले ही वह बुरा हो या भला—दारुण दुःख भोग रहा है, (यही बात है जो मुँह से रोकने पर भी बरबस निकल ही आती है। यदि किसी दूसरे को यह सुनाऊँ तो उसमें क्या रस रहेगा ? क्योंकि कोई मेरा क्लेश तो हरेगा नहीं, उलटे हँसी ही उड़ाएगा) ॥१॥

विचार किया करता हूँ, पर कहीं रहस्य का कुछ पता नहीं मिलता, कि इन सब लोगों ने कहाँ से बड़प्पन पाया है (वह कौन सा साधन है जहाँ से ये लोग बड़े बन बनकर आते हैं)। आपकी महिमा सुन-समझकर जब अपनी दशा की ओर देखता हूँ तो निराश हो जाता हूँ और घबराहट से हृदय जलने लगता है (यह सुनकर कि आप पतित पावन हैं मैं आपकी शरण में आना चाहता हूँ पर जब आपकी ओर से कोरा जवाब मिलता है, तब जी में हार मानकर निराश बैठ जाता हूँ और हृदय में जलन होने से कुछ-का-कुछ बक उठता हूँ) ॥२॥

सुनिए, न तो मेरा कोई मित्र है न सच्चा सेवक है और न सुलक्षणा स्त्री है, और न कोई स्वामी है। मेरे तो सच्चे माई बाप आप ही हैं तुलसी यह सच बात कह रहा है (कवि-कल्पना न समझियेगा)। मेरी तो थोड़ी ही बात है बिगड़ने पर भी सुधर जायगी। किंतु बलिहारी ! मैं आपकी शपथ खाकर कह रहा हूँ मैं आपकी बात ही रखना चाहता हूँ (कहीं संसार में आपकी जन वत्सलता और पतित पावनता की लाज न चली जाये, अतः यदि आपको अपने विरद की लाज रखनी है तो मुझे अब तार ही दीजिए) ॥३॥

शब्दार्थ—कुसांसति=असह्य कष्ट। हहरि=घबराकर।

२५७

दीनबन्धु ! दूरि किये दीन को न दूसरी सरन।
आपको भले हैं सब, आपने को कोऊ कहूँ
सब को भलो है राम ! रावरो चरन ॥१॥

लिए दुष्ट को मार डालना ही अच्छा है)। आप अब इन दोनों बातों पर विचार कर लीजिए। मैं आपका अब निहोरा न करूँगा। बार बार ललकार कर तुलसी ने यह सच्ची बात कह दी है। जो आप (मेरा कल्याण करने में) देरी करेंगे, तो मैं आपके नाम की महिमा रूपी नौका को डुबो दूँगा। (मेरी दुर्गति को देखकर आपके नाम पर लोगों की श्रद्धा उठ जायगी)॥४॥

शब्दार्थ—गारि=दोष। दोष कोष=अपराधों का खजाना। भुवन कोष=चौदहों लोकों से तात्पर्य है। टकटोरि आय=टटोल आया। लबार=झूठा। गहडोरिहौं=भयंकर मना कर दूँगा।

विशेष—(१) 'भासो' 'टकटोरिहौं'—सूरदासजी भी ऐसा ही कह रहे हैं—

'हरि, हौं सब पतितन को राय।
को करि सकै बराबरि मेरी सोधौं मोहि बताय॥
ब्याध, गीध अरु पतित पूतना तिनमें बढ़ि जो और।
तिनमे अजामेल गनिका पति, उनमें मैं सिरमौर॥
जहँ-तहँ सुनियत यहै बड़ाई मो समान नहिं आन।
सब रहे आज-काल्हि के राजा, हौं तिनमें सुलतान॥
अबलौं तो तुम बिरद बोलायो भई न मोसों भेंट।
तजौ बिरद, कै मोहि उधारौ सूर गही कटि फेंट॥

(२) ढील किये नारिहौं—जीव अणु होने के कारण स्वभाव से ही अधीर है। गोसाइजी ने तो धमकी ही दी है कि मुझे जल्दी ही तार दो नहीं तो मैं नाम महिमा की नौका को डुबा दूँगा पर कविवर बिहारी का धीरज न बधा और यहाँ तक गुस्ताखी कर डाली—

'कब को टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय।
तुम हू लागी जगतगुरु जगनायक! जगबाय?'

२५६

रावरी सुधारी जो बिगारी बिगरैगी मेरी,
कहौ, बलि, बेद की न, लोक कहा कहैगो?
प्रभु को उदास भाव जन को पाप प्रभाव
दुहूँ भाँति दीनबन्धु! दीन दुख दहैगो॥१॥
मैं तो दियो छाती पवि, लयो कलिकाल दवि,
सासति सहत परवस को न सहैगो?
बाकी बिरदावली बनैगी पाले ही कृपालु!
अंत मेरो हाल हेरि यों न मन रहैगो?॥२॥
करमी धरमी, साधु सेवक बिरत रत,
आपनी भलाई थल कहा कौन लहैगो?
तेरे मुँह फेरे मोसे कायर कपूत कूर
लटे लटपटनि को कौन परिगहैगो॥३॥

काल पाय फिरत दसा दयालु ! सब ही की,
तोहि बिनु मोहि कबहूँ न कोऊ चहैगो।
बचन करम हिये कहौं राम ! सौंह किये,
तुलसी पै नाथ के निबाहेइ निबहैगो ॥४॥

भावार्थ—यदि तुम्हारी बनाई हुई मेरी बात मेरे बिगाड़ने से बिगड़ जायगी, तो तुम्हारी बलैया लेता हूँ, कहो तो संसार क्या कहेगा? वेद की बात नहीं कहता हूँ। (वेद में चाहे जो लिखा हो, उससे कोई मतलब नहीं पर संसार क्या कहेगा? यही कहेगा न कि परमेश्वर तुलसी ही है, क्योंकि रामजी की बनाई बात उसने बिगाड़ दी। पर, ऐसा हो कैसे सकता है? मेरी बिसात क्या कि मैं तुम्हारी बात को बिगाड़ सकूँ?) स्वामी की उदासीनता और मुझ सेवक का पाप प्रभाव यदि ये दोनों ही मिल गये तो हे दीनबन्धो! यह दीन दुःख के मारे जल मरेगा (सारांश यह कि मैं तो महापापी हूँ ही, पर तुम मेरे प्रति उदासीन न हो जाओ, तुम्हें ऐसा करना शोभा न देगा) ॥१॥

मैंने तो अपनी छाती पर वज्र रख लिया है (हृदय को दुःख सहने के लिए वज्र के समान कठोर कर लिया है) कारण कि कलियुग ने मुझे दबोच दिया है और अब परावान होकर असह्य कष्ट सह रहा हूँ। (मैं ही क्या) जो भी परतन्त्र होगा, वह कष्ट सहेगा ही। किन्तु हे कृपानिधान! तुम्हें अपनी बाँकी बिरदावली के वश होकर मुझे पालना ही होगा (यदि मेरा रक्षा न करोगे, तो लोग तुम्हें झूठा कहेंगे)। और, अन्त समय तो मेरा हाल देखकर तुम्हारा यह उदासीन भाव रह ही नहीं सकता तुम्हें अवश्य ही पिघलना पड़ेगा ॥२॥

कर्मकाण्डी धर्मात्मा, साधु, सेवक, विरक्त और संसारी जीव, ये सब अपने कर्मों के अनुसार कहीं-न-कहीं स्थान पा ही जायेंगे। परन्तु तुम्हारे मुँह फेर लेने से, उदासीन हो जाने से मुझ-जैसे कायर, कुपूत, दुष्ट नीच और गिरे-पड़े जीवों को कौन अंगीकार करेगा? ॥३॥

हे दयालो! समय आने पर सभी की दशा फिरती है पर तुम्हें छोड़कर मुझे तो कभी कोई नहीं चाहेगा। हे रघुनाथजी! तुम्हारा शपथ खाकर मैं वचन, कर्म और मन से कहता हूँ कि यह जन तो तुम्हारे ही निबाहे निभेगा। तुलसी का निर्वाह तो तुम्हारे ही हाथ में है ॥४॥

शब्दार्थ—पवि=वज्र। सांसति=कष्ट। करमी=कर्मकाण्डी। लटे=नीच, खोटे। लटपटेनि=लथपथ, गिरे-पड़े।

विशेष—(१) 'बाँकी बिरदावली कृपालु'—यदि शरण में नहीं लोगे, तो आपकी बिरदावली पर लोग विश्वास नहीं करेंगे, और यह सुनना पड़ेगा कि—

वेद औ पुरानन में कीन्हो है बखान ऐसो
सतजुग बीच ध्रुव प्रह्लाद को तूठे हो।
त्रेता बीच नीच कुल की न करी कानि कछू,
भीलनी के साथ प्रभु खाये बेर जूठे हो॥

द्वापर के बीच तुम द्रौपदी की राखी लाज,
पाण्डव के काज दल कौरव के दटे हो।
अब कलिकाल में जो करो न सहाय मेरी
तुम्हें लोग हाँसि कहेंगे 'हरि झूटे हो॥'

२६०

साहिब उदास भये दास खास खीस होत
मेरी कहा चली ? हौं बजाय जाय रह्यो हौं।
लोक मे न ठाउँ, परलोक को भरोसो कौन ?
हौं तो बलि जाउँ रामनाम ही ते लह्यो हौं॥१॥
करम, सुभाउ, काल काम, कोह, लोभ, मोह
ग्राह अति गहनि गरीबी गाढे गह्यो हौं।
छोरिबे को महाराज, बाँधिबे को कोटि भट,
पाहि, प्रभु ! पाहि तिहुँ ताप पाप-दह्यो हौं॥२॥
रीझि बूझि सबकी, प्रतीति प्रीति एही द्वार,
दूध को जरयो पियत फूंकि फूंकि मह्यो हौं।
रटत रटत लटयो, जाति-पाँति भाँति घटयो
जूठनि को लालची चहो न दूध नह्यो हौं॥३॥
अनत चह्यो न भलो, सुपथ सुचाल चल्यो
नीके जिय जानि इहाँ भलो अनचह्यो हौं।
तुलसी समुझि समुझायो मन बार बार
अपनो सो नाथ हूँ सो कहि निरबह्यो हौं॥४॥

भावार्थ—जब मालिक अपना रुख फेर लेता है, तब खास नौकर भी बरबाद हो जाता है, फिर मेरा तो पूछना ही क्या ? मैं तो डंके की चोट दुःखों में बहा चला जा रहा हूँ, जब मेरे लिए इस दुनिया में ही कहीं ठौर ठिकाना नहीं, तब परलोक का क्या भरोसा करूँ ? हे नाथ ! मैं आपकी बलैया लेता हूँ, मैं तो एक राम नाम ही के साथ बिक चुका हूँ (वही मेरे लिए लोक है और वही परलोक।)॥१॥

कर्म, स्वभाव, काल, काम, क्रोध, लोभ और मोहरूपी बड़े बड़े ग्राहों ने और (साधनहीनतारूपी) दरिद्रता ने जोर से पकड़ रखा है। (तात्पर्य यह, कि जैसे आपने गजेन्द्र को ग्राह से छुड़ा लिया था, वैसे ही मुझे भी इन विकराल ग्राहों से उबार लीजिए, क्योंकि) हे महाराज ! बन्धन काटने के लिए तो केवल एक आप हैं, और बाँधने के लिए करोड़ों योद्धा हैं। अतएव हे प्रभो ! मेरी रक्षा कीजिए ! मैं पापरूपी तीनों तापों से जल रहा हूँ (अपनी कृपा-वृष्टि से इस अग्नि को बुझा दीजिए)॥२॥

(कदाचित आप यह कहें, कि हमारे ही पास तू बारबार आ जाता है, और कहीं क्यों नहीं जाता, तो) हे प्रभो ! सबका विश्वास और श्रद्धा तथा रीझ-बूझ तो एक आपके

हो द्वार पर ह । म दूध का जला मट्ठा भी फूक फूककर पीता हूँ । (भाव यह कि मुझे सभी ने धोखा दिया ह इसलिए बहुत ही सावधान होकर चल रहा हू ।) चिल्लाते चिल्लाते म हार गया हूँ । जाति पाँति और चाल चलन सभी से हाथ धो बठा हूँ । अब तो केवल आपके जूठन का ही लालची हू । म दूध से नहीं नहाना चाहता । भाव, मुझे स्वग के एश्वय की इच्छा नहीं ह मं तो केवल आपका प्रेम प्रसाद चाहता हूँ ।।३।।

म और कहीं सुख-सुमाग पर अच्छी चाल चलकर अपना भला नहीं चाहता हूँ । और यहाँ आपके द्वार पर म तिरस्कृत होकर भी अच्छी तरह रह रहा हूँ । (तात्पय यह कि और किसी दवी देवता के समीप रहकर धम-पालन करता हुआ भी नि शक नहीं रह सकता, क्योंकि वह तनिक सी भूल पर रुष्ट होकर मुझे गिरा देगा पर आप निरादर भी करेंगे तो भी मुझे प्रसन्नता ही होगी, क्योंकि मा-बाप की नाराजगी कल्याण के लिए ही होती ह) । तुलसी ने समझकर अपने मन को बार बार समझा दिया ह और वह अपने स्वामी से भी कहकर निश्चिन्त हो गया ह कि उसका निर्वाह आपके ही हाथ में ह ।।४।।

शब्दाथ—खीस होत = बरबाद हो जाते हं । बजाय=डके की चोट से । जाय रह्यो हौं=बिगड़ा जा रहा हूँ । गाढे=दढता से । मह्यो = मट्ठा । नह्यो न चहौं = नहाना नहीं चाहता । अनत = अयत्र ।

विशेष—(१) दूध—नह्यो —श्रीबजनाथजी दूधा न्यो हो , यह पाठ मानकर यह अथ करते ह कि— दूध घृतादि उत्तम भोजन चाहता नहीं । और श्रीरामेश्वर भट्टजी ने न दूह्यो नह्यो हौं' एसा पाठ मानकर यह अथ किया ह कि कुछ दूध मलाई नहीं चाहता हूँ । नहा का अथ मलाई लिखा गया ह । हमें नागरीप्रचारिणी सभा की प्रति ही अधिक शुद्ध जान पडती ह । उसमें 'दूध-नह्यो' पाठ ह, मुहावरा भी ह, कि वह तो दूध से नहा रहा ह अर्थात बडा भाग्यशाली ह । आशीर्वाद देता हुई बडी-बूढी स्त्रियाँ बहू बेटियों से कहा करती हं, 'दूधों नहाओ, पतो फलो ।'

(२) 'जूठनि को लालची'—इस दुलभ 'जूठन' पर भक्तवर हरिराम व्यास का यह पद कितना भावपूण ह —

'ऐसे ही बसिये ब्रज बीथिन ।
साधुन के पनवारे चुनि चुनि, उदर पोषिए सीथिन ।।
घूरन में के बीन चिनगटा रच्छा कीज सीतन ।
कुज-कुज प्रति लोटि लगे रज उड़ि ब्रज की अगीतन ।।
नितप्रति दास स्याम स्यामा को नित जमुना जल पीतन ।
ऐसेहि 'व्यास' रुचै तन पावन ऐसेहि मिलत अतीतन ।।'

२६०

मेरी न बनै ,बनाये मेरे कोटि कलप लौ
राम ! रावरे बनाये बनै पल पाउ में ।
निपट सयाने हौ कृपानिधान ! कहा कहौं ?
लिये बेर बदलि अमोल मन भाउ मैं ।।१।।

मानस मलीन, करतब कलिमल-पीन
जीह हू न जप्यो नाम, बक्यो आउ-बाउ मैं।
कुपथ कुचाल चल्यो, भयो न भूलेहूँ भलो,
बाल दसा हूँ न खेल्यो खेलत सुदाउ मैं ॥२॥
देखा देखी दंभ तें, कि संग तें भई भलाई,
प्रगटि जनाई, कियो दुरित दुराउ मैं।
राग रोष-द्वेष पोषे गोगन समेत मन,
इनकी भगति कीन्ही इनही को भाउ मैं ॥३॥
आगिली पाछिली, अजहूँ की अनुमान ही तें
बूझियत गति, कछु कीन्हो तो न काउ मैं।
जग कहै राम की प्रतीति प्रीति तुलसी हू
झूठे साचे आसरो साहब रघुराउ मैं ॥४॥

भावार्थ—मेरी करनी मेरे बनाने से करोड़ों कल्प तक भी न बनेगी। किन्तु, हे रघुनाथजी ! आप चाहें तो पल भर में ही उसे बना दे सकते हैं। हे कृपानिधान ! मैं क्या कहूँ, आप तो स्वयं परम चतुर हैं, मैंने अनमोल मणि के समान आयु के बदले में (विषयरूप) बेर बिसाह लिये हैं ॥१॥

मन मलीन हो गया और कर्म कलियुग के कारण और भी पुष्ट हो गये (नित्य नये-नये पाप बढ़ते गये) रही जीभ, सो उसने भी आपका नाम नहीं जपा, सदा आयें बायें साय ही बकती रही (इस प्रकार मन, वचन और कर्म तीनों से ही बेकार हो गया) बुरे बुरे मार्गों पर बुरी चालें चलता रहा। (काम क्रोध में ही लिप्त रहा) भूलकर भी कभी कोई अच्छा काम नहीं बन पड़ा। बचपन में भी कभी खेलते समय मैंने अच्छा दाव नहीं खेला ॥२॥

हाँ, किसी की देखा देखी या सत्संग से कभी कोई अच्छा काम बन गया तो उसे ढिंढोरा पीटता हुआ कहता फिरा और पापों को छिपा लिया। राग द्वेष, क्रोध और इन्द्रियों के सहित मन का खूब पोषण किया। इन्हीं की भक्ति की, और इन्हीं का भाव (सदा इन्द्रिय-लोलुपता ही रहा) ॥३॥

मैंने बीते हुए का, अब का और आनेवाले का अनुमान कर लिया है, कि मैंने कभी कोई अच्छा काम नहीं किया किन्तु संसार कह रहा है कि तुलसी रामजी का है और मुझे भी आप पर पूरा विश्वास और प्रेम है। अब चाहे झूठ हो, चाहे सच, हे स्वामिन् ! मैं तो आपके ही आसरे पड़ा हुआ हूँ ॥४॥

शब्दार्थ—आउ = आयु। पीन=पुष्ट। जीह=जीभ। आउ बाउ = आयं बायं अट सट। दुरित = पाप। गोगन=इन्द्रियों का समूह। काउ = कभी।

विशेष—(१) मेरी न बनै कलप लौं ज्यों ज्यों पारमार्थिक साधन साध साधकर छूटने के उपाय करता हूँ त्यों त्यों माया-मोह में और भी अधिक उलझता जाता हूँ। इस क्रम से मैं कब अपनी करनी बना सकता हूँ ?

'ज्यों ज्यों सुरझन को चहत, त्यों-त्यो उरझत जात।'

२६२

कह्यो न परत, बिनु कहे न रह्यो परत
बडो सुख कहत बडे सो, बलि, दीनता।
प्रभु की बडाई बडी, आपनी छोटाई छोटी,
प्रभु की पुनीतता, आपनी पाप-पीनता ॥१॥
दुहूँ ओर समुझि, सकुचि सहमत मन,
सनमुख होत सुनि स्वामि समीचीनता।
नाथ-गुनगाथ गाये, हाथ जोरि माथ नाये,
नीचऊ निवाजे प्रीति रीति की प्रवीनता ॥२॥
एही दरबार है गरब तें सरब हानि,
लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता।
मोटो दसकंध सो न, दूबरो बिभीषन-सो,
बूझि परी रावरे की प्रेम-पराधीनता ॥३॥
यहा की सयानप अयानप सहस सम,
सूधो सतभाय कहे मिटति मलीनता।
गीध सिला, सबरी की सुधि सब दिन किये
होइगी न साइ सो सनेह हित-हीनता ॥४॥
सकल कामना देत नाम तेरो कामतरु
सुमिरत होत कलिमल - छल - छीनता।
करुनानिधान! बरदान तुलसी चहत,
सीतापति भक्ति सुरसरि नीर मीनता ॥५॥

भावार्थ—हे नाथ! कुछ कहा भी नही जाता और बिना कहे रहा भी नही जाता। आपकी बलयाँ लता हूँ! यद्यपि अपनी गरीबी बडा के आगे सुनाने में बडा आनद आता ह (क्योकि, यह आशा रहती ह न, कि बडे लोग गरीबी दूर कर देंगे), तथापि कहाँ तो स्वामी का महान बडप्पन और कहाँ मेरी अत्यन्त क्षुद्रता, कहाँ स्वामी की पवित्रता और कहाँ मेर पापा की अधिकता ॥१॥

दोना ओर की इन बाता पर विचार करके मन सकोच के मारे सहम जाता ह (कुछ कहने का साहस नही पडता)। किन्तु स्वामी की सुन्दर साधुता (पतित पावनता, जन-वत्सलता आदि) को सुनकर यह मन फिर फिर सम्मुख जाता ह। हे नाथ! जो आपके गुणा और चरित्रा का गान करता और हाथ जोडकर प्रणाम करता ह उस नीच को भी आप, अपनी प्राति और चतुरता स, निहाल कर दते ह ॥२॥

इस दरबार में गर्व करने से सर्वनाश हो जाता ह। यहाँ तो गरीबी **और नम्रता**

से ही योग क्षेम प्राप्त हो सकता है। रावण-सरीखा तो कोई महाप्रतापी नहीं था और विभीषण के समान कोई दुर्बल या दीन नहीं था। किन्तु यहां आपकी प्रेमाधीनता ही स्पष्ट समझ में आती है। (अर्थात् शरणापन्न भक्त विभीषण को अपनाकर लंका का राज्य दे दिया और रावण का सर्वनाश कर डाला) ॥३॥

आपके सामने जो चतुर बनता है वह हजारों मूर्खों के समान है। यहाँ तो सीधे सादे सच्चे भाव से अपना दोष स्वीकार कर लेने से ही मलिनता मिटती है। यदि तू नित्य जटायु अहल्या और शबरी की स्थिति को स्मरण किए रहेगा तो स्वामी के प्रति तेरा प्रेम कभी कम न होगा। भाव यह कि उन बेचारों में अहंकार का लेशमात्र भी नहीं था इसीलिए भगवान् ने उन्हें अपना अनन्य भक्त और कृपापात्र बनाया ॥४॥

आपका नाम कल्पवृक्ष की तरह सारी कामनाएँ सफल कर देता है। उसका स्मरण करते ही कलियुग के कपट और पाप क्षीण हो जाते हैं। हे करुणानिधान! तुलसी यही वर चाहता है कि वह श्रीसीतारमण रामचन्द्रजी की भक्ति भागीरथी के जल में मछली की तरह सदा डूबा रहे ॥५॥

शब्दार्थ—पीनता = पुष्टि, मोटाई। सहमत = डर जाता है, पिछड़ जाता है। छेम = (क्षेम) रक्षा। मिसकीनता = गरीबी, नम्रता। अयानप = अज्ञान।

विशेष—(१) गरीबी—गरीबी पर एक कवि ने क्या सुन्दर कहा है—

'करी है गरीबी तो विभीषन ने राज पायो
रावन ने करी खुदी खोई सुधी जान की।
ध्रुव ने गरीबी के अटल पद राज पायो
केसो कंस ऐंठ्यो, सुधि न रही गुमान की॥
द्रौपदी गरीबी करी नगन न होन पाई
हारे पचि कौरो देखि लीला भगवान की॥
गरीबी और बदगी की चारों वेद स्तुति करें
कहै को गरीबो यह बीबी है जहान की॥'

और भी—

ऊंचे ऊंचे सब चलें नीचे चल न कोय।
जोय, कोउ नीचे चल ध्रुव तें ऊंचो होय॥'

(२) मिसकीनता'—मिसकीन अरबी का शब्द है।

(३) नाम जोग-क्षेम का—जो सारा अभिमान छोड़कर भगवान् की शरण में रहते हैं उन्हें भगवान् यह वचन दे चुके हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥'

[गीता

२६३

नाथ ! नीके कै जानिबी ठीक जन जीय की ।
रावरो भरोसो नाह कै सुप्रेम नेम लियो
रुचिर रहनि रुचि मति, गति, तीय की ॥१॥
कुकृत सुकृत बस सबही सो संग पर्यो,
परखी पराई गति, आपने हूँ कीय की ।
मेरे भले को गोसाइं ! पोच को, न सोच सङ्क,
हौंहुँ किये कहौं सौंह साची सिय-पीय की ॥२॥
ग्यानहू गिरा के स्वामी बाहर अन्तरजामी,
यहा क्यो दुरैगी बात मुख की औ हीय की ?
तुलसी तिहारो तुमहीं पै तुलसी के हित,
राखि कहौं हौ जो पै, ह्वै हौं माखी घीय की ॥३॥

भावार्थ—हे नाथ ! आप अपने इस दास के मन की बात ठीक ठीक समझ लीजिए । मेरी बुद्धि रूपी सुन्दर (पतिव्रता) स्त्री ने आपके विश्वास को अपना स्वामी मानकर उसी के साथ शुद्ध प्रीति करने का प्रण किया है ॥१॥

पाप और पुण्य के अधीन होकर मुझे सभी के साथ रहना पड़ा, इसमें मैं अपनी और पराई दोनों की चालों को जाँच चुका हूँ । हे प्रभो ! मुझे अपनी भलाई या बुराई की कोई चिन्ता नहीं न कुछ डर है । क्योंकि मेरा तो सभी तरह से मेरे स्वामी ने भला कर दिया । यह मैं श्रीजानकी वल्लभजी की शपथ खाकर सच सच कह रहा हूँ ॥२॥

(यदि मैं बात बनाकर कहता तो वह चलनेवाली नहीं क्योंकि) आप ज्ञान और वाणी के अधिष्ठाता हैं । बाहर और भीतर दोनों की बात जाननेवाले हैं । आपके आगे मुँह की और हृदय की बात कैसे छिप सकती है ? तुलसी आपका है और आप ही उसका हित करनेवाले हैं । मैं कुछ कपट भरी बात कहता होऊँ, तो घी की मक्खी हो जाऊँ । (भाव, जैसे मक्खी घी में गिरकर तुरन्त मर जाती है, उसी प्रकार मेरा भी सर्वनाश हो जाय) ॥३॥

शब्दार्थ—नाह = नाथ, पति । कुकृत = कुकर्म, पाप । सुकृत = सत्कर्म, पुण्य । कीय की = किए हुए की । पोच = नीच । सौंह — शपथ ।

विशेष—(१) 'गिरा' क्योंकि—
जापर कृपा करहिं जन जानी । कवि उर-अजिर नचावहिं बानी ॥
(२) 'ग्यान'—इसी प्रकार—
सो जानहिं जेहि देहु जनाई ।'

२६४

मेरो कह्यो सुनि पुनि भावै तोहि करि सो ।
चारिहूँ विलोचन बिलोकु तू तिलोक महँ
तेरो तिहुँ काल कहु को है हितु हरि-सो ॥१॥

नये नये नेह अनुभये देह गेह बसि,
परखे प्रपची प्रेम परत उघरि सो।
सुहृद समाज दगाबाजि ही को सौदा सत,
जब जाको काज तब मिलै पायँ परि सो ॥२॥
त्रिबुध सयाने पहिचान कैधौ नाहीं नीके,
देत एक गुन, लेत कोटिगुन भरि सो।
करम धरम स्रम-फल रघुबर बिनु,
राख को सो होम है, ऊसर कैसो बरिसो ॥३॥
आदि अंत बीच भलो भलो करै सबही को,
जाको जस लोक बेद रह्यो है बगरि सो।
सीतापति सारिखो न साहिब सील निधान,
कैसे कल परै सठ! बैठो सो बिसरि सो ॥४॥
जीव को जीवन प्रान, प्रान को परमहित
प्रीतम, पुनीतकृत नीचन निदरि सो।
तुलसी! तोको कृपालु जो कियो कोसलपालु,
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो ॥५॥

भावार्थ—रे मन! एक बार तो मेरी बात सुन ले फिर जो इच्छा लगे सो करना। तू अपने चारों नेत्रों (दो बाहर के और मन-बुद्धिरूपी दो भीतर के) से देखकर बता कि तीनों लोकों और तीनों कालों में कहीं भी कोई दूसरा भगवान् के समान तेरा हित करनेवाला है? ॥१॥

तूने शरीररूपी गृह में रहकर नये-नये (सम्बन्धियों के) प्रेम का अनुभव किया। और उनके कपट भरे प्रेम को भी परख लिया। अन्त में सबके प्रेम का भेद खुल गया। और, मित्रों का समाज क्या है? धोखेबाजों का जमघट है। जब जिसका काम अटकता है तब वह पैरों पर गिरने लगता है (पर काम निकल जाने पर उधर देखता भी नहीं।) ॥२॥

तूने देवताओं को भली भाँति पहचाना या नहीं? वे भी बड़े चतुर हैं। देते तो एक गुना हैं पर ले लेते हैं करोड़ गुना। अब रहे कर्म-धर्म, सो बिना श्रीरामजी (के आधार) के वे भी परिश्रम मात्र के हैं। उनका करना कराना ऐसा है जैसे राख में हवन करना या ऊसर जमीन पर पानी का बरसना ॥३॥

जो आदि में, मध्य में और अन्त में सबके और सभी का भला (कल्याण) करते हैं तथा जिनकी कीर्ति-कौमुदी लोक और वेद में छिटक रही है, उन श्रीजानकीवल्लभ रघुनाथजी के समान शान्तिनिधान स्वामी दूसरा कोई नहीं है। अरे मूर्ख! तू उन्हें भुला सा बैठा है। फिर तुझे कैसे कल पड़ रहा है? ॥४॥

अरे! जो जीवों का भी जीवन, प्राणों का भी प्राण, परमहितू, अत्यन्त प्रिय और

नीचों को भी पवित्र करनेवाला है, उसका तू निरादर कर रहा है ! तुलसी ! करुणेन्द्र कृपालु श्रीरामजी ने तेरे लिए चित्रकूट में जो लीला रची थी, उसे चित्त में तू स्मरण कर ॥८॥

भावार्थ—अनुभवे=अनुभव किए। सौदा-सूत=लेन देन का व्यवहार। बरिसो =वर्षा। धमरि-सो=पगला-सा। चेतु=याद कर।

विशेष—(१) 'गये नेह उघरि गो'—नागरीदासजी ने क्या खूब चेतावनी दी है —

'कहाँ वे सुत नाती हय, हाथी।
चले निसान बजाइ अकेले तहँ कोउ संग न साथी॥
रहे दास दासी सुत जोबन कर मीडें सब लोग।
काल गह्यौ तब सबहीं छाँड्यो, धरे रहे सब भोग॥
जहाँ-तहाँ निसिदिन जिनम को भट्ट कहत बिरुत्त।
सो सब बिसरि गये एक रट राम नाम कहो सत्त'॥
बठन देत हुते नहिं माखी चहुँ दिसि चँवर सवान।
लिये हाथ में लटठा ताको कूटत मित्र कपाल॥
सौंपा भोगो गात जारिके करि आये बन ढेरी।
घर आये तें भूलि गये सब धनि माया हरि तेरी॥
नागरिदास बिसरिये नाहीं यह गति अति असुहानी।
काल व्याल को कष्ट निवारन भजि हरि जनम सयानी॥'

(२) चित्रकूट को चरित्र—कथा है कि एक दिन चित्रकूट में तुलसीदासजी को घोड़ों पर सवार दो अत्यन्त सुन्दर राजकुमार दिखाई दिये। गोसाइंजी कुछ ध्याना-वस्थित से थे। ध्यान में विघ्न पड़ने की आशंका से उन्होंने अपने नेत्रों को बन्द कर भूमि की ओर कर लिया। कुछ देर बाद हनुमानजी ने दर्शन देकर पूछा, 'क्या श्रीराम-लक्ष्मण के दर्शन मिले या नहीं ? जो दो राजकुमार अभी घोड़ों पर सवार इधर से निकले हैं, वे ही तो श्रीराम और लक्ष्मण हैं। गोसाइंजी पछताने लगे —

'लोचन रहे बरी होय।
जान बूझ अकाज कीना गये भू में गोय॥
अविगत प्रभु तेरी गति न जानी, रह्यो जागत सोय।
सब छबि की अवधि में हैं निकसि गे छिन होय॥
करम हीन मैं पाइ हीरा दिया पल में खोय।
'दास तुलसी' राम बिछुरे, कहो कैसी होय॥

इसी प्रत्यक्ष दर्शन का और गोसाइंजी का इस पद में संकेत जान पड़ता है।

२६५

तन सुचि मन रुचि मुख कहौं जन हौं सिय पी को'।
केहि अभाग जान्यो नहीं जो न होइ नाथ सो नातो नेह न नीको॥१॥

जल चाहत पावक लहौं, विष होत अमी को।
कलि कुचाल संतनि कही सोइ सही, मोहि कछु फहम न तरनि तमी को॥२॥
जानि अंध अंजन कहै बन-बाघिनि घी को।
सुनि उपचार विकार को सुबिचार करौं जब-तब बुधि बल हरै ही को॥३॥
प्रभु सों कहत सकुचत हौं, परौं जनि फिरि फीको।
निकट बोलि, बलि बरजिये परिहरै ख्याल अब तुलसिदास जड जीको॥४॥

भावार्थ—हे प्रभो! मैं शरीर को पवित्र रखता हूँ, मन में भी रुचि है और मुँह से भी कहता हूँ, कि मैं श्रीजानकीवल्लभ का सेवक हूँ किन्तु समझ में नहीं आता, कि किस दुर्भाग्य के कारण नाथ के साथ भली भाँति मेरा सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध और प्रेम नहीं हो रहा। (तन मन वचन से आपका बनना चाहता हूँ और यथाशक्ति बनता भी हूँ, पर न जाने किस दुर्भाग्य से विघ्न बाधाएँ बीच में आ जाती हैं, जो सारा किया कराया मिट्टी में मिला देती हैं) ॥१॥

चाहता तो हूँ पानी पर मिलती है आग (शान्ति जल के बदले में अशान्ति की दाह मिलती है)। इसी प्रकार अमृत का विष बन जाता है (अमृत रूपी सत्कर्म दम्भ के सम्पर्क से विषाक्त हो जाते हैं।) संतों ने कलियुग की जितनी कुछ कुटिल चालें कही हैं वे सब ठीक ही हैं। मैं यह नहीं जानता कि क्या तो सूर्य है और क्या रात्रि (मैं ज्ञान और अज्ञान को ठीक-ठीक नहीं पहचान पाता। मुझे तो संतों का कथन ही सच जँचता है) ॥२॥

कलियुग मुझे अन्धा समझकर वन की सिंहिनी के घी का अंजन आँजने की सलाह देता है। (सिंहिनी तो जान ही खा जायगी। घी उसके दूध का कहाँ से मिलेगा और कैसे उससे अंजन बनेगा? संसार कानन में माया रूपी सिंहिनी रहती है। काम-वासना ही उसके दूध का घृत है। इस अंजन से क्या कोई बचेगा? कलियुग उपचार क्या बता रहा है? प्राणघातक विष का प्रयोग!) जब मैं यह विकार भरा उपचार सुनता हूँ और इस पर विचार करता हूँ तब बेचारे की बुद्धि बल नष्ट हो जाता है, साहस छूट जाता है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और बल पराक्रम क्षीण हो जाता है ॥३॥

(बुद्धि बल के नष्ट हो जाने से मुझे कलियुग का बताया उपचार अच्छा लगता है। माया में फँस जाता हूँ। कामी होकर विषयोपभोग करता हूँ। इसलिए आपके साथ निश्चित नाता नहीं जुड़ पाता और न आपके चरणों में प्रेम ही होता है) हे नाथ! आपसे कुछ कहता हूँ पर कहने में संकोच होता है कि कहीं मेरी बात फीकी न पड़ जाय। इससे मैं आपकी बलैयाँ लेता हूँ (और यही कहता हूँ कि) पास बुलाकर इस (कलियुग को) रोक दीजिए, जिससे यह तुलसी सरीखे अज्ञानी जीवों का ध्यान छोड़ दे ॥४॥

शब्दार्थ—अमी=अमृत। फहम=ज्ञान, समझ। तमी=अँधेरा, रात। ख्याल=ख्याल।

विशेष—(१) इस पद में यह दिखाया गया है, कि भगवत्प्राप्ति के उपाय करने पर भी उनके निकट सम्बन्ध और भक्ति होता जाता है। प्रत्येक सत्कर्म में दुष्कर्म का प्रभाव दिखाई देता है। कलियुग के प्रभाव से उस सम्बन्ध में अन्तर रहता है। यहाँ यह दिखता है कि हम पुण्य कर

रहे हैं किन्तु हमारे सुकृत-वस्त्र का छिपे छिपे अभिमान मूषक कुतर-काट डालता है या कमरूपी दीमक उसे छिन्न भिन्न कर देता है। छिपे छिपे ये कुचालें कलियुग चल रहा है। अतएव जैसे-तैसे भगवच्चरणों की शरण में जाना ही श्रेयस्कर है।

अहा!

'यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपाल वसुपाल किरीट जुष्ट पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥

[श्रीमद्भागवत

२६६

ज्यों-ज्यों निकट भयो चहौं कृपालु त्यों त्यों दूरि परयो हौं।
तुम चहुँजुग रस एक राम! हौंहूँ रावरो, जदपि अघ अवगुननि भरयो हौं॥१॥
बीच पाइ नीच बीच ही छरनि छरयो हौं।
हौं सुबरन कुबरन कियो, नृप तें भिखारि करि सुमति तें कुमति करयो हौं॥२॥
अगनित गिरि कानन फिरयो, बिनु आगि जरयो हौं।
चित्रकूट गये हौं लखी कलि की कुचाल सब अब अपडरनि डरयो हौं॥३॥
माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खरयो हौं।
चीन्हो चोर जिय मारिहै तुलसी सो कथा सुनि प्रभु सों गुदरि निबरयो हौं॥४॥

भावार्थ—हे कृपानिधान! ज्यों-ज्यों मैं आपके निकट आना चाहता हूँ त्यों-त्यों दूर होता जाता हूँ (आपका सान्निध्य पाने के जितने भी उपाय करता हूँ वे माया मोह के संसर्ग से ऐसे बाधक हो जाते हैं कि मैं क्षण प्रतिक्षण पीछे रह जाता हूँ)। हे रामजी! आप चारों युगों में सदा एक से हैं और मैं भी आपका रहा आया हूँ, यद्यपि मैं पापों और दोषों से भरा हूँ॥१॥

आपसे पृथक् रहने का मौका पाकर इस नीच कलियुग ने मुझे बीच ही में छलों से छल लिया (या ही मैं जीवत्व प्राप्त कर अविद्यावश भगवान से विमुख हुआ इसी दुष्ट कलि ने अपना इन्द्रजाल फैलाकर मुझे भूल भुलैया में डाल दिया)। मैं सुवर्ण था पर इसने कुवर्ण कर दिया सोने से रांगे में परिणत कर दिया। राजा से रंक बना डाला, और ज्ञानी से अज्ञानी कर डाला। (पहले मैं शुद्ध सच्चिदानन्द का अंशस्वरूप था, पर कलि ने इन्द्रियपरायण करके दो कौड़ी का कर डाला)॥२॥

तब से मैं (अनेक योनियों में) अगणित पहाड़ों और जंगलों में भटकता फिरा और वहाँ बिना ही आग के जलता रहा। परन्तु जब मैं चित्रकूट गया, तब इस कलि की सारी कुचालें तो समझ गया तो भी अब मैं अपने ही डर से डर रहा हूँ॥३॥

मैं हाथ जोड़कर प्रभु के सम्मुख खड़ा मस्तक नवाकर कह रहा हूँ कि पहचाना हुआ चोर जीता नहीं छोड़ता मार ही डालता है (कलियुग पहचाना हुआ चोर है, वह मौके की ताक में बैठा है) इस बात को सुनकर तुलसी अपने स्वामी से विनय प्रार्थना कर चुका (अब आगे जो आपकी मरजी हो सो उपाय कीजिए)॥४॥

शब्दार्थ—छरनि छरयो हौं = छलों से छला गया हूँ। अपडरनि = अपने ही

मरेगा, और हानि-लाभ और सुख-दुःख सबको एक समान देखेगा, भलाई-बुराई में समभाव रखेगा और कलिकाल की कुचालों को छोड़ देगा ॥३॥

जब मेरा मन प्रभु का गुणानुवाद सुनकर पुलकित होने लगेगा और नेत्रों से *प्रेमाश्रु-धार बहने लगेगी, तभी तुलसीदास को यह विश्वास होगा, कि अब वह श्रीरामजी* का दास हो गया। तब उस अनन्य प्रेम को देखकर आनन्द-रस हृदय में उमड़कर फूला नहीं समायेगा ॥४॥

शब्दार्थ—फिरि परिहै=फिर जायगा। ढरिहै=बहायगा।

विशेष—(१) 'तुम ... परिहै'—जो जीव भगवान् की अनन्य भक्ति को प्राप्त कर लेता है, उसकी मनोदशा अलौकिक हो जाती है। उसका सभी कुछ बदल जाता है। न वह तन रहता है, न वह मन। मुख पर उसके दिव्य सौन्दर्य झलकने लगता है। वाणी अमृतमयी हो जाती है। आँखों में प्रेमाश्रुओं की लहर उठती दिखाई देती है। विषयों की ओर से मन एकदम फिर जाता है। वह दशा विलक्षण और अगोचर है।

(२) 'चातक ... ढरिहै'—चातक की प्रेमानन्यता पर गोसाइंजी की अनेक अनूठी भावपूर्ण उक्तियाँ मिलती हैं, जैसे—

'डोलत विपुल विहंग बन पियत पोखरनि बारि।
सुजस धवल चातक नवल, तुही भुवन दस चारि॥
बध्यो बधिक पर्यो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहु लगी न खोंच॥'

(३) 'प्रभु गुन ... ढरिहै'—नागरीदासजी ने प्रेम-दशा का क्या ही सजीव चित्र खींचा है।

कब दुखदाई होयगो मोको बिरह अपार?
रोय रोय उठि डोलिहौं कहि-कहि पिव सुकुमार॥
सांस लिये हू तें छूटिहैं खान-पान अरु सैन।
छीन देह जोबन बसन, फिरिहौं हिये न चैन॥
मन ह्वै जलधार बहै छिन छिन सांस उसांस।
रैनि अंधेरी दामिनी पावस जुगनू उजास॥
रटत-रटत डोलिहौं कहि-कहि स्याम सुजान।
फिरत गिरत बन सघन में यों ही छुटिहैं प्रान॥

२६९

राम! कबहुँ प्रिय लागिहौ, जैसे नीर मीन को?
सुख जीवन ज्यों जीव को, मनि ज्यों फनि को, हित ज्यों धन लोभ-लीन को॥१॥
ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर! पावन प्रेम पीन को॥२॥
मनसा को दाता कहैं श्रुति प्रभु प्रबीन को।
तुलसिदासको भावतो, बलि जाउँ दयानिधि! दीजै दान दीन को॥३॥

भावार्थ—हे श्रीरामजी ! क्या कभी मुझे एम प्यारे लगेंगे, जसे मछली को जल प्यारा लगता है, जीव को सुखमय जीवन प्यारा लगता ह अथवा मणि साँप का प्रिय जान पडता है या अत्यन्त कजूस को धन ? ॥१॥

अथवा, जसे किसी नवयुवक नायक को स्वभाव से ही नवयुवती नायिका प्यारी लगती ह, उमी प्रकार, हे करुणालय ! मेरे मन में अपने चरणारविन्दों में पवित्र और अनन्य प्रेम की ही एकमात्र उत्कण्ठा उत्पन्न करदें ॥२॥

वेद कहते हैं कि प्रभु मनोवाछित फल देनेवाले ह, और बड ही चतुर ह (वे मन की बात तुरन्त ताड लेते है कहने की आवश्यकता ही नही पडती)। हे दयानिधे ! म आपकी बलयाँ लेता हूँ, इस दीन तुलसीदास को भी उसकी मनचाही वस्तु दे दीजिए ॥३॥

शब्दार्थ—फनि=साप। सुभाय=स्वभाव से ही। पीन=पुष्ट, मोटा। भावतो =मनचाहा।

विशेष—(१) 'जसे नीर मीन को'—मछली की जल के साथ कसी अनन्य प्रीति ह, इसे बताने की आवश्यकता नही। और पशु पक्षी तो जल के सूखते ही अन्यत्र चले जाते हं, पर मछलियाँ उसीके साथ सूखकर प्राण दे देती हैं। कविवर रहीम ने क्या कहा ह —

'सर सूखे, पछी उड, और सरनि समाहिं।
दीन मीन बिन पख के, कहु रहीम कहँ जाहिं॥

गोसाइजी ने मीन की अनन्यता का दोहावली में वणन इस प्रकार किया ह —

देउ आपने हाथ जल मीनहिं माहुर घोरि।
तुलसी जिय जो बारि बिनु तौ तु देहि कबि खोरि॥
मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह।
'तुलसी' एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥

(२) इस पद का निचोड गोसाईंजी ने इस दोहे में भर दिया ह —

'कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभी के जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥'

२७०

कबहुँ कृपा करि रघुबीर ! मोहूँ चितैहो।
भलो बुरो जन आपनो जिय जानि दयानिधि ! अवगुन अमित बितैहो॥१॥
जनम जनम हौं मन जित्यो, अब मोहिं जितैहो।
हौं सनाथ ह्वैहौं सही, तुमहूँ अनाथपति जो लघुतहि न भितैहो॥२॥
विनय करौं अपभयहु तें तुम्ह परम हिते हो।
तुलसिदास कासों कहै तुमही सब मेरे प्रभु-गुरु मातु पिते हो॥३॥

भावार्थ—हे रघुवीर ! मेरी ओर भी कभी कृपाकर आप देखेंगे ? हे दया-निधान ! भला या बुरा जो कुछ भी हूँ आपका सेवक हूँ, अपने मन में ऐसा समझकर

क्या मेरे अपार दोषों को नष्ट कर देंगे ? ॥१॥

अनेक जन्मों से मुझे यह मेरा मन जीतता चला आया है (मुझे अपने वश में चलाता आया है), अबकी बार क्या आप मुझे भी जितायेंगे ? (क्या वह आपकी कृपा से मेरे वश में होगा ?) तब तो मैं सचमुच ही सनाथ हो ही जाऊँगा। पर यदि आप भी मेरी क्षुद्रता से नहीं डरेंगे तो आप भी 'अनाथपति' पुकारे जाने लगेंगे (भाव, मेरी क्षुद्रता पर ध्यान न देकर मुझे अंगीकार कर लीजिए और 'अनाथपति' यह उपाधि भी धारण कर लें) ॥२॥

मैं अपने ही डर से इस प्रकार आपसे विनय कर रहा हूँ। आप तो मेरे परमहितू हैं। यह तुलसीदास अपना रोना और किसके आगे रोने जाय ? (संसार में कोई सुनने वाला भी तो नहीं है सब हँसी ही उड़ानेवाले हैं)। मेरे तो स्वामी गुरु, माता, पिता आदि सब आप ही हैं ॥३॥

शब्दार्थ—जित्यो = जीता गया। भितहौ = डरोगे। अपभयहुँ तें = अपने ही भय से।

२७१

जैसो हौं तैसो राम! रावरो जन जानि परिहरिये।
कृपासिंधु कोसलधनी! सरनागत-पालक, ढरनि आपनी ढरिये ॥१॥
हौं तौ बिगरायल और को बिगरो न बिगरिये।
तुम सुधारि आये सदा सबकी सबही बिधि, अब मेरियो सुधरिये ॥२॥
जग हँसिहै मेरे सग्रहे कत इहि डर डरिये।
कपि, केवट कीन्हे सखा जेहि सील, सरलचित, तेहिं सुभाउ अनुसरिये ॥३॥
अपराधी तउ आपनो तुलसी न बिसरिये।
टूटियो बाँह गरे परै फूटेहूँ बिलोचन पीर होत हित करिये ॥४॥

भावार्थ—हे रघुनाथजी! मैं (अच्छा बुरा) कैसा भी हूँ पर हूँ, तो आपका दास ही। इसलिए मुझे त्यागिए नहीं। हे कोशलेन्द्र! आप कृपा के समुद्र और शरण में आये हुए जीवों की रक्षा करनेवाले हैं। अपनी इस शरणागतवत्सलता की रीति पर ही चलिए ॥१॥

मैं तो औरों के हाथ से बिगाड़ा हुआ पहले से ही हूँ (माया मोह मुझे पहले ही बेकार कर चुके हैं इन्द्रियाँ और मन ने मेरा सर्वनाश कर ही डाला है), अब आप इसे बिगड़े हुए को और न बिगाड़िए, आप तो सदा से ही सबकी करनी सब तरह से सुधारते आये हैं सो अब मेरी भी सुधार दीजिए ॥२॥

क्या आप इस डर से डर रहे हैं कि मुझे अंगीकार करने से संसार आपका उपहास करेगा (कि, क्या कहना इस न्याय पर! बड़ी तुलसी मरीगे पापियों को भी अपनाना उचित था ? पर आप इस डर से न डरें क्योंकि आपके लिए पापियों को अपनाना कोई नई बात नहीं) आपने जिस शील और सरल भाव से बन्दरों और केवट को अपना मित्र बनाया था उसी स्वभाव से मुझे भी अपना लीजिए ॥३॥

यद्यपि मैं अपराधी हूँ, तथापि हूँ तो आपका ही। तुलसी को आप न भुलाइए। अपना टूटा हुआ भी हाथ गले बँध जाता है (कोई उसे काटकर फेंक नहीं देता) और फूटी हुई आँख में भी जब पीड़ा होती है तब उसका भी इलाज किया जाता है (इसी प्रकार मैं यद्यपि आपके किसी काम का नहीं हूँ, पर हूँ तो आपका ही अंश। अतएव उसे यों ही न छोड़ दीजिए) ॥८॥

शब्दार्थ—ढरनि—कृपा करने की प्रकृति। बिगरायल=बिगड़ा हुआ। संग्रहे =संग्रह करने से, अंगीकार करने से। गरे परै=गले बँध जाती है।

विशेष—(१) 'जसी परिहरिये'—भगवच्चरणारविंदों से एक क्षण के लिए भी पृथक् होना असह्य हो जाता है। जैसे मछली पलमात्र भी जल से अलग नहीं होना चाहती वैसे ही भक्त भगवान से अलग होने में दारुण दुःख का अनुभव करता है। सुनिए, एक व्रजाङ्गना क्या कह रही है —

'गिरि से गिरावो, कारे नाग से डसावो हाहा
प्रीति ना छुड़ावो प्रानप्यारे नंदलाल सों।'

कविवर बिहारी भी यही प्रार्थना करते हैं —

हरि कीजत तुम सों यहै, बिनती बार हजार।
जेहि-तेहि भाँति डर्यो रहौं पर्यो रहौं दरबार॥'

२७२

तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो।
सुनहु राम! बिनु रावरे लोकहु परलोकहु कोउ न कहूँ हितु मेरो॥१॥
अगुन अलायक आलसी जानि अधम अनेरो।
स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजराको सो टोटक, औचट उलटि न हेरो॥२॥
भगतिहीन, बेद बाहिरो लखि कलिमल घेरो।
देवन हू, देव! परिहर्यो, अन्याव न तिनको, हौं अपराधी सब केरो॥३॥
नाम की ओट लै पेट भरत हौं पै कहावत चेरो।
जगत बिदित बात ह्वै परी, समुझिये धौं अपने, लोक कि बेद बड़ेरो॥४॥
ह्वैहै जब तब तुम्हहिं तें तुलसी को भलेरो।
दिन दिनहूँ देव! बिगरिहै, बलि जाउँ, बिलंब किये, अपनाइये सबेरो॥५॥

भावार्थ—हे श्रीरामजी! आप मेरे लिए मन को मैला न करें, मेरी ओर से अपनी नजर न फेरें। हे नाथ! इस लोक में और परलोक में भी आपको छोड़कर मेरा कल्याण करनेवाला कहीं कोई दूसरा नहीं॥१॥

स्वार्थी मित्रों ने मुझे मूर्ख, नालायक, आलसी, नीच और निकम्मा समझकर, तिजारी के टोटके की तरह छोड़ दिया, और फिर भूलकर भी पलटकर मेरी ओर नहीं देखा। (ऐसा छोड़ा कि फिर कभी मेरी याद तक नहीं की।) ॥२॥

मुझे भक्तिहीन, वेदोक्त मार्ग से बहिष्कृत एवं कलिकाल के पापों से घिरा हुआ देखकर, हे नाथ! देवताओं ने भी छोड़ दिया (यदि मैं आपका भक्त होता, वदिक

मार्ग पर चलता होता और कलि के पापों से विमुख होता तो देवता मेरी बलैयाँ लेते, खुशामद करते, पर मैं वैसा नहीं हूँ। इसलिए उन लोगों ने भी मुझे त्याग दिया) यह उनका कोई अन्याय भी नहीं है क्योंकि मैं सभी का अपराधी हूँ ॥३॥

यद्यपि मैं आपके नाम की आड़ लेकर पेट भरता हूँ, इतने पर भी लोग मुझे 'रामदास' कहते हैं। यह बात जगत्प्रसिद्ध हो गई है। आप विचार तो कीजिए, कि संसार बड़ा है या वेद ? (वेदों को देखा जाय तो मैं आपका सेवक नहीं हूँ किन्तु संसार जब मुझे आपका सेवक कहता है, तो कोई हजार में एक मिलेगा पर लोक की रीति प्रायः सभी मानते हैं। जब लोक में यह ढिंढोरा पिट चुका है कि—तुलसी रामदास है तब आपको यही सिद्ध करना होगा झूठी बात भी सच साबित करनी पड़गी) ॥४॥

तुलसी का भला चाहे जब हो और जैसे हो, पर होगा आपके ही हाथ से। (जब आपको भला करना ही है, तो शीघ्र कर देना अच्छा है।) मैं आपकी बलैयाँ लेता हूँ यदि आप देर करेंगे तो यह गरीब दिन पर दिन बिगड़ता ही जायगा। (व्याधि का उपचार आरम्भ में ही कर लेना अच्छा है पीछे बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है) अतएव मुझे शीघ्र ही अपना लीजिए ॥५॥

शब्दार्थ—अगुन=मूर्ख। अलायक=नालायक अयोग्य। अनेरो=बेकाम। तिजरा=तिजारी। टोटक=टोटका। भलेरो=भला कल्याण। सवेरो=जल्द ही।

विशेष—(१) तिजरा को-सो टोटक—जिसे तिजारी ज्वर आता है उसके ऊपर मिट्टी के कूड़े में आटे के सात दीपक जलाकर और उसमें खीर हल्दी सेंदुर और सफेद फूल रखकर आधी रात के समय लोग उतारते हैं और उस कूड़ को चौराहे पर रखकर चल आते हैं। उसकी तरफ लौटकर देखना भी नहीं होता है। कहते हैं यदि उस टोटके की ओर रखनेवाला देखले, तो उसे तिजारी आने लगता है। कुछ हेर-फेर के साथ भारत के प्रायः कई प्रान्तों में ऐसे एसे टोटके प्रचलित है।

२७३

तुम तजि हौं कासों, कहौं और को हितु मेरे ?
दीनबंधु! सेवक, सखा, आरत अनाथ पर सहज छोह केहि केरे ॥१॥
बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि बिनु बेरे।
कृपा-कोप-सतिभायहूँ धोखेहुँ तिरछेहुँ राम! तिहारेहि हेरे ॥२॥
जो चितवनि सौंधी लगै, चितइये सवेरे।
तुलसिदास अपनाइये, कीजै न ढील, अब जीवन अवधि अति नेरे ॥३॥

भावार्थ—हे नाथ! आपको छोड़कर मैं और किससे कहूँ? मेरा सच्चा हितू और कौन है? (जहाँ-तहाँ स्वार्थी ही मिलेंगे। वे दूसरों का मर्म क्से समझेंगे? मेरा भला तो आपसे ही होगा। इसीसे मैं बार बार आपसे ही कहता हूँ) हे दीनबन्धो! सेवक पर मित्र पर, दुखिया पर और अनाथ पर स्वभाव से ही किसको कृपा है, निष्कारण और निष्काम स्नेह और कौन करता है? ॥१॥

बहुत मारे पापी इस संसार सागर को बिना ही नाव और बिना ही बेड़े के पार

कर गये। हे रामजी! उनको ओर कृपा से या क्रोध से, सच्चे भाव से या तिरछी दृष्टि से ही आपने देख भर लिया था ॥२॥

इन दृष्टियों में से जो भी आपको अच्छी लगे उसीसे देख दीजिए (चाहे कृपा दृष्टि से, चाहे कोप दृष्टि से अथवा प्रेम दृष्टि से या तिरछी दृष्टि से जो आपको पसन्द हो, उससे मुझे देखिए। मेरी बात तो किसी भी दृष्टि से देख देने मात्र से बन जायगी)। तुलसीदास को अब अपना ही लीजिए। देर न कीजिए, क्योंकि अब जीवन का अन्त बहुत समीप आ गया है। (जीवन-ज्योति टिमटिमा रही है, न जाने किस क्षण बुझ जाय) ॥३॥

भावार्थ—छाह = कृपा। तरि=नौका। वर = बेडा। सौंधी = भली।

विशेष—'कृपा कोप हेर—

कृपा-दृष्टि से अहल्या जटायु आदि को मुक्त किया कोप-दृष्टि से, रावण, कुम्भकर्ण आदि को मुक्त किया। सतिभाय अथवा सत्यभाव से निषाद सुग्रीव विभीषण आदि को अपनाया और बांकी दृष्टि से यवन आदि का अंगीकार कर लिया।

(२) 'चितइय—नरे—न जाने किस घड़ी क्या हो जाय, इसलिए हे नाथ! मुझे शीघ्र ही शरण में लीजिए। कबीर साहब कहते हैं —

'साथी हमरे चलि गये हम भी चालनहार।
कागद में बाकी रही तातें लागी वार॥
'कबिरा रसरी पाव में, कह सोवे सुख-चैन।
स्वास नगाडा कूच का बाजत है दिन रैन॥'

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी जीवन अवधि समीप जानकर अपने प्राणनाथ प्रियतम कृष्ण से अत्यन्त प्रेमाधीर होकर कह रहे हैं —

'थाकी गति अंगन की मति परि गई मंद,
सब झाँझरी सी ह्वै के देह लागी पियरान।
बावरी सी बुद्धि भई हँसी काहू छीन लई
सुख के समाज जित तित लागे दूर जान॥
हरीचंद रावरे बिरह जग दुखमयो
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहु अथान लागे,
आओ प्राननाथ! अब प्रान लागे मुरझान॥

२७४

जाउँ कहाँ, ठौर है कहाँ देव! दुखित दीन को?
को कृपालु स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अंग बल बिहीन को ॥१॥
गनिहिं गुनिहिं साहिब लहै, सेवा समीचीन को।
अधन, अगुन आलसिन को पालिबो फबि आयो रघुनायक नवीन को ॥२॥
मुख कै कहा कहौं बिदित है जी की प्रभु प्रबीन को।
तिहूँ काल, तिहूँ लोक में एक टेक रावरी तुलसी से मन मलीन को

भावार्थ—हे देव ! कहाँ जाऊँ ? मुझ दुःखी और दीन के लिए दूसरा कहाँ ठौर ठिकाना है ? आपके समान दयालु स्वामी और कहाँ मिलेगा, जो सब प्राणियों में सब भाँति बन्धुत्व का भाव रखने में समर्थ है ? ॥१॥

संसार में जो दूसरे स्वामी मिलते हैं वे सब स्वार्थ का संबन्ध रखते हैं, जो धनी हों, गुणी हों और जिन्हें सम्मानित समझा जाता हो। गरीब निवाज, दुःखी और आतुरों का पालन करने के लिए उदारता श्रीरघुनाथजी को ही शोभा देता है ॥२॥

मैं क्या कहूँ ! प्रभो ! आप तो स्वयं चतुर हैं। आपकी सभी बातें करनी प्रकट हैं। तुलसी सरीखे मलिन मनवाले के लिए तीनों लोकों (स्वर्ग पृथ्वी और पाताल) तथा तीनों कालों में एक आपका ही सहारा है ॥३॥

भावार्थ—गनिहि = (गनी) धनी का। सदाधार = दयालु।

विनोद—(१) जाऊँ कहाँ—भक्तवर हरिराम व्यास भी संसार की उपेक्षा से उद्विग्न होकर कहते हैं —

जाएँ कौन के अब द्वार।
जो जिय होय प्रीति काहू के दुख कहिये सौ बार॥
घर घर राजस तामस बाढ़ो धन जोबन को गार।
काम बिबस ह्वै दान देत नीचन को होत उदार॥
साधु न सूझत बात न बूझत, यह कलि के ब्योहार।
व्यासदास कत भाजि उबरिये, परिये माँझी धार॥

(२) गनिहि—गनी यह फारसी भाषा का शब्द है।

(३) बिदित है जो कि—आपसे क्या छिपा है ? कोई अच्छी करनी की हो तो आपसे कहूँ भी ! मैंने तो ऐसे ऐसे नारकीय कर्म किए हैं कि कहते लज्जा आती है। मैं अपनी बात क्या मुँह लेकर कहूँ ? आप स्वयं ही चतुर हैं मन की बात स्वयं ही जान जायेंगे।

: २७५ :

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
हे दयालु दुनी दस दिसा दुख-दोष दलन छम
कियो न संभाषन काहू ॥१॥
तनु जन्यो* कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।
काहे को रोष, दोष काहि धौं मेरे ही
अभाग मोसो सकुचत छुइ सब छाहूँ ॥२॥
दुखित देखि संतन कह्यो, सोचै जनि मन माहूँ।
तोसे पसु पावर पातकी परिहरे न,
सरन गये रघुबर ओर निबाहूँ ॥३॥

* पाठान्तर 'जनेउ तनु तजेउ'।

तुलसी तिहारो भये भयो सुखी प्रीत प्रतीति विना हूँ।
नाऊ की महिमा, सील नाथ को,
मेरो भलो विलोकि अवतें सकुचाहुँ, सिहाहुँ ॥४॥

भावार्थ—हे नाथ ! मैं द्वार द्वार पर दाँत निकालकर और पैर पड पडकर अपनी दीनता कहता फिरा। (यह बात नही, कि ससार में कोई मेरी गरीबी दूर करने योग्य नही है) ससार में ऐसे एसे दयावन्त मौजूद है, जो दशो दिशाओ के दुःखों और दोषो का नाश करने में समर्थ है, किन्तु मुझसे तो किसी ने बात भी नही की (आँख उठाकर भी मेरी ओर न देखा) ॥१॥

माता पिता ने मुझे ऐसा त्याग दिया, जैसे कुटिल कीडा अर्थात सर्पिणी अपने ही शरीर से जने हुए (बच्चे) को त्याग देती है। किसलिए तब क्रोध करूँ, और किसे दोष लगाऊँ? यह सब मेरे ही दुर्भाग्य से हुआ। आज लोग मेरी छाया तक छूने में सकोच करते हैं ॥२॥

(मेरी यह दुर्दशा होने पर) संतो ने मुझे देखकर कहा 'तू अपने मन में चिन्ता न कर। तेरे समान अधम और पापी पशु पक्षियों तक का शरण में जाने पर श्रीरघुनाथ-जी ने अन्त तक निर्वाह किया है। (भाव तू भी उन्ही की शरण में जा, वे तेरी करनी सुधार देंगे और अंत तक तुझे निभाएँगे) ॥३॥

मैं (तुलसी) आपका हो गया और जब से आपका हुआ हूँ, तब से मैं सुख में हूँ यद्यपि मेरी प्रीति और प्रतीति नही है (जो कही प्रीति प्रतीति हो जाय तब तो आनन्द का कोई सीमा ही न रहे) हे नाथ! आपके नाम की महिमा तथा शील से मेरा जो भला हुआ उसे देखकर मैं लज्जित होता हूँ (इसलिए कि मैंने कृपा-पात्र होने योग्य तो एक भी काम नही किया फिर भी मुझ कृतघ्न पर प्रभु की ऐसी कृपा है) और प्रशसा करता हूँ (कि धन्य पतित-पावन प्रभो! जिस तुलसी का कहीं ठौर ठिकाना भी न था, उसे भी आपने कृतार्थ कर दिया।) ॥४॥

शब्दार्थ=काढ़ि रद=दाँत निकालकर दीन बनकर। पा=पैर। दुनी=दुनिया। छम=(क्षम) समर्थ। ओर=अंत तक। सिहाहु=सराहना करता हूँ।

विशेष—(१) तनु जन्या —श्री वजनाथ जी ने 'त्वचा तजत' और भट्टजी ने 'तनु तजेउ' पाठ मानकर यह अर्थ किया, कि जैसे साँप अपनी केंचुल को छोड देता है। वजनाथजी ने तो 'त्वचा' लिखकर स्पष्ट ही कर दिया है। भट्टजी तनु का अर्थ 'काँचली' कर रहे है। *नागरी प्रचारिणी सभा की प्रति के अनुसार हमने तनु जन्या पाठ शुद्ध माना है।* सर्पिणी अपने बच्चो को जनते ही छोड देती है। प्रवाद तो यह है कि सर्पिणी उन्हें जनमते ही खा जाती है जो भागकर निकल जाते है वे ही बचते है।

श्रीदेवनारायण द्विवेदी ने दूसरा यह अर्थ किया है— माता-पिता ने मुझे अपने शरीर में इस प्रकार पैदा किया जैसे दुष्ट कीड़ा अर्थात माता में दुष्ट कीडा था कि *माता पिता ने अपने शरीर से पैदा करके मुझे छोड दिया, स्वर्ग सिधार गये।* ' यह भी समीचीन अर्थ हो सकता है।

(२) काहे अभाग—सच्चे वैष्णव न तो किसी को [illegible] करते हैं और

न दोष देत हैं। वैष्णवों के लक्षण भवतवर भगवद्रसिकजी ने इस प्रकार कहे हैं—

'हिंसा, लोभ, दंभ छल त्यागी, विष-सम देखत माया।
हरि को भजन, साधु की सेवा, सर्वभूत पर दाया॥
सहनसील आसय उदार अति धीरज सहित बिवेकी।
सत्य बचन सबको सुखदायक गहि अनन्य व्रत एकी॥

(३) 'दुखित कह्यो'—क्योंकि स्वभाव से ही संत दयालु होते हैं—

कोमल बानी संत की स्रवत अमृतमय आइ।
'तुलसी' ताहि कठोर मन, सुनत मैन होइ जाइ॥
जड़ जीवन को करै सचेता। जगमाहीं बिचरत एहि हेता॥'

[वैराग्य-संदीपिनी

२७६

कहाँ न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
राम ! रावरे बिन भये जन जनमि जनमि,
जग दुख दसहूँ दिसि पायो॥१॥
आस बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो।
हाहा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार बार
परी न छार मुँह बायो॥२॥
असन बसन बिनु बावरो जहँ तहँ उठि धायो।
महिमा मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि,
आगे खिनु खिनु पेट खलायो॥३॥
नाथ ! हाथ कछु नाहिं लग्यो लालच ललचायो।
साँच कहौं, नाच कौन सो जो न मोहि लोभ,
लघु हौं निरलज्ज नचायो॥४॥
स्रवन नयन-मन मग लगे, सब थल पति तायो।
मूड़ मारि, हिय हारिकै हित हरि,
हहरि अब चरन सरन तकि आयो॥५॥
दसरथ के समरथ तुहीं, त्रिभुवन जसु गायो।
तुलसी नमत अवलोकिये, बलि,
बाँह बोल दै बिरुदावली बुलायो॥६॥

भावार्थ—मैंने क्या नहीं किया ? कौन सी जगह थी जो जाने को बची ? और किसके आगे सिर नहीं झुकाया ? (जितने भी उपाय हो सकते हैं वे सभी कर चुका हूँ।) किन्तु हे श्रीरामजी ! जब तक आपका सेवक नहीं हुआ तब तक संसार में जन्म ले-लेकर मैंने दसों दिशाओं में केवल दुःख ही पाया (सुख किसे कहते हैं यह आज तक नहीं जाना)॥१॥

आपका खास दास होकर भी सुख पाने की आशा से अपने आका क्षुद्र प्रभुओं के आगे जताता फिरा, (यद्यपि जन्म से ही मैं आपका दास हूँ, तत्वतः जीव परमात्मा का अशस्वरूप है किन्तु झूठी आशा को लेकर क्षुद्र मनुष्यों को अपना स्वामी मान उनसे अपनी रामकहानी सुनाता फिरा।) द्वार-द्वार पर अपनी गरीबी सुनायी, पर सब व्यर्थ गया ॥२॥

भोजन और वस्त्र के बिना पागल के जैसा जहाँ-तहाँ दौड़ता फिरा। प्राणों से भी प्यारी मानप्रतिष्ठा का भी त्यागकर दुष्टों के आगे क्षण क्षण पर यह पेट खोल-खोलकर दिखाया ॥३॥

हे प्रभो! लोभ के मारे बहुत लालच की पर हाथ कुछ भी न लगा। सच कहता हूँ ऐसा कौन सा नाच बचा है जो क्षुद्र लाभ ने मुझ निलज्ज को न नचाया हो? (जितने पेट भरने के स्वांग रचे और पाखण्ड किए उन्हें कहाँ तक गिनाऊँ!) ॥४॥

कानों, आँखों और मन को अपने अपने मार्ग पर लगाया पर सभी जगह गिरावट ही होती गई। (सब राजे महराजे भी जाँच लिये) जब कहीं किसी के द्वारा सुख-शान्ति न मिली, (तब) सिर पीटकर निराश हो गया। अब घबराकर आपके चरणों की शरण तककर आया हूँ, क्योंकि यहाँ पर मुझे अपना हित दिखाई देता है। (मुझे निश्चय हो गया है कि आपकी शरण में जाने से ही मेरी जन्म जन्मान्तर की दरिद्रता दूर हो जायगी) ॥५॥

हे दशरथे! आपही समर्थ हैं। त्रिलोक में आपका ही यश गाया जाता है। देखिए, तुलसी आपके चरणों में विनत हो रहा है। मैं आपकी बलैया लेता हूँ। आपकी विरदावली ने ही मुझे बाँह और (अभय) वचन देकर बुलाया है (यह न कहिएगा कि मैं बिना बुलाये ही चला आया अतएव उपेक्षणीय हूँ। यदि दावा है, तो आपकी विरदावली क्योंकि वही मुझे यहाँ तक खींचकर लाई है।) ॥६॥

शब्दार्थ—छार=राख धूल। असन = भोजन। छिनु छिनु = क्षण क्षण।

विशेष—(१) कहा न कियो ... दिसि पायो—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस पर क्या ही मर्म भरा पद कहा है—

तुम बिन प्यारे, कहुँ सुख नाहीं।
भटक्यो बहुत स्वाद रस-लम्पट ठौर ठौर जग माहीं॥
प्रथम चाव करि बहुत पियारे, जाइ जहाँ ललचाने।
तहँ तें फिरि ऐसो जिय उचटत आवत उलटि ठिकाने॥
जित देखों तित स्वारथ ही की निरस पुरानी बातें।
अतिहि मलिन व्यवहार देखिकै, घिन आवत है तातें॥
जानत भले तुम्हारे बिनु सब, बादिहि बीतत साँसें।
हरीचंद नहिं टूटति तउ यह कठिन मोह की फाँसें॥

(२) 'सब थलपति तायो'—श्री बैजनाथजी ने 'सब थल पतितायो' पाठ मानकर यह अर्थ किया है 'विषयनवश सब थल पतितायो सबै स्थान पर अधिक पतित होत गयो।'

यही पाठ मानते हुए श्रीरामेश्वर भट्ट ने भी लिखा है कि 'सब जगह पत्रिका' पहिया यह मादमिया को ताया पाना।)

२७७

राम राय ! बिनु रावरे मेरे को हितु साँचो ?
स्वामी सहित सब सों कहौं सुनि गुनि,
बिसेषि कोउ रेख दूसरी खाँचो ॥१॥
देह-जीव जोग के सखा मृषा टाँचन टाँचो।
किये बिचार सार कदली ज्यों,
मनि कनक संग लघु लसत बीच बिच काँचो ॥२॥
'बिनय-पत्रिका' दीन की बापु ! आप ही बाँचो।
हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय,
सही करि बहुरि पूछिए पाँचो ॥३॥

भावार्थ—हे महाराज रामचन्द्रजी ! आपको छोड़कर मेरा सच्चा हितू दूसरा कौन है ? मैं अपने स्वामी सहित सभी से कहता हूँ उसे सुन समझकर यदि कोई और बड़ा हो, तो दूसरी लकीर खींच दीजिए। (मेरी बात को काटकर दूसरा सिद्धान्त बता दीजिए, मुझे झूठा साबित कर दीजिए।) ॥१॥

(यदि आप यह कहें कि संसार में तेरे बहुत सगे सम्बन्धी हैं क्या वे तेरा हित न करेंगे, तो) शरीर और जीवात्मा के सम्बन्ध के जितने सखा या हितैषी मिलते हैं वे सब मिथ्या टाँकों से सिले हुए हैं। (जो टाँके ही मिथ्या हैं, जिनका वास्तविक अस्तित्व ही नहीं उनसे सिली हुई चीज कहाँ तक सच हो सकती है ? जैसा कारण, वैसा कार्य।) विचार करने पर ये सखा केले के वृक्ष के सार के समान हैं। (ऊपर से देखने पर जान पड़ता है कि भीतर गूदा भरा होगा पर छीलने पर अन्त तक उसमें से छिलके छिलके के कुछ भी नहीं निकलता वैसे ही ज्ञान दृष्टि से देखने पर संसार के सारे ही सम्बन्ध वैसे ही हैं)। ये सुन्दर जान पड़ते हैं जैसे, मणि सुवर्ण के संयोग से बीच बीच में तुच्छ काँच भी शोभा देता है (यहाँ, मणि ईश्वर है और सुवर्ण है जीव दोनों के संयोग से काँचरूपी संसारी सम्बन्ध भी सुन्दर भासित होते हैं वस्तुतः वे तुच्छ काँच ही हैं। मणि तो उनसे सर्वथा भिन्न है) ॥२॥

हे पिताजी ! इस दीन की लिखी 'विनय पत्रिका' स्वयं आप ही पढ़िएगा (किसी पेशकार से न पढ़वाइएगा। सम्भव है वह कुछ का-कुछ पढ़ जावे या कुछ अंश ही छोड़ दे। अतः आप ही पढ़िए)। तुलसी ने इसमें अपने हृदय की सच्ची सच्ची बातें ही लिखी हैं। पहले आप अपने स्वभाव से इस पर 'सही' बना दीजिएगा। फिर पीछे पंचों से पूछिएगा (क्योंकि यदि आपने उनसे पहले ही सलाह ली तो शायद वे यह कह दें कि 'पत्रिका' का मजमून बिगड़ गया है, यह राज्यदरबार के लायक नहीं है तो मेरा सारा किया-कराया मिट्टी में मिल जायगा) ॥३॥

शब्दार्थ—टाँचन=टाँक। पाँचो =पंचों से।

विशेष—(१) देह ... ढाँचा—इसका यह अर्थ न लगाया जाए कि गोसाईं जी समाज प्रेम, देश प्रेम या विश्व प्रेम के विरोधी थे। आशय इतना ही है कि ईश्वर प्राप्ति या सत्यान्वेषण के मार्ग में जो कष्ट या बाधक हैं, वे असत्य हैं, अतः परित्याज्य हैं। किन्तु जो मित्र और सम्बन्धी सत्यान्वेषण के साधक हैं, वे सत्य और प्रिय हैं। कहा है —

'तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥'

२७८

पवन सुवन ! रिपुदवन ! भरतलाल, लखन ! दीन की।
निज निज अवसर सुधि किये, बलि जाउँ,
दास आस पूजिहै खास खीन की॥१॥
राज-द्वार भली सब कहैं साधु समीचीन की।
सुकृत सुजस साहिब कृपा स्वारथ परमारथ
गति भये गति विहीन की॥२॥
समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीन की।
प्रीति रीति समुझाइबी नतपाल,
कृपालुहि परमिति पराधीन की॥३॥

भावार्थ—हे पवनकुमार ! हे शत्रुघ्नजी ! हे भरतलालजी ! हे लखनलालजी ! अपने अपने अवसर में इस दीन तुलसी की याद रखना। मैं आप लोगों की बलयाँ लेता हूँ। आपके ऐसा करने से इस अत्यन्त दुर्बल दास की आशा पूरी हो जायगी (श्रीरघुनाथ जी मेरी 'पत्रिका' पर 'सही' कर देंगे)॥१॥

राज-दरबार में सच्चे सज्जनों की बात तो सभी अच्छी कहते हैं (इसमें कोई विशेषता नहीं है) पर यदि आप लोग इस शरणरहित दीन की सिफारिश कर देंगे तो इसे भगवान् की शरण मिल जायगी आपको पुण्य प्राप्त होगा और आपका सुयश फैलेगा, आपके स्वामी आप पर कृपा करेंगे (क्योंकि जो उनकी पतित-पावनता के विरद में सहायक बनेगा, उनसे मुझ सरीखे पापियों की सिफारिश करेगा उस पर वे और भी कृपा करेंगे) आपके स्वार्थ और परमार्थ दोनों बन जायेंगे॥२॥

इसलिए मौका देखकर (क्योंकि राज दरबार में बे मौके बात नहीं करना होती है) इस पतित तुलसी की बात सुधार देना (सिफारिश करके मेरी 'विनय-पत्रिका' पर सही लिखवा देना) भक्तवत्सल दयालु रघुनाथजी से मुझ परतन्त्र जीव की प्रेम पद्धति की परमिति समझाकर कह देना॥३॥

शब्दार्थ—खीन = (क्षीण) दुर्बल। परमिति = सीमा।

विशेष—(१) पवन-सुवन ... दीन की—इस पद में गोसाईंजी पत्रिका भेजने के पूर्व ही अपनी तरफ़ राज दरबारियों को विनती कर कर मिला रहे हैं। लालच भी उन्हें काफी दी गई है।

(२) समुझाइबो—इस शब्द पर श्रीवैजनाथजी लिखते हैं—"'समुझाइबो' यह वाचक स्त्रीलिंग में है, ताते यह प्रार्थना किशोरीजूमा है।'

यह युक्ति ठीक नहीं जच रही। समुझाइबी बुन्देलखण्डी प्रयोग है। 'करबी', 'जायबी', 'समुझाइबी' आदि क्रिया प्रयोग आज भी वहाँ प्रयुक्त होते हैं। यह प्रयोग पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों के लिए होता है।

२७९

मारुति मन, रुचि भरत की लखि लषन कही है।
कलिकालहुँ नाथ ! नाम सो प्रतीति प्रीति
एक किंकर की निबही है ।।१।।
सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है।
कृपा गरीबनिवाज की, देखत
गरीब को साहब बाँह गही है ।।२।।
बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।'
मुदित माथ नावत, बनी तुलसी अनाथ की
परी रघुनाथ हाथ सही है ।।३।।

भावार्थ—हनुमान् और भरत की रुचि देखकर लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा—हे नाथ! कलियुग में भी आपके एक सेवक की आपके नाम से प्रीति और प्रतीति निभ गई (देखिए उसकी यह 'विनय-पत्रिका' भी याद है।') ।।१।।

यह सुनकर सारी राजसभा एक स्वर से कह उठी—हाँ यह सच है, सभी उसकी रीति को जानते हैं। गरीबनिवाज श्रीरामचन्द्रजी की उस पर भारी कृपा है। स्वामी ने गरीब देखते-देखते उसकी बाँह पकड़कर अपना लिया है ।।२।।

ो भी वे अच्छा समझते थे। अत उन्ही से सिफारिश कराई गई।

(२) सुधि मैं हू लहो है—कदाचित श्रीजानकी ने कहा होगा, क्योंकि गोसाइजी नसे पहले ही निवेदन कर चुके थे,

> कबहुँक अंब ! अवसर पाइ।
> मेरिओ सुधि द्याइवी कछु करुन-कथा चलाइ।

विनय-पत्रिका

समाप्त



अन्तर्कथाएँ

अन्धक—यह बड़ा उपद्रवी और प्रबल दैत्य था। हिरण्याक्ष का पुत्र था यह। ब्रह्मा से इसे वर मिला था कि मरने पर भी इसके रक्त से इसके सहस्रों रूप हो जाएँगे। इसके भय से देवगण मन्दराचल पर चले गए। पर यह वहाँ भी उन्हें सताने लगा। देवताओं की प्रार्थना पर शंकर भगवान् ने उसका त्रिशूल से वध किया जिससे उसे ज्ञान प्राप्त हुआ, और उसने भगवान् की भक्ति का वरदान पाकर शरीर त्याग दिया।

अम्बरीष—महाराजा अम्बरीष परम भक्त थे। एकादशी का नियमित व्रत करवाने वालों में ये एक ही थे। एक बार द्वादशी के दिन महान् क्रोधी दुर्वासा ऋषि आ पहुँचे। राजा ने उन्हें भोजन का सादर निमन्त्रण दिया। अम्बरीष द्वादशी के दिन ब्राह्मणों को भोजन कराकर बाद में प्रसाद लेते थे। उस दिन द्वादशी थोड़ी ही थी उपरान्त त्रयोदशी लग जानेवाली थी। धर्मशास्त्र के अनुसार द्वादशी में पारण कर लेना चाहिए। ब्राह्मणों के कहने पर राजा ने यह दोष मिटाने के लिए भगवान् का चरणोदक ले लिया। इतने में दुर्वासा आ गए। यह जानकर कि राजा ने बिना भेंट पाए पारण कर लिया है वे आगबबूला हो गए, और राजा को शाप दिया कि तुझे जो यह घमंड है कि मैं इसी जन्म में मुक्त हो जाऊँगा, वह मृषा है। अभी जलचर, नभचर, मनुष्य आदि के तुझे दस सहस्र शरीर धारण करने होंगे। दुर्वासा ने कृत्या नाम की एक राक्षसी भी उत्पन्न की। वह राजा को खाने को दौड़ी। उधर श्रीहरि ने चक्र सुदर्शन को आज्ञा दी। चक्र ने कृत्या को मारकर दुर्वासा का पीछा किया। ऋषि तीनों लोकों में भागते फिरे पर किसी ने भी उन्हें शरण न दी। तब लाचार होकर अम्बरीष की ही शरण ली। राजा ने सुदर्शन चक्र को शान्त कर दिया। भगवान् ने दुर्वासा से कहा कि 'तुमने मेरे भक्त को जो शाप दिया है उसे मैं ग्रहण करता हूँ। मैं स्वयं दस शरीर धारण करूँगा।"

अगस्त्य—लिखा है कि समुद्र तट पर टिटहरा का एक जोड़ा रहता था। उनके अण्डे समुद्र अपनी लहरों से बहा ले जाता था। सन्तान वियोग से वे समुद्र पर क्रुद्ध हो गए। अपनी चोंच में बालू भर भरकर वे समुद्र को पाटने की कोशिश करने लगे। यह देखकर अगस्त्य मुनि को उनकी दशा पर दया आ गई। मुनि ने उन्हें सान्त्वना देते हुए ॐ राम कहकर तीन आचमनों से समुद्र को सुखा दिया। बाद में देवताओं की प्रार्थना पर उसे खारा करके पेट से बाहर निकाल दिया।

अगस्त्य मुनि की एक और कथा है। लिखा है कि विन्ध्य पर्वत बड़ा ऊँचा था। सूर्य के प्रचण्ड तेज के कारण जब उसके वृक्ष जलने लगे तब सूर्य को ढक देने के लिए वह अपना शरीर बढ़ाने लगा। देवता यह देखकर बहुत घबराए। अगस्त्य ऋषि से आकर उन्होंने प्रार्थना की। ऋषि ने रामनाम का स्मरण किया और विन्ध्य पर्वत के मस्तक पर

हाथ रखकर उससे कहा, "देख जब तक मैं लौटकर न आऊँ तू यहीं ऐसे ही पड़ा रहना।' न अगस्त्य कभी लौटे और वह न उठा। वैसा ही पड़ा रहा।

अजामिल—यह बड़ा दुराचारी ब्राह्मण था। इसके कनिष्ठ पुत्र का नाम 'नारायण' था। मरते समय जब यम के दूत इन्हें ले जाने लगे, तब इसने भयभीत होकर चार-पाँच बार 'नारायण' को पुकारा। नारायण तो न आया पर भगवान नारायण के पार्षद आ पहुँचे। उन्होंने हठपूर्वक यमदूतों को डाँटकर इसे छुड़ा लिया, क्योंकि अन्त समय इसने 'नारायण' का नाम स्मरण किया था।

अनसूया—चित्रकूट में महर्षि अत्रि और उनकी परम पतिव्रता साध्वी पत्नी अनसूया ने पुत्र-कामना से घोर तप किया। ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने उनको दर्शन दिए और वर माँगने को कहा। अनसूया ने यह वर माँगा कि मेरे गर्भ से तुम्हारे सदृश पुत्र जन्म लें। त्रिदेव को 'तथास्तु' कहना पड़ा। तीनों ने भगवती अनसूया के गर्भ से जन्म लिया। ब्रह्मा के अंश से चन्द्रमा, विष्णु के अंश से दत्तात्रेय और शिव के अंश से दुर्वासा जनमे।

अहल्या—अनिन्द्य सुंदरी महर्षि गौतम की पत्नी थी। उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध हो एक दिन इन्द्र जब गौतम संध्या-वंदन करने के लिए गये हुए थे गौतम का रूप धारण कर अहल्या के पास पहुँचा और उसने उससे रतिदान माँगा। कुसमय में अहल्या ने पहले तो उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी परन्तु पतिव्रता होने के कारण कपटवेशधारी इन्द्र के साथ उसे अनिच्छा से संभोग करना पड़ा। इतने में गौतम आ गए। उन्होंने योगदृष्टि से सारा रहस्य जानकर इन्द्र को यह शाप दिया कि तेरे शरीर में एक सहस्र भग हो जाएँ। अहल्या को भी शाप दिया कि तू पाषाण मूर्ति हो जा। बाद में क्रोध शान्त होने पर दोनों के शाप का प्रतीकार महर्षि ने इस प्रकार कर दिया कि श्रीराम के चरणों के स्पर्श से पाषाणी अहल्या का उद्धार हो जायगा और जब रामचन्द्रजी शिव का धनुष तोड़ेंगे, तब इन्द्र के सहस्र भग सहस्र नेत्रों में परिणत हो जाएँगे।

उग्रसेन—कंस के पिता का नाम उग्रसेन था। यह श्रीकृष्ण के नाना थे। आततायी कंस अपने पिता को कैद में डालकर राजसिंहासन पर बैठा था। श्रीकृष्ण ने कंस को मारकर उग्रसेन को पुनः राजा बनाया और स्वयं उनके द्वारपाल बने।

कनघट—यह ब्राह्मण था और भगवान शिव का अनन्य भक्त था। शिव के अतिरिक्त किसी देवता का नाम तक नहीं सुनना चाहता था। जो कोई विष्णु आदि का नाम उसके आगे ले देता तो वह दूर भाग जाता था। उसने अपने कानों में घंट बाँध रखे थे, जिससे विष्णु आदि का नाम न सुनाई पड़े। जहाँ वह रहता था उस स्थान को काशी में आज भी लोग कणघंटा के नाम से जानते हैं।

कालकूट—देवों और दैत्यों ने मिलकर एक बार अमृत निकालने के लिए समुद्र का मंथन किया। सबसे पहले उसमें से हालाहल निकला। विष की प्रचंड ज्वाला से वे जलने लगे। सबने एक साथ आर्त वाणी से शिव का आवाहन किया। सिवा शिव के किसमें सामर्थ्य था जो उसे पान कर सकता था? उसे वे पी गये। किन्तु तत्काल उन्हें स्मरण आया कि हृदय में तो श्रीराम का निवास है अतः हालाहल को कण्ठ के नीचे नहीं उतरने दिया। विष के प्रभाव से कण्ठ नीला हो गया। तभी से वे 'नीलकण्ठ' कहे जाने लगे।

भक्तवत्सल भगवान् शंकर ने इस प्रकार विष की ज्वाला से जलते हुए देवता तथा दैत्यों की रक्षा की।

कालनेमि—यह बड़ा ही मायावी था। जब लक्ष्मण मेघनाद की शक्ति से आहत हो गये और हनुमान सजीवनी लेने जा रहे थे तब रावण की सलाह से इसने साधु का वेश धारण कर हनुमान के साथ छल किया। किंतु भेद खुल जाने पर हनुमान ने इसे पूंछ में लपेटकर तत्काल यमलोक को भेज दिया।

कालिय—यमुना में कालिय नाम का एक भयंकर नाग रहता था। उसके विष से वहाँ का जल सदा खौलता रहता था। श्रीकृष्ण ने कालिय नाग को नाथकर अपने वश में कर लिया और वह यमुना को छोड़कर समुद्र में जाकर रहने लगा।

कुब्री—यह कंस की दासी थी। यह कुबड़ी थी। जब श्रीकृष्ण मथुरा में राजा कंस के दरबार में जा रहे थे तब यह रास्ते में कंस के लिए चन्दन का लेप लिये हुए मिली। भक्तिवश चन्दन का वह सुंदर लेप श्रीकृष्ण के मस्तक पर लगा दिया। वह कृत-कृत्य हो गई। श्रीकृष्ण ने इसका कूबड़ हटा दिया। गोपियों ने सौतिया डाहवश इसे हजारों कटूक्तियाँ और व्यंग्य सुनाए पर प्रेम पथ पर से वह तनिक भी न डिगी।

गजेन्द्र—एक बार एक सरोवर में एक बड़ा मदोन्मत्त हाथी हथिनियों के साथ जल विहार कर रहा था। इतने में एक मगर ने उसका पैर पकड़ लिया। हाथी ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। तब मगर की पकड़ से निःशक्त और निराश हो उसने श्रीहरि को पुकारा। हरि कहते ही गरुड़ की सवारी छोड़कर भगवान तुरंत उस सरोवर पर पहुंच और चक्रसुदर्शन से गजेन्द्र का फंदा काट दिया। गजेन्द्र मुक्त हो गया। श्रीमद्भागवत में यह सुंदर कथा 'गजेन्द्र-मोक्ष' के नाम से आई है।

गुणनिधि—गुणनिधि नामक एक ब्राह्मण महान चोर था। एक दिन वह एक शिवालय में घंटा चुराने चला। घंटा बहुत ऊंचा बंधा था। वहाँ तक वह न पहुंच सका तो शिवलिंग के ऊपर चढ़कर उसे खोलने लगा। भगवान शिव प्रकट हो गये और प्रसन्न होकर उससे बोले— जो वर तुझे माँगना हो माँग ले। मैं तुझ पर परम प्रसन्न हूँ क्योंकि तूने मुझपर अपना सर्वस्व चढ़ा दिया है। शिव की कृपा से वह कैलास-लोक को चला गया और कैलास पद का अधिकारी हुआ।

जटायु—पौराणिक कथा के अनुसार यह सूर्यनारायण के सारथी अरुण का पुत्र एवं सम्पाति का बड़ा भाई था। इसने रावण द्वारा हरी गई सीता को छुड़ाने के लिए रावण के साथ घोर युद्ध किया और मारा गया। श्रीराम ने अपने पिता के समान जटायु का दाह संस्कार स्वयं अपने हाथ से किया।

जयन्त—देवराज इन्द्र का पुत्र जयन्त एक दिन चित्रकूट में सीताजी के दिव्य सौंदर्य पर मोहित हो गया। कौवे का रूप धरकर उसने उनके स्तन पर चोंच मारी। स्तन से रुधिर बहता देख रघुनाथजी ने उस पर एक सींक का बाण मारा। बाण के भय से बेचारा सारे ब्रह्माण्ड में भागता फिरा, पर कहीं भी उसे त्राण न मिला। लाचार रामचन्द्रजी की शरण में आया। प्रभु ने उसका प्राणान्त न कर एक आँख फोड़कर उसे छोड़ दिया। तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में स्तन के स्थान पर चरणों में चोंच मारना लिखा है, जो भाव की मर्यादा के अनुकूल है।

जलधर—इसका जन्म समुद्र से माना जाता है। बड़ा प्रतापी राजा था यह। इसने सारे देवताओं को अपने अधीन कर लिया था। शिवजी इसे मारने के लिए उद्यत हुए पर जीत न सके, क्योंकि इसकी स्त्री वृन्दा बड़ी पतिव्रता थी। छल पूर्वक विष्णु ने जब इसका सतीत्व नष्ट कर दिया, तब शिव जलधर का वध कर सके। वृन्दा ने इस छल पर विष्णु को शाप दिया, कि 'कालान्तर में मेरा पति रावण का रूप लेकर तुम्हारी पत्नी का हरण करेगा।

जह्नु-कन्या या जाह्नवी—जब महाराजा भगीरथ गंगा को हिमालय से उतारकर अपने रथ के पीछे-पीछे ला रहे थे उस समय मार्ग में ध्यानावस्थित जह्नु ऋषि आसन लगाए बैठे थे। गंगा ने ज्यों ही उनके आश्रम में प्रवेश किया, वह उन्हें चुल्लू में भरकर पी गए। पश्चात् भगीरथ के बहुत अनुनय विनय करने पर ऋषि ने गंगा को जंघा के द्वार से निकाल दिया। तभी से गंगा का नाम जाह्नवी या 'जह्नु-बालिका' पड़ गया।

दक्ष यज्ञ—शिवजी की प्रथम पत्नी सती दक्ष प्रजापति की पुत्री थी। एक बार दक्ष ने एक बड़ा यज्ञ रचा। कुछ वैमनस्य हो जाने के कारण दक्ष ने अपने जामाता शिव को निमंत्रण नहीं दिया। पितृ स्नेहवश बिना बुलाए ही सती यज्ञ देखने चली गई। वहाँ सब देवताओं के बीच में शिव का बलिभाग न देख उन्हें अत्यन्त क्रोध आया और पिता को दुर्वचन कहती हुई वे योगाग्नि में जलकर भस्म हो गई। यह सुनते ही शिवजी ने अपने गणराज वीरभद्र को वहाँ भेजा। वीरभद्र ने दक्ष का संपूर्ण यज्ञ विध्वंस कर दिया। बाद में शिवजी ने प्रसन्न होकर यज्ञ का पुनरुद्धार किया।

त्रिपुर—दनु का पुत्र त्रिपुर बड़ा अत्याचारी दैत्य था। जब उसके अत्याचारों से तीनों लोकों का नाकों दम आ गया, तब प्रार्थना करने पर भगवान शंकर ने उसे एक ही बाण से मार गिराया। तभी से शिवजी को त्रिपुरारि कहा जाने लगा।

द्रौपदी—जब दुर्योधन ने पाण्डवों का सर्वस्व जुए में जीत लिया तब द्रौपदी को भी दाँव पर रखवा लिया। दुःशासन द्रौपदी के केश पकड़कर उसे भरी सभा में ले आया और लगा उसकी सारी खीचने। पाँचों पांडव, द्रोणाचार्य भीष्म आदि सभा चुपचाप बैठे रहे किसी ने भी दुर्योधन के डर के मारे द्रौपदी की मर्यादा बचाने का प्रयत्न नहीं किया। तब वह करुणासिंधु द्वारकानाथ को जोर जोर से पुकारने लगी। भगवत्कृपा से उसकी साड़ी इतनी लम्बी हो गई कि दुःशासन खींचते खींचते थक गया, पर उसका ओर-छोर न पा सका। इस प्रसंग पर अनेक कवियों ने अतिशयोक्ति का प्रयोग कर अनेक पद्य लिखे हैं। ऐसा ही एक कवित्त है—

'पाय अनुसासन दुसासन कै कोप धायो
द्रुपद-सुता को चीर गहे भीर भारी है।
भीषम, करन, द्रोन बैठे व्रतधारी तहाँ,
कामिनी की ओर काहू नेक न निहारी है॥
सुनिकै पुकार धाये द्वारका तें जदुराई
बाढ़त दुकूल खैंचे भुजबल हारी है।
सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है,
कि सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है॥'

ध्रुव—महाराजा उत्तानपाद की दो रानियाँ थीं—एक का नाम था सुनीति और दूसरी का सुरुचि। राजा छोटी रानी सुरुचि को ही अधिक मानते थे। एक दिन सुनीति के पुत्र ध्रुव ने सुरुचि के पुत्र उत्तम के साथ राजा की गोद में बैठना चाहा। इस पर विमाता सुरुचि ने उसे व्यंग्य के साथ डाटकर हटा दिया। बेचारा बालक रोता हुआ अपनी माँ सुनीति के पास गया और उनके उपदेश से कठोर तपस्या कर सर्वोच्च पद का अधिकारी हो गया।

नल—राजा नल जुए में अपना सारा राज्य हार गये और उन्हें वन वन भटकना पड़ा। चित्रकूट में आने पर ही उनकी विपत्ति दूर हुई। बृहद्रामायण में लिखा है—

दमयंतीपतिर्वीरो राज्यं प्राप्य हतानुभं।
मंदाकिनी पुण्यतमा गंगा त्रैलोक्यविश्रुता॥

निषादराज गुह—यह जाति का केवट था। रघुनाथजी इसे सखा या भ्राता के समान मानते थे। लक्ष्मण और सीता के साथ वन जाते समय गंगा पार उतारने के लिए जब गुह से नाव मँगाई तब यह गद्‌गद कंठ से बोला—

मागी नाव, न केवट आना। कहइ, तुम्हार मरम मैं जाना॥
चरन-कमल रज कहुँ सब कहई। मानुष-करनि मूरि कछु अहई॥
छुवत सिला भई नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरनी होइ जाई। बाट परे मोरि नाव उड़ाई॥
जो प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

× × ×

'बरु तीर मारहु लखन पै, जबलगि न पाँव पखारिहौं।
तबलगि न 'तुलसीदास,' नाथ कृपालु पार उतारिहौं॥'

नृग—राजा नृग महान दानी था। यह नित्य एक करोड़ गौवों का दान करता था। एक बार इसने एक ब्राह्मण को एक गाय दान में दी। वह गाय किसी तरह भाग कर फिर राजा की गायों में जा मिली। दूसरे दिन राजा ने उसे न पहचानकर एक दूसरे ब्राह्मण को दान में दे दिया। पहला ब्राह्मण अपनी गाय की खोज में घूम ही रहा था। उसने इस ब्राह्मण के पास गाय देखकर इसे चोर समझा और दोनों में झगड़ा होने लगा। दोनों ही राजा के पास न्याय कराने पहुँचे। राजा ने उन्हें राजी करना चाहा, पर वे राजी न हुए। गाय छोड़कर यह शाप देकर चले गये कि तूने हमें धोखा दिया है। जा, गिरगिट की योनि को प्राप्त हो। राजा गिरगिट हो गया। एक सहस्र वर्ष तक द्वारिकापुरी के एक कुएँ में पड़ा रहा। श्रीकृष्ण ने उसे निकालकर उसका उद्धार कर दिया और वह दिव्य शरीर पाकर बैकुण्ठ चला गया।

पारथ (पाण्डव)—जब दुर्योधन ने जुए में पाण्डवों का सर्वस्व जीत लिया, और उनको नगर से निकाल दिया तब वे बार बार भटकते भटकते चित्रकूट पहुँचे। वहाँ तप साधना कर चित्रकूट के प्रभाव से सुखी हुए। वराहरामायण में लिखा है—

'चित्रकूटे शुभे क्षेत्रे श्रीरामपद भूषिते।
तपश्चचार विधिवद्धर्मराजो युधिष्ठिरः॥'

एक ही स्त्री द्रौपदी के साथ युधिष्ठिर आदि पाँचों पाडवा का सयाग यही उनके पतन का कारण था। इनका उद्धार श्रीकृष्ण ने सख्यप्रेमवश किया। (प० १०६)

पाडवा के हित-साधन के अर्थ भगवान् कृष्ण ने क्या-क्या नही किया! उनके लिए वे दूत बनकर दुर्योधन के पास गये उससे भला-बुरा भी सुना। द्रौपदी की आर्त्त पुकार सुनकर उसकी सहायता की। भारत-युद्ध मे अर्जुन के रथ के स्वय सारथी बने, और अपना प्रतिज्ञा भी तोडी।

पिंगला—पिंगला नाम की एक वेश्या थी। एक दिन जब उसका प्रेमी आधी रात तक न आया, और वह शृङ्गार किए उसकी बाट जोहती रही, तब उस मन में भारी ग्लानि हुई। "जितने समय तक मै इसकी राह देखती रही यदि उतना समय भगवद्भजन में लगाया होता तो मेरा उद्धार ही न हो जाता!" उस दिन से वेश्यावृत्ति छोडकर पिंगला सच्चे हृदय से रामनाम जपने लगी। फलत उसे मोक्ष-लाभ हो गया।

पूतना—यह किसी पूर्वजन्म में अप्सरा थी। भगवान् वामन का सुन्दर रूप देखकर वात्सल्य-स्नेहवश इसके मन मे आया, कि मैं इस बालक को पुत्र मानकर अपने स्तनो का दूध पिलाऊँ। अन्तर्यामी भगवान् उसके मन की भावना जान गये। वही अप्सरा पूतना नाम से किसी घोर पाप के कारण, राक्षसी हुई। श्रीकृष्ण ने मातृ भक्ति भावना से उसे स्वर्ग-धाम भेज दिया।

प्रद्युम्न—श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कामदेव के अवतार थे। कामदेव ने सारे जगत को पाप वासना में लिप्त कर रखा था, तथापि भगवान् ने उसे अपने पुत्र के रूप मे वात्सल्य प्रदान किया।

प्रह्लाद—प्रह्लाद का सत्याग्रह प्रसिद्ध है। पिता हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को राम नाम जपने से रोकता था, पर यह निरतर 'राम राम' ही कहा करते। यह न माने, न माने। अन्त में, उसने इन्हें एक गरम खम्भे से बाँध दिया और तलवार लेकर मारने को तैयार हो गया। भक्तवत्सल भगवान नृसिंह रूप में खम्भा चीरकर निकल पडे और देखते देखते हिरण्यकशिपु को चीर-फाड डाला। प्रह्लाद की गणना महाभागवतो में है। कवित्त रामायण में तुलसीदासजी ने प्रह्लाद पर एक सुन्दर सवैया लिखा है—

> आरत-पाल कृपाल जो राम जुहीं सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।
> नाम प्रताप महामहिमा अकरे किये खोटेउ छोटेउ बाढ़े॥
> सेवक एकतें एक अनेक भये तुलसी तिहुँताप न माढ़े।
> प्रेम बदौं प्रहलादहि को जिन पाहन तें परमेसुर काढ़े॥'

बक (पद १४६)—वाल्मीकीय रामायण में उलूक का प्रसग आया है, बगुले का नहीं। *श्री बदनाथजी ने 'बक' के स्थान पर खग पाठ शुद्ध माना है।* सभव है 'बक' की कथा का उल्लेख किसी अन्य रामायण में हो। वाल्मीकीय रामायण में उलूक और गीध की कथा इस प्रकार लिखी है—एक वन में एक उल्लू और एक गीध दोनो एक ही घर में रहते थे। एक दिन गीध ने, ईर्ष्यावश घर पर अपना अधिकार करना चाहा। उसने उल्लू से कहा— हमारा घर खाली कर दो, इस पर तुम्हारा कोई हक नही। दोनो में झगडा बढ़ गया। अन्त में श्रीरामचन्द्रजी से फैसला कराने के लिए, दोनो **दरबार में**

पहुँचे। रामचन्द्रजी ने उल्लू से पूछा—'घर किसका है? तू उसमें कब से रहता है?' उल्लू ने उत्तर दिया—महाराज, जब से वृक्षों की सृष्टि हुई तब से मैं उसी घर में रहता हूँ। गीध ने कहा कि जब से मनुष्यों की सृष्टि हुई, तभी से मैं उसमें रहता हूँ।' भगवान् ने निर्णय किया कि 'मनुष्यों से वृक्षों की सृष्टि पहले हुई है, अतः वह घर उल्लू का ही हो सकता है, गीध का नहीं।' घर उल्लू को दिला दिया गया।

बलि—जब राजा बलि ने वामन भगवान् को तीन पग पृथ्वी देने का वचन दिया, तब शुक्राचार्य ने विष्णु भगवान् का छल समझकर, बलि को दान देने से बहुत कुछ रोका। परन्तु सत्य-संकल्पवाला राजा बलि अपनी प्रतिज्ञा से पीछे नहीं हटा। उस समय उसने अपने गुरु शुक्राचार्य का भी सत्य की हत्या होने के कारण, परित्याग कर दिया।

भगीरथ-नन्दिनी—सूर्यवंशी महाराजा सगर के साठ हजार पुत्र थे। उन्होंने अज्ञानवश योगेश्वर कपिलदेव पर यह दोषारोपण कर दिया कि उन्होंने हमारे पिता का अश्वमेध का घोड़ा चुरा लिया है, यद्यपि उसे चुराया था मायावी इन्द्र ने। इस पर कपिलदेव ने उन सबको अपनी योग ज्वाला से भस्म कर दिया। उनके उद्धार के लिए उनके पौत्र महाराजा भगीरथ कठोर तपस्या कर शिवजी की जटाओं से गंगा को भूतल पर उतार लाये। इसीलिए गंगा को भागीरथी कहते हैं।

मय—यह था तो दैत्य पर पूरा भगवद्भक्त था। इसकी स्थापत्य कला की प्रशंसा महाभारत, रामायण आदि ग्रंथों में यत्र-तत्र मिलती है। रावण की स्वर्ण लंका का निर्माण इसीने किया था। इसीने महाभारत में वर्णित पाण्डवों के इन्द्रप्रस्थ नगर का निर्माण किया था जिसमें दुर्योधन को जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम हो गया था।

महिषासुर—यह शिवजी के अंश से उत्पन्न हुआ था। बड़ा ही प्रबल और प्रचंड दैत्य था यह। जब इसे देवगण न जीत सके, तब कालिका ने इसका संहार कर पृथ्वी पर शान्ति स्थापित की।

मार्कण्डेय—मार्कण्डेय ऋषि ने कठोर तप करने के पश्चात् भगवान् से प्रार्थना की कि मुझे आप प्रलय का दृश्य दिखा दीजिए। बिना ही कल्पान्त के अन्तर इन्‍होंने भगवान् की प्रलय-लीला देखनी पड़ी। मार्कण्डेय ने उस समय सारे ही ब्रह्माण्ड को जलमय देखा, केवल नारायण शिशुरूप में एक वट-पत्र पर खेलते हुए दृष्टि-गोचर हो रहे थे।

यवन—किसी यवन ने कहते हैं सूअर के आघात से मरते समय 'हराम' कहा था। बिना जाने ही उस शब्द में 'राम' आ जाने के उसकी मुक्ति हो गई।

रक्तबीज—यह एक दैत्य था। इसे शिवजी से यह वर मिला था कि उसका रक्त धरती पर गिरने से उसकी प्रत्येक बूंद से उसीके समान पराक्रमी हजारों राक्षस पैदा हो जायँगे। इस वर के प्रभाव से लोक भयभीत हो गए। अन्त में, देवताओं ने भगवती कालिका से प्रार्थना की। चंडिका ने प्रकट होकर रक्तबीज से युद्ध किया। एक एक बूंद रक्त के गिरने से जब सहस्रों नये राक्षस पैदा होने लगे तब भगवती काली ने अपनी जीभ इतनी लम्बी बढ़ा ली कि उसका सारा रक्त भूमि पर गिरने से पहले ही जीभ से चाट लिया। इस तरह नये-नये राक्षसों की उत्पत्ति रोककर उन्होंने रक्तबीज का वध किया।

राहु—जब समुद्र मंथन से अमृत निकला, तब देव और दैत्य उसे पाने के लिए

आपस में लडने लगे। विष्णु भगवान् ने मोहिनी रूप धारण कर अमृत का घडा अपने हाथ में ले लिया। राक्षस उनके अलौकिक रूप पर मोहित हो गये। एक ओर देवता और दूसरी ओर दैत्य पंक्तियों में बिठा दिये गये। अमृत का वितरण देवताओं की पंक्ति से आरम्भ किया गया। राहु नामक एक दैत्य विष्णु का कपट समझ गया और वह सूर्य और चन्द्रमा के बीच में आ बैठा। धोखे से मोहिनी ने उसे भी अमृत पिला दिया। पर सूर्य चन्द्र के इशारे से कि यह दैत्य है, भगवान ने अपने चक्र से उसका मस्तक उडा दिया। मुण्ड का बन गया राहु, और रुण्ड का केतु। कहते हैं उसी पुराने वैर से, राहु, ग्रहण के समय चन्द्र और सूर्य को दुःख दिया करता है।

लवणासुर—यह मथुरा का राजा था। अपने घोर अत्याचारों से इसने गो ब्राह्मणों को जब बहुत कष्ट दिया तब श्रीराम की आज्ञा से शत्रुघ्न ने जाकर इसे अपने अतुल पराक्रम से मार डाला।

बाणासुर—यह राजा बलि का पुत्र था। इसके एक हजार हाथ थे। यह परम-शैव था। इसकी पुत्री उषा, श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध को मनोहारी रूप स्वप्न में देखकर, उन पर मोहित हो गई। अपनी सखी चित्रलेखा के चित्रों द्वारा अनिरुद्ध कुमार का पता लगाकर चुपके से उन्हें अपने अन्तःपुर में बुला लिया। जब यह बात बाणासुर को मालूम हुई तो उसने अनिरुद्ध को कैद में डाल दिया। श्रीकृष्ण के साथ युद्ध होने पर कटते कटते जब इसके केवल चार हाथ रह गये, तब यह भगवद्भक्त हो गया। तत्पश्चात इसने अनिरुद्ध के साथ उषा का विवाह कर दिया।

वामन—दानवीर राजा बलि से तीन पग भूमि के बदले त्रिलोक लेने के लिए विष्णु भगवान् ने वामन अवतार धारण किया था। उन्होंने पृथ्वी का साम्राज्य देवताओं को दिया, क्योंकि वे बेचारे बलि के आगे तेजहीन हो गये थे। साथ ही बलि को वामन भगवान् ने निर्द्वन्द्व कर अपना परमभक्त बना लिया। उसका दानाभिमान भी चूर चूर हो गया। एक कार्य के करने में कई कार्य सध गये।

वाल्मीकि—पहले इनका नाम रत्नाकर था। ब्राह्मण होकर भी यह व्याध का काम करते थे। जंगल में पशुओं का शिकार करने के साथ ही उस मार्ग से जानेवाले को भी लूट लिया करते थे। एक दिन दैववश देवर्षि नारद उधर से आ निकले। उनको भी लूटना चाहा, पर बाद में उनके उपदेश से जीवहिंसा छोड़कर रत्नाकर भगवद्भजन करने लगे। अभ्यास न होने से सीधा 'राम राम' तो जपते बना नहीं, उलटा 'मरा मरा' जपते रहे। किन्तु इसी के प्रताप से वे ब्रह्मर्षि हो गये। कहा भी है—

'उलटा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भे ब्रह्म-समाना॥'

विदुर—यह दासी-पुत्र थे, पर भगवद्भक्त होने के कारण सबमान्य समझे गये। श्रीकृष्ण भगवान् जब हस्तिनापुर गये, तब दुर्योधन के घर पर न जाकर विदुर के ही अतिथि हुए। विदुर उस समय घर पर नहीं थे, वहाँ उनकी स्त्री थी। वह प्रेम में इतनी बेसुध हो गई कि भगवान् को जब खिलाने बैठी तो केला छील-छीलकर गूदे गिराती गई और छिलके उनके हाथ में देती गई। भगवान् ने उन छिलकों को बड़े प्रेम से खाया। भगवान् ने विदुर के कुल शील पर ध्यान न देकर उनकी भक्ति भावना को ही प्रधानता दी।

को देख हनुमान् उन्हें भी खाने को दौड़। इतने में इन्द्र ने उनकी हनु अर्थात् ठोड़ी पर ऐसे ज़ोर से वज्र मारा कि वह मूर्च्छित हो गए। वज्र भी टूट गया। इसी कारण हनुमान् नाम पड़ गया।

(२) एक बार शिवजी ने श्रीराम से कहा मैं आपकी दास्य भाव से सेवा करना चाहता हूँ मुझे यह वर दीजिए। रघुनाथजी ने वर दे दिया। कालान्तर में हनुमान् के रूप में शिवजी ने श्री रामचन्द्र की दास्यभक्ति प्राप्त की। इसीलिए हनुमान् को ग्यारहवाँ रुद्र माना गया है।

(३) हनुमान् ने सूर्यनारायण से विद्या प्राप्त की थी। दक्षिणा रूप में सूर्य ने हनुमान् से यह वर माँग लिया था कि तुम सदा मेरे पुत्र सुग्रीव की रक्षा करना। जब तक सुग्रीव को राज्य नहीं मिला वह बराबर उसकी रक्षा करते रहे।

(४) भीम और हनुमान् के सम्बन्ध की महाभारत में दो कथाएं मिलती हैं— वनवास काल में एक दिन भीमसेन को मार्ग में एक महान वानर आड़ा लेटा हुआ मिला। भीमसेन की गर्जना से वानर ने आँखें खोलीं। भीमसेन ने उससे कहा— भाई रास्ते से हट जाओ। वानर का उत्तर था— मैं वृद्ध हूँ, उठने-बैठने में कष्ट होता है तुम्हीं मेरी पूंछ हटाकर क्यों नहीं चले जाते? भीमसेन ने अपनी सारी शक्ति लगाकर पूंछ उठाई पर वह टस से मस न हुई। यह जानने पर कि वह वानर साक्षात हनुमान हैं भीमसेन ने उसे साष्टांग प्रणाम किया।

एक बार भीमसेन ने हनुमान से कहा— मुझे आप अपना वह रूप दिखाइए जो राम रावण युद्ध में धारण किया था। हनुमान ने कहा— मेरा वह रूप बड़ा ही विकराल है। तुम देखते ही डर जाओगे। भीमसेन ने जब बहुत आग्रह किया तब हनुमान् प्रचण्ड रूप में देखते देखते प्रकट हो गये। भीमसेन की आँखें बंद हो गई देह थर थर काँपने लगी। हाथ जोड़कर वे हनुमान् के चरणों पर गिर पड़े।

(५) महाभारत के युद्ध में अर्जुन कर्ण के रथ पर बाण चलाते तो उनका रथ कोसों दूर हट जाता और कर्ण के बाण से अर्जुन का रथ ज़रा-सा ही खिसकता। यह देख अर्जुन को अपने बल-पराक्रम पर बड़ा गर्व हुआ। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण इस रहस्य को समझ गये। श्रीकृष्ण ने हनुमान् से रथ की ध्वजा पर से हट जाने को कहा। हनुमान् हट गए। अब कर्ण के बाण से अर्जुन का रथ बहुत दूर जा गिरा। अर्जुन ने घबराकर पूछा— यह हुआ क्या?' श्रीकृष्ण ने कहा— तुम्हारा बल ही कितना है! यह सारा पराक्रम तो हनुमान् का था। इस समय वे तुम्हारे रथ की ध्वजा पर नहीं हैं। यदि वे भी यहाँ से हट जाते तो न जाने तुम्हारा रथ कहाँ गिरता!' अर्जुन लज्जा से पानी-पानी हो गया।

(६) एक बार भगवान् विष्णु ने गरुड को हनुमान् को बुला लाने की आज्ञा दी। हनुमान् ने गरुड से कहा—'आप चलिए। मैं पीछे आ रहा हूँ। आपसे पहले ही पहुँच जाऊंगा।' गरुड को अपनी वायु-गति का बड़ा गर्व था। उड़ते हुए भगवान् के पास पहुँचे तो देखते क्या हैं, कि हनुमान् तो वहाँ पहले से ही बैठे हैं। गरुड का सारा गर्व चूर चूर हो गया। यह कथा 'स्कन्द पुराण' में है।

(७) हनुमान् ने सूय भगवान से विद्याए पढी थी । वेदों और शास्त्रा पर भाष्य, पिंगल पर टीका, काव्यों पर टिप्पणियाँ तथा वेदाङ्गा पर भी कई ग्रथ उन्होने रचे थे। हनुमन्नाटक हनुमत् ज्योतिष आदि कुछ ग्रथ आज भी प्राप्य हैं। कहते ह, चित्रकाय के आदि आविष्कर्त्ता भी हनुमान ही थे।



पद-सूची